आचार्य अमृतचन्द्र सूरि कृत समयसार टीका का दार्शनिक अनुशीलन

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
की
डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निर्देशक
डॉ० उमेश चन्द्र दुबे
रीडर, दर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

अनुसन्धाता
नागेन्द्र मिश्र

दर्शन विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-२२१००५

सन् १९८८

पंजीयन संख्या १७८४१६

२५

३५४८

विद्ययाऽमृतमश्नुते
काशी विश्वविद्यालय BANARAS HINDU UNIVERSITY

आचार्य अमृतचन्द्र सूरि कृत समयसार टीका का दार्शनिक अनुशीलन

Professor & Head
Department of Philosophy
Banaras Hindu University.

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
की
डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी उपाधि हेतु प्रस्तुत
शोध-प्रबन्ध

निर्देशक
डॉ० उमेश चन्द्र दुबे
रीडर, दर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

अनुसन्धाता
नागेन्द्र मिश्र

दर्शन विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-२२१००५

सन् १९८९

पंजीयन संख्या १७८४१६

आचार्य अमृतचन्द्र सूरि कृत समयसार टीका का दार्शनिक अनुशीलन

अग्रसारित
उमेश चन्द्र दुबे
१-१२-८८

Professor & Head
Department of Philosophy
Banaras Hindu University.

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
की
डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निर्देशक
डॉ० उमेश चन्द्र दुबे
रीडर, दर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

READER
Department of Philosophy
Banaras Hindu University

अनुसन्धाता
नागेन्द्र मिश्र

दर्शन विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-२२१००५

सन् १९८८

पंजीयन संख्या १७८४१६

DEPARTMENT OF PHILOSOPHY
BANARAS HINDU UNIVERSITY
VARANASI

DATED: 1. 12. 1988

This is to certify that SRI NAGENDRA MISHRA has completed his research work for the full period prescribed under clause 3.1 of the ordinance governing the award of DEGREE of DOCTOR OF PHILOSOPHY and that the thesis entitled "आचार्य अमृतचन्द्र सूरि कृत समयसार टीका का दार्शनिक अनुशीलन" embodies the results of his investigation conducted during the period he worked as a Ph.D. research scholar in the Department of Philosophy.

UCDubey
(Dr. U.C. DUBEY)
SUPERVISOR.
READER
Department of Philosophy
Banaras Hindu University

FORWARDED

RNS
Professor & Head
Department of Philosophy
Banaras Hindu University.

प्राक्कथन

प्राक्कथन

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में आचार्य कुन्दकुन्दकृत समयसार पर आचार्य अमृतचन्द्रसूरि द्वारा की गई संस्कृत टीका - आत्मख्याति का दार्शनिक अनुशीलन किया गया है । जैन परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा बोए गये अध्यात्म एवं दर्शन के बीज को पल्लवित एवं पुष्पित करने का श्रेय आचार्य अमृतचन्द्र सूरि को ही है। समयसार जैन दर्शन वाङ्.मय में आत्मज्ञान का एक अगाध सागर है, जिसके तट को खोज शब्द पाठ से भले ही सम्भव हो, लेकिन इसके आध्यात्मिक भावों को गहराई को स्पर्श कर पाना एक दुष्कर कार्य है । जैन परम्परा में अकेले अमृतचन्द्र सूरि ही ऐसे आचार्य हुए हैं, जिन्होंने समयसार रूपी ज्ञान के अगाध सागर के अन्तस्तल से उसके आध्यात्मिक एवं दार्शनिक तथ्यों को सरल एवं सुगम रूप में सामान्य जन के समक्ष प्रस्तुत किया है। इनकी इस प्रस्तुति ने मात्र जैन दर्शन के वाङ्.मय को ही नहीं अपितु समस्त भारतीय दर्शन वाङ्.मय को एक नया आयाम दिया है ।

इस समय सम्पूर्ण भारतवर्ष में जैन समाज आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दि समारोह को बड़ी धूमधाम से मना रहा है, अतः इस अवसर पर आचार्य कुन्दकुन्द के प्रशस्त टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्रसूरि द्वारा उनके समयसार पर की गई आत्मख्याति टीका का यह दार्शनिक अनुशीलन मेरा एक विनम्र प्रयास है ।

समयसार में जीव-अजीव, कर्तृकर्माधिकार, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष एवं सर्वविशुद्धज्ञान का विवेचन क्रमिक एवं स्वतन्त्र अधिकार के रूप में हुआ है । आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने अपनी समयसार की आत्मख्याति नामक टीका में जीवाजीवाधिकार को पूर्वरङ्.ग तथा उत्तररङ्.ग में विभाजित किया है, तथा मूल कृति समयसार में वर्णित विषय-वस्तु के अतिरिक्त अपने टीका ग्रन्थ की अनुक्रमणिका में स्याद्वाद तथा साध्य-साधक नामक स्वतन्त्र अधिकारों को जोड़ा है ।

समयसार तथा इसकी टीका आत्मख्याति में वर्णित विषय-वस्तु के क्रम को ध्यान में रखकर प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को सात अध्यायों में विभक्त किया गया है--

प्रथम अध्याय प्रस्तावना स्वरूप है, जो दो भागों में विभक्त है - प्रथम-भाग में मुख्य रूप से मूल कृति समयसार तथा इसकी आत्मख्याति और तात्पर्यवृत्ति नामक दोनों टीकाओं की विषय-वस्तु का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ शोध-विषय से सम्बन्धित आत्मख्याति के दार्शनिक महत्व को भी प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है। प्रस्तावना के द्वितीय भाग में आचार्य अमृतचन्द्रसूरि के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का विशद् परिचय प्रस्तुत किया गया है। साथ ही जैन-परम्परा में आचार्य अमृतचन्द्रसूरि का क्या स्थान है, इसका भी निरूपण करने का प्रयास किया है ।

शोध-प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में आत्मा का विवेचन है। इसमें आत्मख्याति सम्मत् आत्म-विचारों को कर्तृत्व, भोक्तृत्व, बन्ध तथा मोक्ष के परिप्रेक्ष्य में प्रतिपादित किया है। अन्त में जैन आत्मवाद में आत्मख्याति टीका सम्मत् आत्मा सम्बन्धी विचारों के योगदान का उल्लेख किया है ।

तृतीय अध्याय में पुण्य-पाप का विवेचन है, इससे यह स्पष्ट किया गया है कि पुण्य तथा पाप - दोनों ही प्रकार के कर्मों से क्रमशः पुण्य बन्ध एवं पाप - बन्ध ही होता है ।

चतुर्थ अध्याय में आस्रव, संवर तथा निर्जरा का विवेचन किया गया है। यहाँ इन सभी तत्वों के सामान्य विवेचन के अतिरिक्त इनके प्रतिपादन का जो वैशिष्ट्य आत्मख्याति में है, उसका भी प्रतिपादन किया है ।

पंचम अध्याय में बन्ध एवं मोक्ष का विवेचन है। इसमें बन्ध एवं मोक्ष से सम्बन्धित आत्मख्याति के साथ-साथ अन्य भारतीय दर्शनों से सम्बन्धित विचारों का उल्लेख किया गया है। अन्त में आत्मख्याति टीका सम्मत बन्ध एवं मोक्ष सम्बन्धी विचारों का विभिन्न भारतीय दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ।

षष्ठ अध्याय में स्याद्वाद के स्वरूप का प्रतिपादन है । इसमें स्याद्वाद का सामान्य परिचय प्रस्तुत करते हुए अमृतचन्द्र से पूर्व स्याद्वाद की स्थिति एवं

विकास का संक्षिप्त उल्लेख किया है ।

सप्तम अध्याय उपसंहार स्वरूप है। इसमें समयसार के प्रतिपाद्य मुख्य तत्त्वों का क्रमिक रूप से विवरण प्रस्तुत करते हुए इसके आत्मा सम्बन्धी विचारों की तुलना विविध भारतीय दर्शनों के साथ की गई है ।

अन्त में प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में उपयोगी ग्रन्थों की सूची प्रस्तुत की गई है।

इस शोध-प्रबन्ध के समापन के अवसर पर मैं सर्वप्रथम अपने निर्देशक परम पूज्य गुरुवर्य डा० उमेशचन्द्र दुबे का चिरऋणी हूँ, जिनके कुशल निर्देशन एवं पथ-प्रदर्शन के परिणाम स्वरूप मेरा यह शोधकार्य सम्पन्न हुआ है। उनके द्वारा प्रदत्त आद्योपान्त सहयोग एवं विविध प्रकार के उपकार को शब्दों के माध्यम से व्यक्त करना सम्भव नहीं है। अतः मैं उन्हें पुनः पुनः विनम्र प्रणाम करता हूँ ।

भारतीय दर्शन विशेषकर जैन दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् डा० दरबारी लाल कोठिया {भूतपूर्व रीडर, जैन दर्शन विभाग, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय, का. हि. वि. वि., वाराणसी}, डा० सागरमल जैन {निर्देशक, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी}, प्रो० उदयचन्द्र जैन {भूतपूर्व रीडर, जैन दर्शन विभाग, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय, का. हि. वि. वि., वाराणसी}, प्रो०{डा०} राजाराम जैन {प्रोफेसर, एच०डी० जैन कालेज, आरा}, डा० कमलेश कुमार जैन {प्रवक्ता, जैन दर्शन विभाग, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय, का.हि. वि. वि., वाराणसी} डा० नरेन्द्र कुमार जैन {व्याख्याता, गवर्मेन्ट कालेज, जखनी}, डा० फूलचन्द्र प्रेमी {विभागाध्यक्ष, जैन दर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी}, डा० सुरेश चन्द्र जैन {प्रवक्ता, स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी} ने मुझे समय-समय पर अपने अमूल्य सुझावों से लाभान्वित किया है। अतएव इन विद्वानों के प्रति मैं हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ ।

मैं दर्शन विभाग के अध्यक्ष प्रो० एल०एन० शर्मा, वरिष्ठ विद्वान् डा० रेवती रमण पाण्डेय तथा विभाग के अन्य विद्वानों द्वारा प्राप्त सहयोग के लिए आभार व्यक्त करता हूँ। इसके साथ-साथ विभागीय लिपिक श्री सुरेन्द्र नाथ मिश्र एवं पुस्तकालय से सम्बद्ध लोगों के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को तैयार करने की अवधि में श्री गणेश वर्णी दिगम्बर-जैन शोध संस्थान के पुस्तकालय से पर्याप्त सहायता मिली है। इसके साथ-ही-साथ मुझे संस्थान से शोध-प्रबन्ध के टंकण हेतु वित्तीय सहायता भी प्राप्त हुई है। अतएव मैं उक्त संस्थान एवं उससे सम्बद्ध समस्त अधिकारियों के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूँ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के समापन के अवसर पर मैं अपने पूज्य पितामह स्वतंत्रता सेनानी स्व0 पं0 बृजनन्दन मिश्र शास्त्री, काव्यतीर्थ का हृदय से स्मरण करता हूँ, जिन्होंने मुझे इस कार्य के योग्य बनाया। तत्पश्चात् पूज्य पिता जी एवं आदरणीया माता जी के प्रति भी हृदय से कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। इसके साथ-ही-साथ अनुजद्वय नरेन्द्र कुमार मिश्र एवं अशोक कुमार मिश्र तथा प्रिय हीरालाल का स्मरण करना अपना कर्तव्य समझता हूँ, जिनसे मुझे इस शोधकार्य को पूर्ण करने में सदैव प्रेरणा मिलती रही है।

मैं अपने अभिन्न मित्र श्री पन्नालाल जैन [शोध-छात्र] को भी धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने जैन परम्परा की दुर्लभ पुस्तकों को सुलभ कराने का प्रयास किया है। तदुपरान्त सर्वश्री डॉ0 श्रीप्रकाश पाण्डेय, कु0 व्यंजना, योगेश कुमार सिंह, सत्येन्द्र कुमार ओझा, गोपाल जी पाण्डेय, कमल नारायण सिंह, सुरेन्द्र सिंह, शिवाभूषण, श्यामकृष्ण, सुनील, मोहन एवं रणविजय आदि सभी मित्रों के प्रति उनके द्वारा दिये गये निरन्तर प्रेम एवं उत्साह के लिए धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

अन्त में, मैं प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के टंकक श्री देवेन्द्र कुमार सिंह को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने अल्प समय में कुशलतापूर्वक टंकण कार्य सम्पन्न किया है।

अस्तु.....।

नागेन्द्र मिश्र

काशी
कार्तिक पूर्णिमा, संवत् 2045.
23 नवम्बर, 1988.

[नागेन्द्र मिश्र]

विषय-सूची

विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या

प्रथम अध्याय   प्रस्तावना   1 - 85

प्रथम भाग - ग्रन्थ परिचय एवं अन्य टीकाएँ {1-39}

जैन धर्म का सामान्य परिचय {1}; जैन साहित्य और उसमें समयसार का स्थान {7}; समयसार की महत्त्वपूर्ण टीकाएँ {18} ; आत्मख्याति, तात्पर्यवृत्ति {19} ; समयसार की टीका आत्मख्याति का दार्शनिक महत्व{36}।

द्वितीय भाग - लेखक परिचय - व्यक्तित्व व कर्तृत्व{40-85}

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि : व्यक्तित्व परिचय {40} ; आचार्य अमृतचन्द्रसूरि का जीवन वृत्त {45} ; आचार्य अमृतचन्द्रसूरि की कृतियों का परिचय {51} ; आचार्य अमृतचन्द्रसूरि की कृतियों का समालोचनात्मक अध्ययन {77}; जैन परम्परा में आचार्य अमृतचन्द्रसूरि का स्थान {81} ।

द्वितीय अध्याय   आत्मतत्त्व विवेचन   86 - 117

भारतीय दर्शन में आत्मा {86}; जैन दर्शन में आत्मा का स्वरूप {95} ; समयसार की टीका आत्मख्याति का आत्मतत्त्व विवेचन {98} ; कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व के परिप्रेक्ष्य में आत्मा {102} ; बन्ध तथा मोक्ष के परिप्रेक्ष्य में आत्मा {105} ; जैन आत्म-चिन्तन में आत्मख्याति का योगदान {110}।

तृतीय अध्याय   पुण्य-पाप का स्वरूप   118 - 134

पुण्य-पाप की धारणा का कतिपय धार्मिक चिन्तनों के सन्दर्भ में अर्थ {118} ; जैन परम्परा में पुण्य तथा पाप {122} ; अमृतचन्द्राचार्य एवं

पृष्ठ-संख्या

इनकी टीका-ग्रन्थ "आत्मख्याति" सम्मत पुण्य-पाप का स्वरूप (125) ; बन्ध एवं मोक्ष की अपेक्षा से पुण्य-पाप का विवेचन (128) ; पुण्य-पाप का नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यांकन (132) ।

चतुर्थ अध्याय आस्रव, संवर एवं निर्जरा की अवधारणा 135 - 162

आस्रवः सामान्य परिचय (135) ; अमृतचन्द्राचार्य सम्मत समयसार की टीका "आत्मख्याति" का आस्रव विवेचन (137) ; आस्रव के कारण (138) ; आस्रव बन्ध का मूल कारण (145) ; संवर : सामान्य परिचय (146); आचार्य अमृतचन्द्रकृत समयसार की टीका "आत्मख्याति" का संवर विवेचन (147); संवर हेतु उपाय (149) ; निर्जरा की अवधारणा एवं इसके उपाय (155) ; संवर एवं निर्जरा मोक्ष मार्ग का साधक (158) ; आचार्य अमृतचन्द्र के आस्रव, संवर तथा निर्जरा विवेचन की विशिष्टता (161) ।

पंचम अध्याय बन्ध एवं मोक्ष 163 - 201

बन्धः एक सामान्य परिचय (163) ; जैन दर्शन में कर्म-बन्ध के कारण (167) ; समयसार की टीका "आत्मख्याति" में बन्ध विवेचन (172) ; मोक्ष की अवधारणा एवं भारतीय दर्शन में इसका स्वरूप (174) ; जैन दर्शन में मोक्ष एवं इसका स्वरूप (181) ; आत्मख्याति सम्मत मोक्ष विचार (183) ; -मोक्ष मार्ग (185), सम्यग्दर्शन (186), सम्यग्ज्ञान (187) तथा सम्यक्चारित्र (189); बन्ध व मोक्ष का विषय (191) ; समयसार की टीका आत्मख्याति तथा कुछ भारतीय दर्शनों की मोक्ष विषयक अवधारणा का तुलनात्मक विवेचन (194)।

षष्ठ अध्याय स्याद्वाद का स्वरूप 202 - 229

भूमिका (202) ; स्याद्वादः एक सामान्य परिचय (202) ; समयसार में स्याद्वाद के बीज (212) ; अमृतचन्द्र का अलग से स्याद्वाद विवेचन,

पृष्ठ-संख्या

कारण एवं औचित्य {215} ; अमृतचन्द्र से पूर्व स्याद्वाद की स्थिति एवं विकास {216} ; अमृतचन्द्र की दृष्टि में स्याद्वाद का विस्तृत स्वरूप {221} ; अमृतचन्द्र के स्याद्वाद विवेचन की विशिष्टता {228} ।

सप्तम अध्याय मूल्यांकन एवं उपसंहार 230 - 241

परिशिष्ट सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची 242 - 260

प्रथम अध्याय

प्रस्तावना

प्रस्तावना

प्रथम भाग : ग्रन्थ-परिचय एवं अन्य टीकाएँ

जैन धर्म का सामान्य परिचय

भारतीय दार्शनिक विधाओं के ऐतिहासिक सर्वेक्षण से उनके उद्भव के पूर्वापर का एक निष्कर्षपूर्ण अध्ययन विवादास्पद ही नहीं, अपितु असम्भव भी प्रतीत होता है; फिर भी जैन परम्परा के चौबीसवें तथा अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के तिथि निर्धारण [ई०पूर्व छठीं शताब्दी] से एक तथ्य निश्चित रूप से स्पष्ट होता है कि इनके समय में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचे जैन धर्म की जड़ें अपने पूर्व के तेईस तीर्थंकरों के रूप में काफी गहरी हैं। जैन धर्म वस्तुतः जिन द्वारा व्यक्त किया हुआ धर्म माना जाता है। "जिन" का तात्पर्य है - विजेता, अर्थात् अपने निम्नकोटि के स्वभाव पर विजय पा लेना या जितेन्द्रिय या आत्म-साक्षात्कार कर लेना। इन अर्थों में महावीर के पूर्व के तेईस तीर्थंकर भी "जिन" कहे जाते हैं। प्रथम तीर्थंकर ऋषभ देव हैं, जो जैन धर्म के आद्य प्रवर्तक हैं। इनके पश्चात् अजित, संभव, अभिनंदन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदंत या सुविधि, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुन्थु, अरह, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि या अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ तथा महावीर का प्रादुर्भाव जैन तीर्थंकर के रूप में हुआ। जैन धर्म के इन तीर्थंकरों ने काल-क्रम के अनुसार अपनी आध्यात्मिक व तपश्चर्यात्मक अनुभव से इस धर्म को सम्पन्न बनाया।

जैन धर्म के आद्य प्रवर्तक ऋषभ देव थे। इस सम्बन्ध में स्व० पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री लिखते हैं कि सब जैन सम्प्रदाय तथा जैन शास्त्र इस विषय में एक मत हैं कि जैन धर्म के आद्य प्रवर्तक भगवान् ऋषभदेव तथा अन्तिम प्रवर्तक भगवान्

महावीर थे ।[1] ऋषभदेव की माता का नाम मेरुदेवी तथा पिता का नाम नाभि था। इनकी दो पत्नियाँ "यशस्वती" तथा "सुनन्दा" थी जो कच्छ तथा महाकच्छ की बहनें थीं । यशस्वती को सौ पुत्र तथा एक ब्राह्मी नाम की कन्या तथा सुनन्दा को बाहुबलि नामक एक पुत्र तथा सुन्दरी नाम की एक कन्या थी । इनमें सर्वज्येष्ठ पुत्र का नाम भरत था जो यशस्वती के गर्भ से उत्पन्न हुआ था।[2]

जैन इतिहासज्ञ[3] वैदिक साहित्य में ऋषभ[4] तथा नेमि[5] आदि शब्दोल्लेख के आधार पर उनको क्रमशः तीर्थंकर ऋषभदेव तथा नेमि का सूचक मानते हैं। पौराणिक साहित्य में यद्यपि यह बहुत बाद की कृति है, तथापि यहाँ वर्णन की दृष्टि से ऋषभदेव की चर्चा एक राजा के रूप में होती है। भागवत् में ऋषभदेव का वर्णन मिलता है, जिनके माता का नाम मेरु देवी तथा पिता का नाम नाभि था। इनके सौ पुत्र थे, जिनमें सबसे बड़े का नाम भरत था। उसी के नाम से यह देश भारतवर्ष कहलाया।[6] कूर्मपुराण के अनुसार ऋषभदेव के सौ पुत्रों में ज्येष्ठ भरत था। ऋषभदेव अपने बड़े बेटे भरत को राज्याभिषिक्त करने के पश्चात् वानप्रस्थाश्रम में जाकर यथाविधि तप करने लगे, तपस्या से अत्यन्त क्षीण होने के पश्चात् वे ज्ञान-योग-परायण होकर महापाशुपत हो गये ।[7]

1- पं0 कैलाशचन्द्र शास्त्री : भगवान् ऋषभदेव, प्राक्कथन, पृ0 1.

2- वही, पृ0 45-53.

3- डॉ0 नेमिचन्द्र शास्त्री : तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग प्रथम, पृ0 9-13.

4- ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहितम् ।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपितं गवाम् ॥
-आश्वलायन गृह्य [ऋग्वेद, 10/166/1] सूत्र, 2/6/13, बृ0दे0, 8/69.

5- वाजस्य नु प्रसव आबभूवे मा च विश्वा भुवनानि सर्वतः
स नेमि राजा परियाति विद्वान् प्रजापुष्टिं वर्धमानो अस्मै स्वाहा।
-यजुर्वेद, अ0 9, मंत्र 25.

6- भागवत्, 5/4/6-10.

7- कूर्मपुराण, पूर्व विभाग, अध्याय 38, श्लोक 35-36.

पौराणिक साहित्य में वर्णित ऋषभदेव तथा जैन-धर्म के आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव से सम्बन्धित तथ्यों में बहुत कुछ समानता स्पष्ट होती है। अतएव यह कहा जा सकता है कि पुराणों में वर्णित ऋषभदेव ही जैन-धर्म के भी आद्य प्रवर्तक हैं । डॉ० राधाकृष्णन जैन दर्शन तथा ऋषभदेव के सम्बन्ध में लिखते हैं - "जैन परम्परा के अनुसार जैन दर्शन का उद्भव ऋषभदेव से हुआ, जिन्होंने कई शताब्दी पूर्व जन्म धारण किया था। इस प्रकार की पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध हैं, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि ईसा से एक शताब्दी पूर्व भी ऐसे लोग थे जो ऋषभदेव की पूजा करते थे । इसमें कोई सन्देह नहीं कि वर्धमान एवं पार्श्वनाथ से पूर्व भी जैन मत प्रचलित था। यजुर्वेद में तीन तीर्थंकरों के नामों का उल्लेख है - ऋषभदेव, अजितनाथ तथा अरिष्टनेमि । भागवत् पुराण इस बात का समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैन मत के संस्थापक थे । इन सबमें जो कुछ भी ऐतिहासिक तथ्य का अंश हो किन्तु जैनी लोगों का विश्वास है कि उनके मत का प्रचार बहुत पूर्व अनेक युगों से महान् तीर्थंकरों की परम्परा में किसी न किसी तीर्थंकर द्वारा किया जाता रहा है ।"[1]

पहले विद्वानों के बीच ऐसी धारणा थी कि जैन-धर्म, बौद्ध-धर्म की एक शाखा मात्र है, लेकिन अब इस भ्रान्ति का पूर्ण निराकरण हो चुका है और पूर्णतया स्पष्ट हो चुका है कि जैन-धर्म न केवल बौद्ध-धर्म से भिन्न एक स्वतंत्र धर्म है, अपितु यह बौद्ध-धर्म की अपेक्षा प्राचीन भी है। यद्यपि बौद्ध साहित्य में महावीर की चर्चा उपलब्ध होती है, किन्तु इस परम्परा में पूर्व के तेईस तीर्थंकरों का भी प्रादुर्भाव हुआ है, जिसका कोई उल्लेख नहीं मिलता है । उन सबके दिव्य अनुभव से यह धर्म समृद्धशाली हुआ है ।

प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में जैनों के लिए सामान्यतया निर्ग्रन्थ (बन्धन-मुक्त) शब्द मिलता है और पालि बौद्ध ग्रन्थों में निगण्ठ शब्द।[2] पं० कैलाशचन्द्र-

---

[1]- राधाकृष्णन् : भारतीय दर्शन, भाग-1, पृ० 233.

[2]- एस० गोपालन : जैन दर्शन की रूपरेखा, पृ० 5.

पौराणिक साहित्य में वर्णित ऋषभदेव तथा जैन-धर्म के आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव से सम्बन्धित तथ्यों में बहुत कुछ समानता स्पष्ट होती है। अतएव यह कहा जा सकता है कि पुराणों में वर्णित ऋषभदेव ही जैन-धर्म के भी आद्य प्रवर्तक हैं। डॉ० राधाकृष्णन जैन दर्शन तथा ऋषभदेव के सम्बन्ध में लिखते हैं - "जैन परम्परा के अनुसार जैन दर्शन का उद्भव ऋषभदेव से हुआ, जिन्होंने कई शताब्दी पूर्व जन्म धारण किया था। इस प्रकार की पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि ईसा से एक शताब्दी पूर्व भी ऐसे लोग थे जो ऋषभदेव की पूजा करते थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वर्धमान एवं पार्श्वनाथ से पूर्व भी जैन मत प्रचलित था। यजुर्वेद में तीन तीर्थंकरों के नामों का उल्लेख है - ऋषभदेव, अजितनाथ तथा अरिष्टनेमि। भागवत् पुराण इस बात का समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैन मत के संस्थापक थे। इन सबमें जो कुछ भी ऐतिहासिक तथ्य का अंश हो किन्तु जैनी लोगों का विश्वास है कि उनके मत का प्रचार बहुत पूर्व अनेक युगों से महान् तीर्थंकरों की परम्परा में किसी न किसी तीर्थंकर द्वारा किया जाता रहा है।"[1]

पहले विद्वानों के बीच ऐसी धारणा थी कि जैन-धर्म, बौद्ध-धर्म की एक शाखा मात्र है, लेकिन अब इस भ्रान्ति का पूर्ण निराकरण हो चुका है और पूर्णतया स्पष्ट हो चुका है कि जैन-धर्म न केवल बौद्ध-धर्म से भिन्न एक स्वतंत्र धर्म है, अपितु यह बौद्ध-धर्म की अपेक्षा प्राचीन भी है। यद्यपि बौद्ध साहित्य में महावीर की चर्चा उपलब्ध होती है, किन्तु इस परम्परा में पूर्व के तेईस तीर्थंकरों का भी प्रादुर्भाव हुआ है, जिसका कोई उल्लेख नहीं मिलता है। उन सबके दिव्य अनुभव से यह धर्म समृद्धशाली हुआ है।

प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में जैनों के लिए सामान्यतया निर्ग्रन्थ (बन्धन-मुक्त) शब्द मिलता है और पालि बौद्ध ग्रन्थों में निगण्ठ शब्द।[2] पं० कैलाशचन्द्र-

---

1- राधाकृष्णन् : भारतीय दर्शन, भाग-1, पृ० 233.

2- एस० गोपालन : जैन दर्शन की रूपरेखा, पृ० 5.

शास्त्री ने भी लिखा है - "जैन साहित्य के परीक्षण के सन्दर्भ में मैंने पाया कि जैनों ने अपना नाम बदल दिया है। अति प्राचीन काल में ये "निर्ग्रन्थ" कहे जाते थे । मैंने देखा कि बौद्ध लोग निर्ग्रन्थों से परिचित थे, उन्होंने उनके प्रभाव तथा संस्थापक का वर्णन बुद्ध के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में किया है, और लिखा है कि पावा में उसकी मृत्यु हुई"।[1]

अस्तु कुछ साक्ष्यों के अनुसार इस धर्म के आद्य प्रवर्तक ऋषभदेव, बाइसवें तीर्थंकर नेमि, तेईसवें तीर्थंकर पार्श्व तथा अन्तिम तीर्थंकर महावीर ऐतिहासिक पुरुष हैं, जिनका जीवनकाल क्रमशः 84,00,300 वर्ष, 1000 वर्ष, 100 वर्ष तथा 72 वर्ष है ।[2] इस प्रकार आज विद्वानों के बीच जैन-धर्म की प्राचीनता के विषय पर विवाद के लिए अवकाश नहीं है ।

जैन-धर्म की परम्परा एवं ऐतिहासिकता के प्रतिपादन के बाद अब उसके मूलभूत सिद्धान्तों का विवेचन प्रस्तुत है -

जैन-धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों के दो पक्ष हैं। प्रथम सिद्धान्त पक्ष तथा द्वितीय आचार पक्ष । सिद्धान्त पक्ष में जैन परम्परा द्वारा मान्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल - ये छः द्रव्य तथा कर्मसिद्धान्त का समावेश है । इसमें प्रथम जीव द्रव्य चेतन तथा शेष पाँचों अचेतन होने के कारण अजीव की कोटि में आते हैं। इसमें जीव रूप रहित चेतन सत्ता है तथा धर्म, अधर्म, आकाश, तथा काल रूपरहित अचेतन सत्ता है। साथ ही पुद्गल अचेतन होते हुए रूपयुक्त है ।

जैन-धर्म में जीव की चार गतियाँ - तिर्यंच, मनुष्य, नरक तथा देव बतायी गई हैं। ये गतियाँ जीव के कर्म के अनुसार होती हैं । मुक्त जीव कर्म-पुद्गलों से पूर्णतः रहित होकर अपनी शुद्ध चैतन्य अवस्था में ही रहता है। कर्मों

1- जैन साहित्य का इतिहास, प्रथम संस्करण, पृ0 3 से उद्धृत.

2- एस0 गोपालन : जैन-दर्शन की रूपरेखा, पृ0 13 से उद्धृत कल्पसूत्र के उद्धरण 227, 182, 168 व 147 से .

के आठ प्रकार कहे गये हैं, जिससे जीव का कर्म रूप परिणमन होता है। जै. में जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष – इन सात तत्वों के विवेचन का अत्यधिक महत्व है। इन्हीं के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन, इन्हीं के ज्ञान को सम्यक्ज्ञान और इन्हीं के आचरण को सम्यक्चारित्र कहा गया है।

जैन-धर्म का आचरण पक्ष भी अत्यन्त व्यापक है। यहाँ आचार दो भागों में विभक्त है – प्रथम श्रमणाचार तथा द्वितीय श्रावकाचार। श्रमण अर्थात् जैन मुनि महाव्रती होते हैं, जबकि श्रावक [गृहस्थ] अणुव्रती होता है। अहिंसा इस धर्म का प्राण है। वैदिक यज्ञ आदि के नाम पर या अन्य किसी भी प्रकार से की जा रही हिंसा को इन्होंने अधर्म कहा है। सच्चा यज्ञ आत्मा को पवित्र करने में है। इसके लिए इन्होंने क्रोध को बलि देने, मान को मारने, माया को काटने तथा लोभ का उन्मूलन करने की बात कही है। श्रावक अर्थात् गृहस्थ-धर्म में ग्यारह प्रतिमाओं के धारण का बहुत महत्व है, जिनमें क्रमशः आध्यात्मिक विकास करते हुए श्रमण धर्म धारण करने की ओर बढ़ने का विवेचन किया गया है। इनमें प्रथम "दर्शन प्रतिमा" में शराब, माँस, मधु, अंजीर, गूलर, पाकड़ आदि खाने का निषेध है, क्योंकि इनमें घोर हिंसा होती है। मधु, अंजीर आदि में भी त्रस जीव होते हैं। द्वितीय "व्रत प्रतिमा" में – अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह, परिमाण, दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थ दण्ड त्यागव्रत, सामयिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण व्रत तथा अतिथिसंविभागव्रत का पालन करना आता है। तृतीय "सामयिक प्रतिमा" में प्रतिदिन प्रातः शाम, तथा दो प्रहर को सामयिक करना होता है। चतुर्थ "सचित त्याग प्रतिमा" में ऐसे स्वादहीन भोजनादि को ग्रहण करना होता है, जिससे चित् को आकुल होने का अवसर न मिले। प्रत्येक "अष्टमी" तथा "चतुर्दशी" को घर का कार्यभार स्थगित कर नियम से सोलह प्रहर का उपवास करना पंचम प्रतिमा "प्रोषध-प्रतिमा" है। षष्ठ "रात्रि भोजन त्याग प्रतिमा" में मन, वचन, काय कृत [स्वयं करना], कारित [दूसरों से कराना], अनुमोदित [दूसरे द्वारा किए हुए को अनुमोदन करना] सभी प्रकार का भोजन त्याग आता है। सप्तम "ब्रह्मचर्य-प्रतिमा" में अपनी पत्नी से भी विषय कर्म छोड़कर ब्रह्मचर्यत्व धारण करना आता है। व्यापार आदि का त्याग अष्टम प्रतिमा "आरम्भ प्रतिमा" है। अपनी

आवश्यकता से अधिक सामान रखना नवम् "परिग्रह त्याग प्रतिमा" है। दशम "अनुमति त्याग प्रतिमा" में गृहस्थी आदि से सम्बन्धित किसी भी प्रकार की सलाह नहीं देना आता है। एकादश प्रतिमा "उत्कृष्ट त्याग प्रतिमा" [[illegible]] में उद्देश्य से रहित शुद्ध भोजन ग्रहण करना आता है।

रत्नत्रय अर्थात् सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र को धारण करना तथा आगम के अनुसार आचरण करना जैन-धर्म का प्रधान उद्देश्य है। इस परम्परा में आगम ज्ञान की परम्परा आरम्भ काल से ही मौखिक रूप में प्रचलित थी। बाद में इसे लिखित रूप प्रदान करने की परम्परा बन गई। आगम ग्रन्थों में "चौदह पूर्वों" का स्थान, काल तथा अन्य दृष्टि से भी प्रथम है। इसे दिगम्बर द्वारा मान्य बारहवाँ अंग दृष्टिवाद के भेद पूर्व का विभाग कहा जाता है जो संख्या में चौदह है। इसके बाद अंग ग्रन्थों का स्थान है, जो जैन-धर्म की प्राचीनतम् उपलब्ध स्रोत सामग्री है, जिसकी मूल संख्या बारह बतायी गई है। इसमें श्वेताम्बर द्वारा मान्य ग्यारह अंग तथा दिगम्बर द्वारा मान्य आगम दृष्टिवाद आता है। इस तरह इसकी संख्या बारह है। बारह उपांग, चार मूल सूत्र, दो चूलिका सूत्र, छः छेद सूत्र, दसप्रकीर्णक, तथा कल्प सूत्र का नाम प्रमुख है। "चूलिका सूत्र" में "नन्दी सूत्र" तथा "अनुयोगद्वार सूत्र" आता है, जो जैन-धर्म साहित्य के सम्बन्ध में विशद् जानकारी प्रस्तुत करता है।

जैन-धर्म के सिद्धान्त पक्ष तथा आचरण पक्ष दोनों के सामन्जस्य से इसके परम् उद्देश्य - मुक्ति की प्राप्ति होती है। यहाँ आत्मा के विकास में बाधक शक्ति को कर्म कहा गया है। कर्मों के आठ भेद होते हैं - ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम तथा गोत्र। आत्मा का बन्ध करने वाले इन कर्मों के आस्रव को अवरुद्ध करने के लिए साधक को संवर की आवश्यकता पड़ती है। इसके द्वारा आस्रव के समस्त द्वारों का निरोध होकर नवीन कर्मों का प्रवेश रुक जाता है, तथा पुरातन कर्म क्रमशः क्षीण हो जाते हैं। यही निर्जरा है। सभी कर्मों का पूर्णतया क्षय ही मोक्ष है। मोहनीय कर्म का नाश

होने से केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है। जैन-धर्म के अनुसार आत्म विकास की चौदह अवस्थाएँ बतायी गई हैं, जिनके द्वारा आत्मा शनैः शनैः कर्म बन्धन से मुक्त होता हुआ अन्त में पूर्ण निर्मल हो जाता है । इन्हें ही गुणस्थान कहा जाता है। वे चौदह गुण स्थान इस प्रकार हैं - मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र गुणस्थान, अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान, देशव्रत गुणस्थान, प्रमत्तसंयत गुणस्थान, अप्रमत्तसंयत गुणस्थान, अपूर्वकरण गुणस्थान, अनिवृत्तिकरण गुणस्थान, सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थान, उपशान्तमोह अथवा उपशान्तकषाय गुणस्थान, क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान, सयोग केवली जिन तथा अयोगकेवली जिन। इनकी प्रत्येक अवस्था में पाप वृत्ति का क्षय तथा पुण्यवृत्ति का उत्तरोत्तर विकास होता है। अन्त में आत्मा का परम विकास होकर सिद्ध दशा को प्राप्त करता है ।

इस तरह जैन-धर्म का सिद्धान्त पक्ष हो या आचार पक्ष - सबका लक्ष्य आत्मशुद्धि तथा आत्मोपलब्धि ही है। यहाँ सभी प्रकार के उपासना के प्रकार आत्मा की शुद्धि के लिए हैं। जैन-धर्म के उपदेश में त्रिविध साधना मार्ग को आत्मा के स्वरूप के साथ जोड़ा गया है। आत्मा का स्वरूप शुद्ध चैतन्य के साथ-साथ ज्ञायक भाव भी है। आत्मा के इसी ज्ञान स्वभाव में तीनों साधना मार्ग [दर्शन-ज्ञान-चारित्र] अन्तर्निहित हैं। यहाँ व्रत, तपादि का लक्ष्य भी जीव को माया-मोहादि से अलग कर शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति की ओर उन्मुख करना है । इस दृष्टि से व्रत तपादि उत्तरोत्तर कठिन साधना मार्ग के द्वारा जीव को शुद्ध करते हुए परम पुरुषार्थ की ओर मुड़ने का उपदेश देता है । जीव के धर्मानुकूल आचरण का पक्ष जब तक सराग होता है, तब तक वह लोक मंगल की दृष्टि प्रस्तुत करता है तथा जब उसकी अन्तिम परिणति अपने स्वभाव में हो जाती है, तब वह सारी अवस्थाओं से रहित होकर मात्र एक शुद्ध चैतन्य ज्ञायक मात्र हो जाता है ।

जैन साहित्य और उसमें समयसार का स्थान

जैन परम्परा का प्रारम्भ ऋषभदेव से होता है। ऋषभदेव इस परम्परा के प्रथम तीर्थंकर हैं। इस परम्परा की ऐतिहासिक सूची में अन्तिम तीर्थंकर महावीर

के साथ-साथ उन सारे आचार्यों का भी नाम आता है जिन्होंने अपने आध्यात्मिक अनुभव को आगमिक कृतियों में परिणत कर जैन साहित्य के विकास में अमूल्य योगदान दिया है । इस परम्परा में तीर्थंकरों द्वारा कहे गये उपदेश को शब्द रूप में गूंथने का श्रेय गणधरों को है, जिनमें गौतम सुधर्मा [श्वेताम्बर मान्य] आदि प्रमुख हैं । यह श्रुत अङ्गप्रविष्ट तथा अङ्गबाह्य रूप में विभाजित है । अङ्गप्रविष्ट श्रुत के अन्तर्गत द्वादशाङ्ग श्रुत आता है। इनकी संख्या बारह है। आरातीय आचार्यों के द्वारा अल्पमति शिष्यों के अनुग्रह के लिए दशवैकालिक सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र आदि रचे गये ग्रन्थ अङ्गबाह्य श्रुत के अन्तर्गत आते हैं ।
अङ्गप्रविष्ट श्रुत इस प्रकार हैं -- आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकदश, अन्तकृद्दश, अनुत्तरौपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र तथा दृष्टिवाद।

जैन परम्परा दिगम्बर तथा श्वेताम्बर - दो भागों में विभक्त है। एतदर्थ दोनों परम्पराओं द्वारा मान्य आगमश्रुत सम्बन्धी विचार में भी बहुत भिन्नता है। श्वेताम्बर परम्परा बारहवें अंग दृष्टिवाद श्रुत का उच्छेद मानती है, लेकिन दिगम्बर परम्परा मात्र दृष्टिवाद श्रुत को प्रमाण मानकर इसके अग्रायणीय तथा ज्ञानप्रवाद पूर्व से षट्खंडागम, महाबन्ध, कसायपाहुड आदि ग्रन्थों की रचना की है। इस तरह जिस श्रुत का श्वेताम्बर परम्परा लोप मानती है उस श्रुत की धारा दिगम्बर परम्परा में सुरक्षित है और दिगम्बर परम्परा जिस अङ्गश्रुत का लोप मानती है, उसका संकलन श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित है।[1] अतः अब हम दोनों परम्पराओं के जैन साहित्य का अतिसंक्षिप्त रूप प्रस्तुत करेंगे जिससे इन कृतियों की परम्परा में "समयसार" का स्थान निरूपित किया जा सके-

द्वादशांग साहित्य

जैन साहित्य के उपलब्ध स्रोत सामग्री में यह साहित्य अत्यन्त प्राचीन है। इसकी संख्या बारह है । इन बारहों कृति का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

आचारांगसूत्र - यह अंग साहित्य का प्रथम प्राचीन ग्रन्थ है। इसके दो श्रुत स्कन्ध हैं। इसमें मुनि-आचार से सम्बन्धित गद्य तथा पद्य शैली में अर्हतों तथा

शाश्वत् धर्म आदि पर सामान्य तथा उपदेशात्मक रूप से प्रकाश डाला गया है। इसमें महावीर के उन उपदेशों का संकलन है, जिसे उनके शिष्य सुधर्म ने प्राप्त किया था एवं पुनः उसने अपने शिष्य जम्बू को सुनाया था।

सूत्रकृतांग - इस अंग के भी दो श्रुत स्कन्ध हैं। इसका प्रथम श्रुत स्कन्ध आचारांग के प्रथम श्रुत स्कन्ध के सदृश अत्यन्त प्राचीन माना जाता है। इस अंग में नवदीक्षित साधु के बहकाये जाने से आगाह किया गया है। यहाँ क्रियावाद, अक्रियावाद, वैनायिक, अज्ञानवाद, आदि के खण्डनों का निरूपण तथा दृष्टांतों का बाहुल्य पद्य तथा गद्य दोनों शैली में है।

स्थानांग तथा समवायांग - इसमें जैनाचार्यों के चारित्र तथा अन्य अंगों के कुछ भाग वर्णित हैं। स्थानांग में बारहवें अंग दृष्टिवाद की विषय-सूची तथा जैनों के सात सम्प्रदायों का उल्लेख व समावायांग में शेष सभी अंगों के अंशों का अंशतः समावेश है ।

भगवती - यह अंग जैन-धर्म की प्राचीनता का द्योतक है। इसमें महावीर के समकालीन तथा इसके पूर्व के जैन मुनियों का वर्णन है। इस ग्रन्थ में गोशाल तथा जमालि द्वारा संस्थापित विरोधी मतों के बारे में हम जानकारी प्राप्त करते हैं ।

ज्ञातृधर्म कथा - यह अंग कथाग्रन्थ प्रधान है। इसमें कई कथा दृष्टांत हैं। प्रत्येक कथा दृष्टांत नैतिक शिक्षा से ओत-प्रोत हैं।

उपासक दशा, अन्तकृद्दशा तथा अनुत्तरौपपातिकदशा - यह तीनों अंग भी कथा प्रधान साहित्य हैं। इनमें अनेक दृष्टान्तों द्वारा जैन उपासकों, तपस्वियों आदि के सदृश जीवनचर्या अपनाने का उपदेश दिया गया है। धन-दौलत से सम्पन्न लोगों को भी सन्यासी की तरह मृत्युवरण तथा इसके पश्चात् देवपद प्राप्त करने की बात कही गई है। इनकी कथाओं के प्रत्येक दृष्टांतों में साधुभाव की प्रधानता तथा निर्लिप्त सांसारिक जीवन व्यतीत करने की बात कही गई है ।

प्रश्नव्याकरण - इस अंग के दो खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में हत्या, झूठ, चोरी, व्याभिचार तथा आसक्ति - इन पाँच आस्रव द्वारों तथा दूसरे खण्ड में उन्हीं के निषेध स्वरूप पाँच संवर द्वारों का उल्लेख है।

विपाकसूत्र - यह अंग पुण्य-पाप से सम्बन्धित अनेक कथाओं से सुसज्जित है ।

दृष्टिवाद - यह श्रुत दिगम्बर परम्परा के स्रोत ग्रन्थ के रूप में मान्य है । दृष्टिवाद श्रुत के पाँच भेद हैं - परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत, तथा चूलिका । पूर्वगत श्रुत के चौदह भेद हैं - उत्पाद, अग्रायणी, वीर्यानुप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यानप्रवाद, विद्यानुप्रवाद, कल्याणप्रवाद, प्राणावाय, क्रियाविशाल तथा लोकबिन्दुसार।[1] ये सभी एक साथ "चौदह पूर्व" के नाम से भी जाने जाते हैं ।

उपांग साहित्य

उपांगों की संख्या भी बारह है। अंगों एवं उपांगों के वर्ण्य-विषय भिन्न-भिन्न हैं। प्रथम उपांग - "औपपातिक" है। इसमें महावीर द्वारा पुनर्जन्म तथा मुक्ति के सम्बन्ध में उपदेश, तथा राजा अजातशत्रु, भगवान् महावीर की भेंट का सन्दर्भ वर्णित है। द्वितीय उपांग - "राजप्रश्नीय" में राजा पएसी जीव तथा शरीर के बारे में केशी मुनि से प्रश्न पूछता है तथा अन्त में राजा मुनि से सन्तुष्ट होकर जैन-धर्म में दीक्षित हो जाता है ।

इसके पश्चात् "जीवाभिगम" तथा "प्रज्ञापन" उपांग का स्थान है, जिसमें जीव-अजीव के भेदों-प्रभेदों का वर्णन है। "सूर्यप्रज्ञप्ति" उपांग में ज्योतिष, "जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति" में भारतीय भूगोल तथा "चन्द्रप्रज्ञप्ति" में खगोल से सम्बन्धित वर्णन हैं। इसके अलावा शेष जो पाँच उपांग "कल्पिका", "कल्पावतंसिका",

---

[1] डा0 महेन्द्र कुमार जैन : जैन दर्शन, पृ0 9.

"पुष्पिका", "पुष्पचूला" तथा "वृष्णिदशा" है जो "निरयावली सूत्र" के भाग कहे जाते हैं ।

इसके पश्चात् दस प्रकीर्ण हैं, जिनके वर्ण्य-विषय भिन्न-भिन्न हैं । ये प्रकीर्ण इस तरह हैं – चतुःशरण, आतुरप्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा, संस्तार, तंदुलवैचारिक, चन्द्रवेध्यक, देवेन्द्रस्तव, गणितविद्या, महाप्रत्याख्यान तथा वीरस्तव।

छेद सूत्र की संख्या छः है – निशीथ, महानिशीथ, व्यवहार, आचारदशा, बृहत्कल्प तथा पंचकल्प। इनमें जैन भिक्षुओं द्वारा आचरण व नियम से च्युत होने पर प्रायश्चितों के विधान का वर्णन है ।

इसके पश्चात् मूल सूत्र का स्थान है, जो भगवान् महावीर के उपदेशों का संकलन है। इनकी संख्या चार है – उत्तराध्ययनसूत्र, आवश्यकसूत्र, दशवैकालिक तथा पिण्डनिर्युक्ति।

चूलिकासूत्रों में नन्दीसूत्र व अनुयोगसूत्र आता है, जिसमें धर्म साहित्य तथा इसके अध्ययन की विधि पर विशद् विचार किया गया है । इस प्रकार श्रमण साहित्य की यह विकासधारा आगे दो भागों में विभाजित होती है:- प्रथम - श्रुतस्कंध तथा द्वितीय - श्रुतस्कंध । प्रथम श्रुतस्कंध की उत्पत्ति आचार्य धरसेन से होती है, जिसे उनके शिष्य पुष्पदन्त तथा भूतबलि ने जैनशौरसेनी प्राकृत भाषा में निबद्ध किया जिसका नाम "षट्खण्डागमसुत" है। यह छः भाग में है। इसका पहला भाग आचार्य पुष्पदन्त [ई0 66-106] द्वारा तथा शेष पाँच आचार्य भूतबलि [ई0 66-156] द्वारा निबद्ध किया गया। इनके नाम क्रमशः जीवट्ठाण, खुद्दाबन्ध, बन्धस्वामित्व-विचय, वेदन, वर्गणा तथा महाबन्ध हैं । इस षट्खण्डागम सुत के प्रथम तीन खण्ड पर आचार्य कुन्दकुन्द ने बारह हजार श्लोक में टीका लिखी जिसका नाम "परिकर्म" है, जो अनुपलब्ध है । इसके पश्चात् आचार्य समन्तभद्र [ई0श0 2] तथा आचार्य शामकुण्ड [ई0श0 3] द्वारा इसके प्रथम पाँच खण्डों पर टीका की गई। इसका छठा खण्ड, जिसका सुविस्तार आचार्य भूतबलि के द्वारा हुआ था, उसी पर आचार्य वीरसेन

[ई0 792-823] की संक्षिप्त व्याख्या है ।[1]

द्वितीय श्रुतस्कंध की उत्पत्ति आचार्य गुणधर से होती है। जिन्होंने "कसायपाहुड" ग्रन्थ की रचना की । इनकी गणना महावीर के निर्वाण के पश्चात् 683 वर्षावलीय आचार्य परम्परा में की जाती है। साक्षात् भगवान् से आगत कसायपाहुड [कषायप्राभृत] के ज्ञान को इन्होंने विच्छेद के भय से मात्र 180 गाथाओं में निबद्ध किया।[1] आचार्य परम्परा से कषायप्राभृत के ज्ञान को आर्यमंक्षु व नागहस्ति ने प्राप्त कर इसे 215 गाथाओं में निरूपित कर प्रमाणित किया उन्हीं के सान्निध्य में आचार्य यतिवृषभाचार्य [ई0 540-609] ने इसे पन्द्रह भाग में विभाजित कर सात हजार चूर्णसूत्रों की रचना की । इसी चूर्णसूत्र के आधार पर उच्चारणाचार्य ने विस्तृत उच्चारणा लिखी जिसके आधार पर आचार्य बप्पदेव [ई0 767-798] ने एक और संक्षिप्त उच्चारणा लिखी । आचार्य बप्पदेव से ही सिद्धान्त ज्ञान प्राप्त करके आचार्य वीरसेन स्वामी ने बीस हजार श्लोक की "जयधवला" नाम की टीका लिखी जिसे उनके शिष्य जिनसेनाचार्य [ई0 800-843] ने चालीस हजार श्लोक लिखकर पूरा किया[2] तथा इस द्वितीय श्रुतस्कंध के ज्ञान को आचार्य कुन्दकुन्द ने [ई0 प्रथम सदी] गुरु शिष्य परम्परा द्वारा प्राप्त किया एवं आचार्य कुन्दकुन्द ने "समयसारादि" ग्रन्थों का प्रतिपादन किया । कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों में "समयसार" का विशिष्ट स्थान प्राप्त है । यह कृति मूल रूप से "समयपाहुड़" है। बाद में "पाहुड़" का संस्कृत अनुवाद "प्राभृत" किया गया। इसके बाद प्राभृत शब्द के बदले नियमसार तथा प्रवचनसार की भाँति "समयप्राभृत" "समयसार" के नाम से विख्यात हुआ । इस नाम के विख्यात होने में अमृतचन्द्राचार्य का विशेष योगदान है ।[3]

इस प्रकार दिगम्बर जैन ग्रन्थों में कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित ग्रन्थों का विशिष्ट स्थान है। ये ग्रन्थ हैं --

---

1- जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग-2, पृ0 244.

2- वही, पृ0 41.

3- समयसार कलश ।.

समयपाहुड {समयसार} ; पवयणसारो {प्रवचनसार} ; णियमसारो {नियमसार} ; पंचात्थिकायसंग्गहो {पंचास्तिकाय संग्रह} तथा अष्टपाहुड ।

यहाँ अष्टपाहुड के निम्नलिखित आठ पाहुड इस प्रकार हैं — दंसण-पाहुड, सुत पाहुड, चारित्र पाहुड, बोध पाहुड, भाव पाहुड, मोक्ख पाहुड, लिंग पाहुड तथा शील पाहुड । आचार्य कुन्दकुन्द की ही कृतियों में बारस अणुवेक्खा {द्वादशानुप्रेक्षा}, दशभक्ति, रयणसार तथा मूलाचार भी मानी जाती हैं ।[1] इसके अलावा इनकी अनुपलब्ध कृतियों में "परिकर्म" नाम की टीका है, जो षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर लिखी गई थी ।[2]

अस्तु विषय की सुग्राह्यता की दृष्टि से प्रायः जैन कृतियों का वर्गीकरण चार भागों में किया जाता है —

{अ} प्रथमानुयोग

इसमें पुराण, चरित आदि आख्यान ग्रन्थ आते हैं। श्वेताम्बर परम्परा में इसे धर्मानुयोग कहा जाता है, जिसमें सुभाषितों का समावेश है ।

{ब} करणानुयोग

यहाँ करण शब्द के दो अर्थ हैं - परिणाम तथा गणित के सूत्र। इस अनुयोग में खगोल तथा भूगोल तथा जीव एवं कर्म के सम्बन्ध आदि के निरूपक कर्मसिद्धान्त विषयक ग्रन्थ आते हैं। इसे श्वेताम्बर परम्परा में गणितानुयोग भी कहा जाता है।

{स} चरणानुयोग

इसमें जैन परम्परा के आचार सम्बन्धी साहित्य आते हैं। श्वेताम्बर-

---

1- डॉ० शुद्धात्मप्रभा : आचार्य कुन्दकुन्द एवं उनके टीकाकार, पृ० 59.

2- जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग-4, पृ० 81.

परम्परा के ग्यारह अंगों को इसी अनुयोग में रखा गया है ।

[द] द्रव्यानुयोग

इसमें द्रव्य, गुण, पर्याय आदि वस्तु स्वरूप के प्रतिपादन से सम्बन्धित साहित्य आते हैं। दिगम्बर परम्परा का बारहवाँ अंग दृष्टिवाद इसी अनुयोग में आता है ।

कुन्दकुन्द की कृति "समयसार" द्रव्यानुयोग विषयक कृति है। द्रव्यानुयोग सम्बन्धी लिखित श्रुतनिरूपण परम्परा के आद्य प्रवर्तक आचार्य कुन्दकुन्द ही थे ।[1] द्रव्यानुयोग साहित्य दो भागों में विभक्त है- अध्यात्म विषयक तथा तत्त्वज्ञान विषयक । "समयसार" द्रव्यानुयोग के अध्यात्म विषयक कृतियों में सर्वश्रेष्ठ है। कुन्दकुन्द की दो कृतियाँ - "समयसार" तथा "नियमसार" आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत हैं। "प्रवचनसार" तथा "पंचास्तिकाय" वस्तु स्वरूप का प्रतिपादक हैं। "अष्टपाहुड" में कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने शिष्यों के आचरण को अनुशासित किया है। स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में सभी पाहुडों में अलग-अलग शिथिलाचार के विरुद्ध सशक्त आदेश, प्रेरक उपदेश तथा मृदुल सम्बोधन व्यक्त किया गया है। इसप्रकार "कुन्दकुन्दाचार्य" का "समयसार" जिन दस अधिकारों में वर्णित हैं उनका अतिसंक्षिप्त विवरण निम्न रूपेण प्रस्तुत है -

1. **पूर्वरङ्.ग** - इस अधिकार का नामकरण अमृतचन्द्राचार्य द्वारा किया गया है। स्वयं कुन्दकुन्द ने इस तरह की कोई अधिकार की सूचना नहीं दी है। अमृतचन्द्राचार्य ने 38वीं गाथा तक पूर्वरङ्.ग माना है। इसमें कुन्दकुन्द ने मङ्.गलाचरण, ग्रन्थ-प्रतिज्ञा, स्व-समय, पर-समय का विवेचन तथा शुद्ध नय एवं अशुद्ध नय का विवेचन प्रस्तुत किया है ।

2. जीवाजीवाधिकार

इस अधिकार में कुन्दकुन्द ने जीव के स्वभाव को स्पष्ट कर उसे पर-

---

[1] डॉ० उत्तमचन्द जैन : आचार्य अमृतचन्द्र व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व, पृ० 270.

पदार्थों तथा पर-पदार्थों के निमित्त से होने वाले विभावों से अलग निरूपित किया है। यहाँ जीव तथा पुद्गल द्रव्य के स्वाभाविक गुणों को अलग-अलग स्पष्ट कर यह दर्शाया गया है कि दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। अतएव यहाँ दोनों का एक-दूसरे में अस्तित्व समझना भयंकर भूल है। यह अधिकार जीव के स्वरूप तथा इससे भिन्न द्रव्यों के स्वरूप निर्धारण के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है ।

3. कर्तृकर्माधिकार - इस अधिकार में जीव तथा अजीव [पौद्गलिक कर्म] दोनों के सम्बन्धमें एक-दूसरे के कर्ता होने का निषेध तार्किक ढंग से किया गया है। जीव एवं अजीव दोनों का स्वभाविक गुण एक-दूसरे से पूर्णतः विपरित है। अतएव जीव पौद्गलिक कर्मों का तथा पौद्गलिक कर्म जीव का कर्ता कदापि नहीं हो सकता। कर्तृकर्माधिकार में सूक्ष्म रूप से जीव के कर्म से सम्बन्धित होने की व्याख्या उपादान-उपादेय तथा निमित्त-नैमित्तिक भाव से की गई है। इस अधिकार में जीव के लक्षणादि विवेचन के साथ-साथ इसके कर्तृत्व का सर्वथा निषेध किया गया है। वह मात्र अपने स्वभाव का कर्ता है। जीव कर्ता, भोक्ता के गुणों से वंचित होकर मात्र चैतन्य ज्ञायक स्वभाव वाला है। जीव का यह विवेचन शुद्ध नय द्वारा प्रस्तुत किया गया है ।

4. पुण्य-पापाधिकार - आचार्य कुन्दकुन्द ने इस अधिकार में पुण्य-पाप का विवेचन प्रस्तुत किया है। यहाँ पाप के साथ-साथ इससे भिन्न पुण्य को भी मोक्ष प्राप्त करने में बाधक बताया गया है। पुण्य तथा पाप - ये दो प्रकार की प्रकृतियाँ हैं, जिसके मूल में राग है। इनका सम्बन्ध सुख तथा दुःख से है। इस तरह कुन्दकुन्द ने पुण्य तथा पाप को बन्ध की दृष्टि से समान कहकर इसकी व्याख्या की है ।

5. आस्रवाधिकार - कुन्दकुन्द इस अधिकार में आस्रव तथा इसके प्रकार मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय तथा योग का उल्लेख करते हैं । इस अधिकार में सम्यग्दृष्टि या ज्ञानी के आस्रव तथा बन्ध होने का निषेध किया गया है।

6. **संवर** - इस अधिकार में कुन्दकुन्द ने संवर का मूल कारण "भेद ज्ञान" बताया है। अन्य जैन कृतियों में संवर के कारण के रूप में गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय तथा चारित्र का वर्णन मिलता है, लेकिन कुन्दकुन्द ने जीव तथा अजीव [पौद्गलिक कर्म] के बीच के भेद ज्ञान को संवर के कारण के रूप में विवेचन किया है ।

7. **निर्जरा** - इस अधिकार में निर्जरा, निर्जरा के भेद तथा स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। कुन्दकुन्द ने बताया है कि सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियों के द्वारा चेतन-अचेतन पदार्थों का जो उपभोग करता है, वह सब निर्जरा के निमित्त करता है ।[1] इस अधिकार में सम्यग्दर्शन के आठ अंगों पर प्रकाश डाला गया है ।

8. **बन्धाधिकार** - इस अधिकार में जीव तथा पौद्गलिक कर्मों, जैसे-चेतन-अचेतन तत्व के संयोग पर विचार किया गया है। यह संयोग अज्ञान के कारण होता है। सम्यग्दृष्टि जीव अपने से भिन्न द्रव्यों से अपना भेद समझता है। इस तरह वह निर्बन्ध अवस्था में रहता है। यहाँ विभिन्न उदाहरणों द्वारा जीव के अज्ञान के कारण बंधने की चर्चा की गई है, तथा सम्यग्दृष्टि जीव की चर्चा निर्बन्ध के रूप में की गई है ।

9. **मोक्षाधिकार** - कुन्दकुन्दाचार्य ने इस अधिकार में बताया है कि आत्मा की सर्व कर्म से रहित की अवस्था मोक्षावस्था है। सम्यक् दर्शन, सम्यक्-ज्ञान के साथ-साथ सम्यक् चारित्र से ही बन्ध समाप्त होता है। यहाँ जीव के कर्मों से बद्ध होना तथा बन्धन के कारणों को जान लेने मात्र से बन्ध समाप्त नहीं होता, अपितु सम्यक् चारित्र से बन्ध को समाप्त करने हेतु पुरुषार्थ को अंगीकृत करने से बन्ध समाप्त होता है। इस अधिकार में प्रज्ञा को मोक्ष का कारण कहा गया है। "प्रज्ञा ही भेदज्ञान है"[2] । साथ-साथ चारित्र पर विशेष बल दिया गया है। इसके बिना जीव अपने वास्तविक स्वरूप में नहीं आ सकता।

---

[1] समयसार, गाथा 193.

[2] वही, गाथा 296.

यह बन्ध को बिना समाप्त किये मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। बन्ध पुरुषार्थ से ही समाप्त होता है ।

10. **सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार** - यह अधिकार कुन्दकुन्द के समयसार का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अधिकार है । जीव तथा इससे भिन्न पौद्गलिक कर्मों के स्वभाव आदि का वर्णन समयसार में सर्वत्र पाया जाता है। इन्हीं तथ्यों को एक बार फिर से कुन्दकुन्द इस अधिकार में विवेचन कर आत्मा के वास्तविक रूप का विवेचन करते हैं। आत्मा के अनन्त गुणों में ज्ञान सर्वप्रसिद्ध है। आत्मा के कर्तृत्व, भोक्तृत्व का सर्वथा निषेध कर उसे शुद्ध चैतन्य ज्ञायक स्वभाव वाला कहा गया है। आत्मा से भिन्न परद्रव्य अपने-अपने गुण-पर्याय के कर्ता हैं । जीव इनका कर्ता हो ही नहीं सकता। इस तरह इस अधिकार में आत्मा के शुद्ध स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत किया गया है, जो "समयसार" के पिछले अधिकारों में कह दिया गया है ।

इस प्रकार कुन्दकुन्द ने "समयसार" में जैन परम्परा के सात तत्वों-जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष के साथ-साथ मुख्यतया जीव या आत्मा को केन्द्र बिन्दु बनाकर अपना प्रतिपादन किया है। यहाँ जीव को अजीव से भिन्न एक शुद्ध चैतन्य सत्ता के रूप में वर्णित किया गया है। यहाँ शुद्ध नय तथा अशुद्ध नय [निश्चय तथा व्यवहार नय] से जीव के स्वरूप लक्षण तथा परपरिणति का विवेचन हुआ है और यह स्पष्ट किया गया है कि कर्म के निमित्त से होने वाली परिणति व्यवहार तथा गुणपर्यायों से अभिन्न आत्म-शुद्ध चैतन्य स्वरूप ज्ञान की ही परिणति [illegible] निश्चय नय है ।

कुन्दकुन्द का ग्रन्थ "समयसार" आत्मा को केन्द्र बिन्दु मानकर सात तत्वों का प्रतिपादन करता है। जीव पूर्णतः शुद्ध चैतन्य है। अज्ञान से जीव कर्मों में राग-द्वेष करता है। तत्पश्चात् इसमें आस्रव होते हैं तथा यह बन्धग्रस्त होता है। पुनः मोक्ष के सन्दर्भ में इसे संवर एवं निर्जरा की अवस्था को प्राप्त करना होता है। यहाँ सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र से संवर, निर्जरा

एवं मोक्ष की प्राप्ति कही गई है। निश्चय नय [शुद्ध नय] से जीव इन सारी अवस्थाओं से रहित है। इस तरह कुन्दकुन्द जीव का आध्यात्मिक वर्णन प्रस्तुत कर जैन परम्परा की कृतियों में [illegible] ग्रन्थ "समयसार" को [illegible] प्रतिष्ठित करते हैं । यही कारण है कि जैन साहित्य के क्षेत्र में प्रमुख व्यवहारोपयोगी ग्रन्थों में "समयसार" तथा उमास्वामि के "तत्वार्थ सूत्र" का नाम लिया जाता है, जिसमें समयसार आत्मा विषयक विवेचना प्रस्तुत करता है, तथा तत्वार्थसूत्र जीव, अजीव आदि सात तत्वों की सुविवेचना प्रस्तुत करता है।

समयसार की महत्वपूर्ण टीकाएँ

कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा विरचित विविध कृतियों के टीकाकारों में आचार्य अमृतचन्द्रसूरि, आचार्य जयसेन, मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव तथा भट्टारक श्रुतसागर के नाम प्रमुख रूप से आते हैं । अमृतचन्द्राचार्य ने कुन्दकुन्द विरचित "समयसार", "प्रवचनसार" तथा "पंचास्तिकाय" पर "आत्मख्याति", "तत्वदीपिका या तत्वप्रदीपिका" तथा "समयव्याख्या" नाम की टीका लिखी है। आचार्य जयसेन ने भी कुन्दकुन्द के उक्त तीन ग्रन्थों पर "तात्पर्यवृत्ति" नाम की टीका लिखी है। इनकी तीनों टीकाओं का नाम "तात्पर्यवृत्ति" ही है। इसके साथ ही आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ "नियमसार" पर उपलब्ध सर्वप्रथम टीका मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव की है ।[1] टीकाओं की इसी परम्परा में भट्टारक श्रुतसागर सूरि ने भी कुन्दकुन्दाचार्य के अष्टपाहुडों में से "षट्पाहुड" पर टीका लिखी है ।[2]

इस तरह यह स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द के प्रथम तीन ग्रन्थों पर आचार्य अमृतचन्द्रसूरि तथा जयसेन की टीका है, तथा चौथे ग्रन्थ "नियमसार" एवं पाँचवें "अष्टपाहुड" के "षट्पाहुड" पर क्रमशः मलधारीदेव तथा भट्टारक श्रुत सागर

1- डॉ० शुद्धात्मप्रभा : आ० कु० और उनके टीकाकार, पृ० 50.
2- वही, पृ० 53.

की टीका है। समयसार पर आचार्य अमृतचन्द्रसूरि एवं जयसेनाचार्य की ही टीकाएँ प्रमुख हैं। अब हम समयसार की दोनों टीकाओं "आत्मख्याति" तथा "तात्पर्यवृत्ति" का संक्षिप्त विवेचन करना प्रासंगिक समझते हैं--

1. आत्मख्याति

यह कृति "आत्मख्याति" कुन्दकुन्दाचार्यकृत "समयसार" पर प्रथम टीका है, जिसके टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्रसूरि हैं। अमृतचन्द्राचार्य की यह टीका मूल "समयसार" कृति के चार सौ पन्द्रह गाथाओं {415} के रहस्यमय अर्थ को स्पष्ट करने हेतु गद्यात्मक तथा पद्यात्मक शैली में लिखी गई है। इसमें पद्यों की कुल संख्या दो सौ सतहत्तर {277} है। बाद के समयसार के इस टीका के प्रकाशनों में इसकी संख्या दो सौ अठत्तर {278} कही गई है। इनके अनुसार मूल समयसार की 306-307 गाथाओं की गद्यात्मक टीका के इस अंश "अतो हताः प्रमादिनो गताः सुखासीनतां । प्रलीनं चापलमुन्मीलितमालंबनं । आत्मन्येवालानितं चित्तमासंपूर्णविज्ञानघनोपलब्धेः।" को पद्य मानकर इसे 188वाँ स्थान पर रख दिया गया है ।[1] इस तरह कुल मिलाकर दो सौ अठत्तर {278} पद्यों {कलशों} की संख्या कही जाती है। इस टीका में इन पद्यों की भूमिका को देखते हुए इसे "कलश" संज्ञा से विद्वानों ने अभिहित किया। इन्हीं कलशों का एक अलग संकलन कर विद्वानों ने एक स्वतंत्र कृति के रूप में इसे समयसार कलश, परमाध्यात्मतरंगिणी टीका, अध्यात्म-अमृत-कलश, अमृतज्योति टीका, कलशागीत या निजामृतपान आदि के नाम से पुकारा। हम आत्मख्याति के गद्य तथा पद्य दोनों भाग का उसी तरह उल्लेख करेंगे जिस तरह अमृतचन्द्रकृत टीका आत्मख्याति में इनका विवेचन किया गया है। कलशों का अलग अस्तित्व में लाना उसी तरह महत्वहीन होगा जिस तरह मन्दिर के शीर्ष से कलश को हटाकर उसके सौन्दर्य का मूल्यांकन करना । अमृतचन्द्राचार्य विरचित ये कलश समयसार टीका के ही अभिन्न भाग हैं, किन्तु अमृतचन्द्राचार्य ने आचार्य कुन्दकुन्द कृत नव अधिकारों में वर्णित समयसार को बारह अधिकारों में विभक्त किया है, जो इस प्रकार है --

---

[1] श्री गणेश प्रसाद वर्णी : समयसार, पृ0 249.

[1] जीवाजीवाधिकार [पूर्वरंग] - यह अधिकार 38 गद्य तथा 32 पद्य टीकाओं [कलशों] में वर्णित है। इसमें समस्त सिद्धों को नमस्कारादि, समय शब्द का अर्थ तथा एकत्वविभक्त का युक्ति, आगम तथा स्वानुभव रूप वैभव से दिग्दर्शन कराया गया है। व्यवहार तथा निश्चय को क्रमशः अभूतार्थ तथा भूतार्थ कहा गया है तथा व्यवहार से आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्र भेद किए गये हैं। निश्चय से आत्मा को अभेद एकमात्र ज्ञायक कहा गया है। व्यवहार की उपादेयता सामान्यजनों के लिए प्रतिपादित की गई है। निश्चय हेतु व्यवहार को साधन मात्र बताया गया है। आत्मा का अनुभव ही निश्चय नय या भूतार्थ है तथा इसके साधन प्रमाण, नय, निक्षेप आदि व्यवहार या अभूतार्थ है ।

भूतार्थ नय से नव तत्वों में मात्र आत्मा ही प्रकाशित होती है। उसी ज्ञायक आत्मा की अनुभूति आत्मख्याति है। अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष तथा असंयुक्त - ऐसे पाँच भाव रूप आत्मा की अनुभूति निश्चय से समस्त जिनशासन की अनुभूति कही गई है। यहाँ व्यवहार तथा निश्चय नय से आत्मा का वर्णन विभिन्न रूपों में किया गया है तथा निश्चय नय से आत्मा का अनुभव करना ही उपादेय कहा गया है। अन्त में सहज ज्ञान स्वभाव के अनुभव करने पर जितेन्द्रिय, जितमोह तथा प्रत्याख्यान ज्ञान से सम्पन्न होना कहा गया है। यह स्थिति पर-पदार्थों से भिन्न अपने को मात्र चैतन्य स्वरूप अनुभव करने की स्थिति है। अतः इन तथ्यों को उजागर करने में आत्मख्याति की गद्यात्मक टीका के साथ-साथ कलशों का योगदान अनुपम है। इन कलशों में भी आत्मा के शुद्ध स्वरूप, एकत्वविभक्तत्व, अबद्ध, अस्पृष्ट, असंयुक्त आदि का प्रतिपादन अत्यन्त ही सुगम एवं सुग्राह्य रीति से किया गया है ।

[2] जीवाजीवाधिकार [उत्तर रंग] - यह अधिकार तीस गाथाओं की गद्य टीका एवं तेरह कलशों में वर्णित है। यहाँ जीव तथा अजीव दोनों द्रव्य एक होकर रङ्गभूमि में प्रवेश करते हैं तथा अन्त में भेद ज्ञान से दोनों के पृथक्-पृथक् होकर प्रस्थान करने का प्रसङ्ग है। यहाँ जीव का उपयोग लक्षण, अजीव से पूर्णतः भिन्न शुद्ध चैतन्य स्वरूप ज्ञायक मात्र कहा गया है। यह रूप, रस, गंध,

शब्द से रहित, इन्द्रियों से अगोचर तथा अलिङ्ग्ग्राह्य है। यह जीव के सम्बन्ध में नैश्चयिक कथन है। व्यवहार से जीव के विभाव रूप परिणमन को जीव कहा गया है। राजा तथा राजा की सेना का उदाहरण देकर व्यवहार नय का कथन किया गया है। यहाँ वास्तव में राजा एक है, लेकिन उसके सेना के पाँच योजन फैलाव को राजा के पाँच योजन फैलने की बात समझना व्यवहार नय का कथन है ।[1] अन्त में मिथ्यात्वादि गुणस्थान को पौद्गलिक कर्मोदयजन्य होने से अचेतन बताकर इसे जीव स्वरूप से भिन्न कहा गया है। ऐसे ज्ञान अभ्यास से भेदज्ञान के आधार पर जीव तथा अजीव को अलग किया जाता है ।

[3] कर्ता-कर्म अधिकार - यह अधिकार 76 गाथाओं की गद्य तथा 54 कलश टीका में विभाजित किया गया है। इस अधिकार की शुरुआत में जीव तथा अजीव को अपना वेश बदलकर कर्ता तथा कर्म के वेश में रंगमंच पर पधारने का प्रसंग कहा गया है। यहाँ आत्मा को हर प्रकार के कर्तृत्व से रहित कहा गया है । आत्मा केवल पुद्गल कर्म के फल को जानता है, उसमें कर्तृत्व-कर्मभाव नहीं है। आत्मा केवल अपने परिणमन का ही कर्ता तथा भोक्ता है । स्व तथा पर में एकत्व की अवस्था रखने वाले को अज्ञानी कहागया है ।

जीव स्वयं को अज्ञानवश घट-पट, कर्म, नो कर्म आदि पर द्रव्यों का कर्ता मानता है। जीव को इन सभी कर्मों का कर्ता कहना व्यवहार नय है । मिथ्यात्वादि आस्रव को जड़ स्वभाव तथा जीव को चैतन्य स्वभाव कहकर जड़ तथा चेतन के एक होने का निषेध किया गया है, क्योंकि ऐसा नहीं करने से भिन्न-भिन्न द्रव्यों का लोप हो जायेगा, जिससे भारी दोष उत्पन्न होगा। इसलिए निश्चय नय से आस्रव तथा आत्मा में एकत्व का अभाव कहा गया है । इस तरह निश्चय तथा व्यवहार नय से जीव तथा पुद्गल कर्मों का कथन कर परमार्थ से जीव को सभी तरह के कर्तृत्व भाव से रहित बताकर इसे मात्र शुद्ध-चैतन्य ज्ञायक स्वभाव वाला कहा गया है ।

---

[1] आत्मख्याति, गाथा 47-48 की टीका.

[4] **पुण्य-पाप अधिकार** - इस अधिकार का विभाजन 19 गाथाओं की गद्य टीका तथा 13 कलशों में हुआ है। अधिकार के प्रारम्भ में कहा गया है कि एक ही कर्म दो पात्रों [पुण्य तथा पाप] का वेश धारण कर रंगमंच पर आता है। यहाँ रागादि से सभी कर्मों [वह शुभ हो या अशुभ] को बन्ध की अपेक्षा से एक ही कोटि में रखा गया है। लोहे की जंजीर तथा सोने की जंजीर से पुण्य तथा पाप का उदाहरण देकर यह बताया गया है कि दोनों ही समान रूप से बन्ध का कारण हैं।[1] यहाँ आत्मा के श्रद्धान् को सम्यक्त्व, आत्मा के ज्ञान को सम्यग्ज्ञान तथा आत्मा द्वारा रागादि के त्याग को सम्यक्चारित्र कहकर तीनों के एकत्व रूप को मोक्ष का साधन बताया गया है। पुण्य कर्म मोक्ष के साधन नहीं बल्कि पुण्य-बन्ध के कारण हैं। पुण्य तथा पाप - सभी प्रकार के कर्मबन्ध का कारण तथा मोक्ष का घातक है। अन्त में आचार्य पुण्य तथा पाप को अपना स्वाँग त्यागकर एक पात्ररूप परिणत होकर रंगमंच से प्रस्थान करने का उल्लेख करते हैं।

[5] **आस्रवाधिकार** - यह अधिकार 17 गाथाओं की गद्य तथा 12 कलश टीका में वर्णित है। यहाँ राग-द्वेष मोहादि को आस्रव कहा गया है। रागादि से युक्त अज्ञानमय भाव बंध के कर्ता हैं तथा रागादि रहित ज्ञानमय भाव बंध के कर्ता नहीं है। ज्ञानी शुद्ध नय से च्युत होकर रागादि भाव का कर्ता होता है, तब उसके भी द्रव्यकर्मों का बंध स्वयमेव होता है। यहाँ भोजन को उदर में स्वयमेव पहुँचकर विभिन्न रस रूप परिणमन करने का उदाहरण[2] देकर राग के सद्भाव में द्रव्य कर्म को स्वयमेव बंधनग्रस्त होने की बात कही गई है।

[6] **संवराधिकार** - यह अधिकार 12 गाथाओं की गद्य तथा 8 कलशों में वर्णित है। यहाँ संवर हेतु उत्कृष्ट उपाय के रूप में भेदज्ञान की महिमा का सुविस्तार से वर्णन किया गया है। भेद विज्ञान से ही शुद्धात्मा की उपलब्धि सम्भव है। बताया गया है कि "जिस प्रकार अग्नि से तप्त स्वर्ण अपना स्वर्ण स्वभाव नहीं छोड़ता है, उसी प्रकार कर्मोदय से तप्त ज्ञानी अपना ज्ञान स्वभाव नहीं छोड़ता है।"[3] अन्त

1- आत्मख्याति, गाथा 146 की टीका.

2- वही, गाथा 179-180 की टीका.

3- वही, गाथा 184 की टीका.

में कहा गया है कि जो लोग बंधनग्रस्त हैं वे भेदज्ञान के अभाव में हैं तथा जो सिद्ध हुए हैं, वह भेदज्ञान के होने पर ही ऐसा हुए हैं। इस तरह शुद्धात्मा की उपलब्धि ही संवर है ।

[7] **निर्जरा** - यह अधिकार 44 गाथाओं की गद्य टीका एवं 30 कलश टीका में वर्णित है। यहाँ यह कहा गया है कि जिसको मोह, राग तथा द्वेष का अभाव है, उस विरागी के उदय में आने वाला कर्म, भोग कर्मबन्ध का कारण नहीं, वरन् निर्जरा का ही कारण है। सम्यग्दृष्टि का विवेचन करते हुए कहा गया है कि जिसमें राग-द्वेषादि का अभाव है, उसके कृत कर्मों की निर्जरा अर्थात् निर्जरण होता है। ज्ञानी के कर्मोदय उसे बन्ध किए बिना निर्जरित हो जाते हैं । ज्ञान व वैराग्य की महिमा एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट की गई है कि जिस प्रकार वैद्य मरण के कारण रूप विष को भोगता हुआ भी, अमोघ विद्याशक्ति सामर्थ्य से विष शक्ति को अवरुद्ध करता हुआ, मरण को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानी मिथ्यादृष्टि को नवीन बंध के कारण होने वाले पुद्गल कर्मोदयों को भोगता हुआ भी, अमोघ ज्ञान की सामर्थ्य द्वारा रागादि भावों के अभाव तथा कर्मोदय की शक्ति को अवरुद्ध करता हुआ, बंध को प्राप्त नहीं होता है ।[1] ज्ञानी को उसके स्व तथा पर के भेदज्ञान से सम्पन्न होने के कारण परभावों के प्रति कांक्षाहीन तथा सात भयों से रहित निःशंक कहा गया है। वह अष्टगुणों से सम्पन्न [निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य तथा प्रभावना] से सम्पन्न है, अतएव उसको केवल निर्जरा ही होती है। इस तरह इस अधिकार में ज्ञानी जीव [सम्यक्दृष्टि] का विवेचन कर यही बताया गया है कि उसके कर्म, बन्ध के कारण नहीं अपितु निर्जरा के ही कारण हैं ।

[8] **बंधाधिकार** - यह अधिकार 51 गाथाओं की गद्य टीका तथा 17 कलशों में वर्णित है। यहाँ बन्ध का कारण "अज्ञान" कहा गया है। यह सम्पूर्णलोक कर्मवर्गणाओं से भरा हुआ है, किन्तु इनके मात्र से जीव बंध को प्राप्त नहीं होता ।

1- आत्मख्याति, गाथा 195 की टीका.

जब उपयोग में रागादि पूर्वक कोई क्रिया सम्पन्न होती है, वही बन्ध का कारण है। अपने को सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी सोचकर निजकृत कर्मों को बन्ध की सीमा से बाहर जानने मात्र से ही जीव बन्धन से मुक्त नहीं होता है। कर्मों के अहंकार का जो रस है, वही कर्म बन्ध का कारण है। आगे पुण्य-पाप दोनों तरह के कर्मों को बन्ध का कारण, नयों का विवेचन कर निश्चयनय को आत्माश्रित, व्यवहार नय को पराश्रित तथा आत्मा को रागादि का कारण नहीं होने आदि की सिद्धि तर्क पूर्ण ढंग से की गई है ।

{9} मोक्षाधिकार - यह अधिकार 20 गाथाओं की गद्य टीका एवं 13 कलश टीका में वर्णित है। इस अधिकार में आत्मा तथा कर्मों के बीच के सन्धि को समाप्त करने हेतु ज्ञानी जीव प्रज्ञारूपी छैनी को सावधान होकर पटकता है ।[1] इसी सन्धि के समाप्ति के पश्चात् मोक्षावस्था का प्रारम्भ होता है। यहाँ बन्ध स्वरूप को जानने तथा इस पर अनवरत विचार करने को ही मोक्ष का कारण नहीं, अपितु बंध के नाश को मोक्ष का कारण कहा गया है। आत्मा तथा बंध की भिन्नता जीव अपने स्वरूप तथा पर स्वरूप में भेद स्थापित कर ही जान सकता है। जो आत्मा ऐसा करने में असक्षम है, वह अपराधी है। उसे दण्ड स्वरूप पुद्गल परमाणु रूप कर्मों से बँधना पड़ता है। इसके विपरीत निरपराधी आत्मा कभी बंधनग्रस्त नहीं होता । इस तरह इस अधिकार में ऐसा स्पष्ट किया गया है कि पर द्रव्यों को अपनाने वाला जीव ही बंधन के जाल में फँसता है। जो जीव अपने स्वरूप गुणों में अधिष्ठित है वह बन्धनमुक्त होता है। मोहराग-द्वेषादि में फँसने वालों के लिए ही बन्ध का प्रयोजन है ।

{10} सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार - यह अमृतचन्द्राचार्य की टीका का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व व्यापक अर्थ सम्पन्न अधिकार है। इसमें 108 गाथाओं की गद्य टीका तथा 54 कलश टीका का समायोजन है। आत्मख्याति में समग्र रूप से वर्णित आत्मा के सभी गुणों में ज्ञान को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कहा गया है, लेकिन समस्त टीका में वर्णित ज्ञान को सर्वथा निर्दोष बनाने का प्रयत्न इसी अधिकार में किया गया है।

1- समयसार, कलश 181.

पूरी कृति में जीव-अजीव, कर्ता-कर्म, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष रूप आठों स्वांगों को जानने वाले ज्ञान का विवेचन किया गया है। इस अधिकार में युक्ति पूर्वक जीव के अकर्ता होने का विवेचन किया गया है। व्यवहार नय से जीव को रागादिभावों का कर्ता तथा भोक्ता कहकर सांख्य मत में पुरुष के सदैव अकर्ता होने का निषेध किया गया है। नय विवक्षा से कर्तृत्व-अकर्तृत्व, नित्यत्व तथा क्षणिकत्व आदि विविध भावों का स्पष्ट विवेचन इस अधिकार में है। परमार्थ से जीव तथा परद्रव्य का क्षेत्र ही अलग-अलग है। अतएव इनमें कर्ता-कर्म का सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है। आत्मा के स्व क्षेत्र का व्यापक वर्णन कर अन्त में कहा गया है कि पूर्णज्ञान स्वरूप सर्वशक्तिसम्पन्न आत्मा को धारण करने पर त्याग योग्य भाव त्यक्त हो जाते हैं तथा ग्रहण करने योग्य भाव ग्राह्य हो जाते हैं। यही कृतकृत्यपना है। ज्ञान, कर्म, नोकर्म आदि से भिन्न है, अतएव उसका कोई इनसे सम्बन्धित आहार नहीं है। अन्त में ऐसे ही जीव को, जो कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व से सर्वथा भिन्न चैतन्य स्वरूप शुद्ध सत्ता है ; उसे समयसार कहा गया है। यही समयसार जगत् में श्रेष्ठ अनुभव करने वाला है । इस ग्रन्थ टीका के अन्य सभी जीव-अजीव, पुण्य-पापादि पात्रों के निष्क्रमण की भाँति सर्वविशुद्ध-ज्ञान रूप पात्र का निष्क्रमण नहीं होता, क्योंकि यह यानी ज्ञायक भाव जीव की वास्तविक व मूल अवस्था है ।

(11) स्याद्वाद अधिकार - यह अधिकार आचार्य अमृतचन्द्र की स्वतंत्र रचना है । यद्यपि स्याद्वाद का प्रयोग कुन्दकुन्द की कृति समयसार एवं अमृतचन्द्राचार्य की टीका में यत्र-तत्र किया गया है । फिर भी इस टीका के अन्त में स्याद्वाद का प्रयोग, मिथ्यामतों द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों की समालोचना तथा उनके विपरीत मत के प्रतिपादन हेतु किया गया है। यहाँ स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा अस्तित्व और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व परभाव की अपेक्षा नास्तित्व, तथा तत्-अतत्, सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि का विशद वर्णन करते हुए आत्मा की अनेकान्तात्मकता प्रतिपादित की गई है। यहाँ स्याद्वाद को समस्त वस्तुओं के स्वरूप को सिद्ध करने वाला, अर्हत, सर्वज्ञ का अस्खलित शासन बताया गया है। अनेकान्त को जिनदेव का अलंघ्य शासन बताते हुए इसके माध्यम से आत्मा

को ज्ञान मात्र कहा गया है। इस अधिकार के अन्त में आत्मा के ज्ञान मात्र स्वभाव के भीतर पड़ने वाली अनन्त शक्तियों में से सैंतालिस शक्तियों का उल्लेख किया गया है। उपसंहार में कहा गया है कि वस्तुस्वरूप की सिद्धि एकान्तवादियों के मत में सम्भव नहीं है, अनेकान्त द्वारा ही उसकी सिद्धि सम्भव है ।

{12} उपाय-उपेय अधिकार - यह अधिकार साधक-साध्य अधिकार के नाम से भी जाना जाता है। वह जीव जो अभी साधक है, वह उपाय है तथा जो सिद्ध रूप है वह उपेय है। आत्मा अनन्त शक्तियों का समूह होते हुए भी नयों की दृष्टि में खण्डित है। यहाँ सभी नय विकल्पों का निराकरण कर आत्मा को एक, अखण्ड, एकान्त, शांत तथा अचल चैतन्य मात्र कहा गया है। उपसंहार में अमृतचन्द्राचार्य लिखते हैं कि वस्तु स्वरूप को कहने में मात्र शब्द ही सक्षम हैं, इसी से समयसार की व्याख्या होती है। इसमें स्वरूप गुप्त अमृतचन्द्र का कुछ भी कर्तृत्व नहीं है। इस तरह आचार्य शब्द मात्र को समयसार की व्याख्या में सक्षम कहकर अपने को इस टीका के कर्तृत्व के श्रेय से वंचित रखना चाहते हैं ।

2. तात्पर्यवृत्ति

समयसार पर टीका स्वरूप लिखी गई कृति "तात्पर्यवृत्ति"के प्रणेता आचार्य जयसेन {द्वितीय} हैं। ये आचार्य कुन्दकुन्द के दूसरे समर्थ टीकाकार हैं, जिस तरह अमृतचन्द्राचार्य कुन्दकुन्दाचार्य की कृति समयसार, प्रवचनसार तथा पंचास्तिकाय पर क्रमशः आत्मख्याति, तत्वदीपिका या तत्त्वप्रदीपिका तथा समयव्याख्या टीका लिखकर कुन्दकुन्दाचार्य के प्रथम सफल टीकाकार के रूप में प्रतिष्ठित हैं, उसीप्रकार जयसेनाचार्य भी कुन्दकुन्दाचार्य की उक्त तीनों कृतियों पर तात्पर्यवृत्ति नामक टीका लिखकर उनके द्वितीय सफल टीकाकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। जयसेनाचार्य की उक्त टीका अमृतचन्द्र की टीकाओं की भाँति मौलिकता का प्रदर्शन तो नहीं करती, लेकिन यह टीका अमृतचन्द्राचार्य की टीकाओं में स्वीकृत मान्यताओं को बिना हानि पहुँचाए यथोचित मान्यताओं का अनुसरण करते हुए सामान्य लोगों के लिए ज्यादा ग्राह्य सिद्ध हुई है । जयसेनाचार्य की समयसार

टीका "तात्पर्यवृत्ति" में समयसार की गाथाओं का विभाजन दस महाधिकार में किया गया है। यहाँ जयसेनाचार्य कुन्दकुन्द की गाथाओं को आवश्यकतानुसार महाधिकार के अलावा अधिकार, अंतराधिकार, विशेषांतराधिकार तथा स्थलों में विभक्त करते हैं। इनकी टीका तात्पर्यवृत्ति के दस महाधिकारों का वर्णन संक्षिप्त रूप से निम्नलिखित है -

पीठिका

आचार्य जयसेन द्वारा चौदह गाथाओं में मंगलाचरण आदि का उल्लेख किया गया है। यहाँ नमस्कार, समयसार शब्द का अर्थ तथा स्वसमय तथा परसमय का अर्थ आदि निरूपित किया गया है। आचार्य इन चौदह गाथाओं को पाँच स्थलों में विभाजित कर निश्चय तथा व्यवहार नय का प्रतिपादन करते हैं। इन्होंने व्यवहार नय तथा निश्चय नय दोनों के दो-दो भेद - अभूतार्थ तथा भूतार्थ बताया है।[1]

[1] **जीवाधिकार** - यह अधिकार 29 गाथाओं की टीका में वर्णित है। इसमें कुछ ऐसी गाथाएँ हैं जो आत्मख्याति में नहीं पायी जाती हैं। इस अधिकार के प्रारम्भ में बताया गया है कि जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध व मोक्ष, पुण्य तथा पाप - ये नव तत्त्व प्रत्येक संसारी आत्मा के साथ लगे हुए हैं। ये सब आत्मा की ही भिन्न-भिन्न परिणतियाँ हैं, जो प्रारम्भिक अवस्था [बंधावस्था] में स्वीकार की जाती हैं, लेकिन आगे चलकर निर्विकल्पक अवस्था [मोक्षावस्था] में सभी अवस्थाएँ समाप्त हो जाती हैं, तथा एक शुद्धात्मा ही मात्र दृष्टिगोचर होती है, जो कि उपादेय है।[2] अन्त में सात स्थलों में विभाजित यह अधिकार उपसंहार सहित 28 गाथाओं में समाप्त होने का संकेत करता है, जबकि लिखित रूप में टीका के इस अधिकार की गाथाओं की संख्या 29 है।

[2] अजीवाधिकार - यह अधिकार तीन स्थलों में विभाजित तीस गाथाओं

1- समयसार टीका, जयसेनाचार्य तात्पर्यवृत्ति, 13.

2- समयसार टीका, तात्पर्यवृत्ति 15.

की टीका स्वरूप है। इसमें प्रारम्भ से दस गाथाओं का वर्ण्य-विषय मुख्य रूप से निश्चयनय से किया गया है, जहाँ देह और रागादि परद्रव्यों का जीव के स्वरूप होने का निषेध किया गया है। इसके बाद क्रम से बारह गाथाओं में अनन्त ज्ञानादि स्वरूप जीव, जो वर्ण रसादि पुद्गल के स्वरूप से रहित है ; को ही उपादेय कहा गया है । अन्त की आठ गाथाओं की टीका में जीव के साथ अन्य किसी तत्त्व के तादात्म्य सम्बन्ध होने का निषेध किया गया है ।

[3] कर्ता-कर्म अधिकार - इस अधिकार का विवेचन टंकों को छोड़कर 78 गाथा पर्यन्त नव स्थलों में चलता है। यहाँ प्रारम्भ की दो गाथाओं में क्रोधादिक परिणमन करने वाले को बहिरात्मा तथा अज्ञानी कहा गया है। पुनः अगले चार गाथाओं में ज्ञानी का विवेचन विभिन्न तरीकों से किया गया है। जीव के सम्बन्ध में शुद्ध चैतन्य मात्र गुण को अनुभव करने, क्रोधादिक भाव के न होने तथा भेदज्ञान होने को एक ही तथ्य का उद्घोषक बताकर जीव का विवेचन किया गया है। इसके आगे की ग्यारह गाथाओं में जीव का विशेष व्याख्यान किया गया है। यहाँ कलश का उपादान रूप से मिट्टी के लोंदे का उदाहरण देकर निश्चय रूप से जीव को कर्मों तथा नोकर्मों का कर्ता कहा गया है। फिर भी आत्मा अपने स्वरूप में परिणमन करते हुए तथा सुख-दुखादि कर्म के फल को जानते हुए भी अपने उदय में आये हुए परद्रव्यों का कर्ता नहीं है। पुद्गल भी वर्णादिरूप अपने परिणाम का कर्ता है। वह ज्ञानादि रूप जीव के परिणाम का कर्ता नहीं है। जीव तथा पुद्गल में परस्पर निमित्त कर्तापना स्वीकार करते हुए उपादान-कर्तापना का सर्वथा निषेध किया गया है। व्यवहार नय से जीव पुण्य-पापादि परिणामों व पुद्गल कर्मों का कर्ता तथा भोक्ता है । निश्चय से वह समस्त प्रकार के पर परिणामों का अकर्ता तथा अभोक्ता है। इसी तरह तीसरे स्थल के 25 गाथाओं में परमार्थ से जीव के कर्तापन के निषेध आदि का विस्तृत विवरण विभिन्न नयों से किया गया है। इसके आगे जैन मत में शुद्ध उपादान वाले शुद्ध निश्चयनय से जीव को कर्मों के कर्तापन का निषेध मिथ्यात्वादि [मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग] को कर्मों का कर्ता बताया गया है। आगे सांख्य मतावलम्बी को समझाने हेतु जीव के विभिन्न पौद्गलिक

परिणमन का वर्णन भी नयों के माध्यम से ही प्रस्तुत किया गया है ।

जीव का स्वभाव तथा ज्ञानमय अजीव का स्वभाव अज्ञानमय है। यह अज्ञान भाव द्रव्य और भाव रूपात्मक मिथ्यात्वादि प्रत्ययों के द्वारा पाँच प्रकार [मिथ्यात्व, असंयम, अज्ञान, कषाय, योग] का होता है। शुद्ध आत्मा ही उपादेय है - ऐसा नहीं समझने वाले अज्ञान भाव में रत होते हैं तथा वे सर्वथा बन्धयुक्त रहते हैं ।[1] इसके पश्चात् निश्चय नय से जीव के परिणाम को कर्म पुद्गलों से पृथक् बताते हुए जीव तथा पुद्गल के परस्पर उपादान कारण होने का निषेध किया गया है। अन्त में जयसेनाचार्य "समयसार" को उसके नैश्चयिक अर्थों में विवेचन करते हैं तथा इसके बंध की व्याख्या को विभिन्न नयों से उद्घाटित कर समयसार की शुद्ध सत्ता स्थापित करते हैं । इस तरह समयसार की टीका तात्पर्यवृत्ति का कर्ता-कर्म अधिकार समाप्त होता है ।

[4] पुण्य-पाप अधिकार - यह अधिकार 19 गाथाओं में वर्णित है। यहाँ जयसेनाचार्य निश्चय नय की अपेक्षा से पुण्य तथा पाप दोनों को एक ही कोटि में रखकर इसे प्रथम की छः गाथाओं में विवेचन किया है। इसके पश्चात् अध्यात्म तथा आगम भाषा में कथित शुद्धात्म भावना तथा वीतराग सम्यक्त्व के बिना किए गए व्रतादि को पुण्य-बन्ध कहकर इसे मोक्ष के हेतु होने का निषेध किया गया है । आगे निश्चय तथा व्यवहार नय से मोक्ष मार्ग का वर्णन किया गया है। अन्त में जिनदेव के उपदेशानुसार मोक्ष मार्ग से विचलित होने के कारण स्वरूप मिथ्यात्व, अज्ञान तथा कषाय को बताया गया है। इससे क्रमशः सम्यक्त्व, ज्ञान तथा चारित्र रुक जाते हैं ।[2]

[5] आस्रव अधिकार - यह अधिकार 17 गाथाओं का है, जो पाँच स्थलों में विभाजित है। प्रथम तीन गाथाओं की टीका का संक्षिप्त उद्देश्य यह बताना है कि सम्यक् दृष्टि जीव के राग-द्वेष तथा मोह रूप आस्रव भाव नहीं होते हैं । आगे की तीन गाथाओं की टीका में राग-द्वेष तथा मोह रूप आस्रवों का वर्णन

---

[1] तात्पर्यवृत्ति [समयसारटीका], 140-44.

[2] समयसार टीका, तात्पर्यवृत्ति, 169-171.

स्पष्ट रूप से उदाहरण सहित किया गया है। इसके पश्चात् तीन गाथाओं की टीका में निश्चय से रत्नत्रय में परिणत होने वाले ज्ञानी जीवों के रागादिक रूप भाव प्रत्यय होने का निषेधात्मक वर्णन किया गया है। अगली चार गाथाओं की टीका में यह कहा गया है कि ज्ञानी जीव में मिथ्यात्व आदि द्रव्य प्रत्ययों के रहने पर भी उनके वीतराग चारित्र की भावना के कारण उनके रागादिक भाव प्रत्यय नहीं होते हैं। अन्तिम चार गाथाओं में यह वर्णन किया गया है कि जीव के रागादिक भाव प्रत्यय के कारण उसमें आने वाले नवीन द्रव्य कर्म के कारण भूत द्रव्य प्रत्यय भी हैं। इस तरह जयसेनाचार्यकृत आस्रवाधिकार का कथ्यविषय समाप्त होता है ।

[6] संवर अधिकार – यह 14 गाथाओं में वर्णित है। प्रारम्भ की तीन गाथाओं की टीका का मुख्य विषय भेदज्ञान से शुद्धात्मा की प्राप्ति, बाद के दो गाथाओं की टीका में ज्ञानी को अपने आत्मा में सुदृढ़ होकर लगे रहने की प्रेरणा दी गई है तथा इसके बाद की गाथा की टीका में आत्मा को शुद्ध भावना से ही शुद्ध होने का कथन किया गया है। इसके पश्चात् तीन गाथाओं की टीका में संवर किस प्रकार होता है? संवर का पात्र कौन है? आदि का विवेचन किया गया है। आत्मा भौतिक रूप से अगम्य है, अतः इसका ध्यान कैसे किया जाय- इसका उत्तर देवता का दृष्टांत देकर कहा गया है कि परोक्ष देवता को जिस तरह किसी के कहने से या स्वयं अनुभव करने से जाना जाता है, उसी तरह आत्मा भी ध्यानगम्य है ।[1] संवर क्रम के व्याख्यान में बताया गया है कि रागादिक भाव से युक्त जीव जन्म-मरण के चक्र में पड़े रहते हैं तथा शरीर एवं आत्मा के भेदज्ञान को प्राप्त किए जीव का भेदज्ञान से संवर होता है। इस तरह जयसेनाचार्य का संवर अधिकार समाप्त होता है ।

[7] निर्जरा अधिकार – यह अधिकार 50 गाथाओं की टीका में वर्णित है, जो छः अंतरअधिकारों में विभाजित है। इसके प्रथम चार गाथाओं की टीका में द्रव्यनिर्जरा, भावनिर्जरा, ज्ञानशक्ति तथा वैराग्य शक्तियों का वर्णन है। इससे

---

[1] समयसार टीका, तात्पर्यवृत्ति, 198.

आगे [illegible] की पाँच गाथाओं में ज्ञान शक्ति तथा वैराग्य-शक्ति का कथन सामान्य रूप से किया गया है। पुनः इसके आगे की दस गाथाओं में ज्ञानशक्ति व वैराग्य-शक्ति का विशिष्ट वर्णन किया गया है। पुनः अगले आठ गाथाओं में मुक्ति के कारण स्वरूप स्वसंवेदन ज्ञान के स्वरूप का विवेचन सामान्य रूप से किया गया है। इसके पश्चात् इसी "ज्ञान" गुण का विशेष वर्णन आने वाले अगले चौदह सूत्रों [गाथाओं] में किया गया है। अन्त में नव गाथाओं में शुद्ध नय का आश्रय लेकर चिदानंद रूप एक स्वभाव वाले शुद्धात्म की भावना के आश्रयभूत निश्चयात्मक निःशंकितादि आठ गुणों की व्याख्या की गयी है।

[8] **बन्ध अधिकार** - यह अधिकार 56 गाथाओं में वर्णित है, जो आठ अन्तर अधिकारों में विभाजित है। इसके प्रथम दस गाथाओं में बन्ध के स्वरूप, मिथ्यादृष्टि एवं सम्यग्दृष्टि की व्याख्या की गई है। सात गाथाओं में हिंसक, अहिंसक के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। छः गाथाओं में निश्चय से रागादिक विकल्प को ही हिंसा कहा गया है। पन्द्रह गाथाओं में व्रत, अव्रत तथा पुण्य-पाप कर्म को पुण्य बन्ध तथा पाप बन्ध कहा गया है। छः गाथाओं में प्रमुखता से यह बताया गया है कि निश्चय में स्थित होने पर व्यवहार नय छूट जाता है। अगली चार गाथाओं में पिण्ड शुद्धि का व्याख्यान किया गया है। यहाँ यह बताया गया है कि प्रासुक अन्नपान रूप आहार का ग्रहण करना राग-द्वेष रहित ज्ञानी जीवों के लिए बन्ध का कारण नहीं होता। इसके आगे की पाँच गाथाओं में निश्चय से कहा गया है कि क्रोधादिक कषाय ही कर्म-बन्ध का निमित्त होते हैं, जो चेतन तथा अचेतन बाह्य द्रव्यों के निमित्त से हुआ करते हैं। अगली तीन गाथाओं में बताया गया है कि जब तक आत्मा द्रव्य और भावों का अप्रतिक्रमण [रागादि का स्मरण करना] तथा अप्रत्याख्यान [रागादिक के विषयों की आकांक्षा] करता है तब तक वह कर्मों का कर्ता तथा बन्धग्रस्त ही रहता है।[1] शुद्धात्मा अप्रतिक्रमण तथा अप्रत्याख्यान से रहित है। अतएव उसका बन्ध नहीं होता है।

[9] **मोक्ष अधिकार** - यह अधिकार जयसेनाचार्य के संकेत के अनुसार 22 गाथाओं

1- समयसार टीका, तात्पर्यवृत्ति, 306-308.

में वर्णित है, जो चार स्थलों में विभाजित है। व्यवहार में मात्र उन्नीस गाथाओं की टीका प्राप्त होती है। प्रथम स्थल में मोक्ष पदार्थ का व्याख्यान सात गाथाओं में उल्लिखित करने का संकेत है, लेकिन गाथा नं० 313 "जह बंधे मुत्तूण" का दो तरह से और पाठ पाये जाने के कारण इन पाँच गाथाओं के स्थान पर सात गाथाएँ समझ लेने को कहा गया है।[1] डॉ० शुद्धात्म प्रभा अपने शोध निबन्ध में 312 तथा 313 गाथा के बीच की दो गाथाओं को काल-कवलित होने का अनुमान लगाती हैं।[2]

अगले स्थल की चार गाथाओं में मोक्ष के कारणभूत भेद ज्ञान का लक्षण आदि बताया गया है। इसके बाद के स्थल के संकेतानुसार पाँच गाथाओं में भेद विज्ञान का विशेष वर्णन किया गया है, लेकिन यहाँ भी गाथाओं की संख्या चार ही है। अन्त की छः गाथाओं में वीतराग, चारित्र वाले जीव के लिए द्रव्य प्रतिक्रमणादि विषकुम्भ कहा गया है तथा सराग चारित्र वाले जीव के लिए अमृतकुम्भ कहा गया है। वीतराग चारित्र वालों के लिए कोई कर्म अपराध नहीं होता इसलिए उसे पश्चाताप स्वरूप प्रतिक्रमणादि की आवश्यकता नहीं होती। प्रतिक्रमणादि रागादि रूप ही है। अतएव उसके लिए यह विषकुम्भ होता है तथा सराग चारित्र वालों के लिए प्रतिक्रमणादिक भले मोक्ष का कारण न हो, लेकिन पुण्यवर्धक तो अवश्य है। अतएव सराग चारित्र वालों के लिए प्रतिक्रमणादि को अमृतकुम्भ कहा गया है।

[10] सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार - इस अधिकार में मोक्ष तत्त्वचूलिका का वर्णन चौदह गाथाओं की टीका में तथा समयसार चूलिका का वर्णन छियानवे [96] गाथाओं की टीका में किया गया है।

मोक्ष तत्त्व चूलिका के प्रथम चार सूत्रों में निश्चय से जीव के कर्ता होने का निषेध किया गया है। अगले चार सूत्रों में अज्ञान का सामर्थ्य बताते हुए कहा गया है कि अज्ञान से आच्छादित जीव रागादि भाव युक्त होता है तथा उसी

1- समयसार टीका, तात्पर्यवृत्ति, पृ० 262.

2- आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार एक समालोचनात्मक अध्ययन, पृ0223.

के ज्ञानावरणादि प्रकृतियों का बन्ध होता है। इसके पश्चात् आने वाले चार सूत्रों में निश्चय से जीव के भोक्तृत्व का निषेध किया गया है। वहाँ जैसे शक्कर सहित दुग्ध को पीकर भी पन्नग(साँप) के निर्विष नहीं होने का उदाहरण है, वैसे ही जीव के साथ दिया गया है जो वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान के अभाव में शास्त्रादि के अध्ययनोपरान्त भी मिथ्यात्व व रागादि भाव को नहीं छोड़ता है। ज्ञानी आत्मा अपने स्वभाव में तल्लीन रहता है। इसका विपरीत भाव कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व का भाव है जो ज्ञानी जीव के साथ कभी सामंजस्य स्थापित नहीं कर सकता। अन्त में उपसंहार के दो सूत्रों में जीव को चक्षु की भाँति मात्र दर्शक तथा ज्ञाता बताकर उसके कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व का निषेध किया गया है।

समयसार चूलिका

इस चूलिका का वर्णन 96 गाथाओं की टीका में जयसेनाचार्य ने किया है। यहाँ प्रथम सात गाथाओं में इस तथ्य का विवेचन किया गया है कि देवादि-पर्यायों (सुर, नारक, तिर्यंच तथा मनुष्य) का कर्ता विष्णु नहीं है। इसी तरह छः काय के जीवों का कर्ता आत्मा नहीं है। अगली चार गाथाओं में बौद्धों के मत "कर्ता कोई दूसरा है तथा भोक्ता कोई दूसरा ही है", का निराकरण किया गया है। इसके आगे की पाँच गाथाओं में सांख्य के मत - "परमात्मा (पुरुष) रागादि भावों का कर्ता नहीं है; का निराकरण प्रस्तुत किया गया है। पुनः अगली तेरह गाथाओं में "कर्म ही सुखादि करता है, आत्मा कुछ नहीं करता", का निराकरण किया गया है। अगली सात गाथाओं में पुरुष के सम्बन्ध में यह समझाया गया है कि वह चित्त में होने वाले रागादिक भाव को घात करने के बदले बहिरंग शब्दादि विषयों का ही घात करने की सोचता है। ऐसा करने से वह कभी भी कर्तृत्व से विरत नहीं होता तथा मोक्ष से सदैव वंचित रहता है। अगली सात गाथाओं में आत्मा को स्वर्णकारादि शिल्पकार का उदाहरण देकर यह कहा गया है कि जिस तरह स्वर्णकारादि शिल्पकार कुण्डल का कर्ता तथा उसके कोमल आदि फल का भोक्ता होता है, लेकिन उसमें तन्मय नहीं होता उसी तरह जीव द्रव्य कर्मों का व्यवहार से कर्ता-भोक्ता है, उसके भावों का कर्ता नहीं होता है। अगला

दस सूत्र वेदान्त मतानुसारी शिष्य को समझाने के लिए है। यहाँ यह समझाया गया है कि ज्ञान गुण, ज्ञेय रूप में परिणमन नहीं करता । जिस प्रकार श्वेत मिट्टी भीत आदि को सफेद करती है, फिर भी निश्चय से उसमें तन्मय नहीं होती, उसी प्रकार जीव भी व्यवहार से ज्ञेय भूत द्रव्य को जानता तथा देखता है, दूर करता है, श्रद्धान् करता है, लेकिन उसमें तन्मय नहीं होता। अगली चार गाथाओं में शुद्धात्मा की प्राप्ति हेतु निश्चय प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान तथा आलोचना रूप चारित्र का व्याख्यान किया गया है। इसके बाद की दस गाथाओं में पाँचों इन्द्रियों तथा मन के विषयों के निरोध करने से सम्बन्धित कथन है। पुनः अगली तीन गाथाओं में मुख्यता से कर्मचेतना तथा कर्मफल चेतना का नाश करने को बताया गया है ।

इसके पश्चात् पन्द्रह गाथाओं में ज्ञान का स्वरूप बताते हुए यह कहा गया है कि शास्त्र तथा इन्द्रियों के विषय शब्दादि – ये सब ज्ञान नहीं हैं। ज्ञान इन सबों से भिन्न है। अगली तीन गाथाओं में आत्मा को निश्चय से कर्म तथा नोकर्म आदि को ग्रहण नहीं करने का कथन किया गया है। अगली सात गाथाओं में बताया गया है कि शुद्धात्मा की भावना रूप जो भावलिंग है, उस भावलिंग से शून्य जो द्रव्यलिंग है, वह मुक्ति का कारण नहीं होता। मुक्ति का कारण आत्म-परिणाम है जो सम्यक्दर्शन-ज्ञान तथा चारित्र है। अन्त में उपसंहार स्वरूप इस ग्रन्थ की उपादेयता का वर्णन किया गया है। इसे अध्ययन, मनन एवं व्यवहार में लाने से परमानन्द की उपलब्धि होती है ।

जयसेनाचार्य भी अपनी समयसार की टीका तात्पर्यवृत्ति के अन्त में अमृतचन्द्राचार्य की भाँति स्याद्वादाधिकार का प्रयोजन करते हैं। इनका यह स्याद्वाद अधिकार अत्यन्त संक्षिप्त है । यहाँ वस्तु तत्व की व्यवस्था के विचार के साथ-साथ उपाय-उपेय भाव पर भी विचार किया गया है। यहाँ स्याद्वाद के स्वरूप से सम्बन्धित श्रीसमंतभद्राचार्य के श्लोकों को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। सबसे अन्त में मंगलाचरण स्वरूप आचार्य कुन्दकुन्द व उनकी कृति समयसार के प्रति प्रशस्ति गान किया गया है ।

समयसार की टीका तात्पर्यवृत्ति की विशेषताएँ

समयसार की टीका तात्पर्यवृत्ति की पहली विशेषता इसकी भाषा की सहज बोधगम्यता है। जयसेनाचार्य ने आवश्यकतानुसार सर्वत्र अन्वयार्थ, भावार्थ तथा तात्पर्यार्थ का उल्लेख कर समयसार टीका को बोधगम्य व सरल बनाने का प्रयत्न किया है। इसके विपरीत अमृतचन्द्राचार्य की टीकाएँ मूल गाथाओं के रहस्यमय अर्थों को स्पष्ट कर अपनी मौलिकता का परिचय देती हैं। एक विशुद्ध टीकाकार के रूप में जयसेनाचार्य ही अग्रणी हैं।

जयसेनाचार्य ने अपनी इस टीका में कुन्दकुन्दाचार्य की गाथाओं को आवश्यकतानुसार महाधिकार, अधिकार, अंतराधिकार, विशेषांतराधिकार तथा स्थलों में विभाजित किया है। महाधिकार तथा अधिकार की पीठिका में गाथाओं के वर्ण्य-विषय को संख्या सहित वर्णन किया गया है जो पाठकों के लिए पूर्व ज्ञान कराने का द्योतक है। पीठिका [पातनिका] में सामान्य पातनिका, समुदायपातनिका आदि तरह-तरह की पातनिकाओं का उल्लेख इसके भिन्न-भिन्न अर्थों में किया गया है। जयसेनाचार्य की यह तात्पर्यवृत्ति टीका नयों के उल्लेख करने में अमृतचन्द्र से आगे बढ़कर निश्चय-व्यवहार तथा द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिक के भेद-प्रभेदों का भी उल्लेख करती है। आत्मख्याति में निश्चय-व्यवहार तथा द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक नय के भेद-प्रभेद का विवेचन नहीं किया गया है।

समयसार की टीका तात्पर्यवृत्ति में चार सौ उनतालीस [439] गाथाओं की टीका का उल्लेख मिलता है, यद्यपि चार सौ सैंतीस [437] गाथाओं की टीका उपलब्ध है। इस तरह इस टीका में अमृतचन्द्राचार्य की आत्मख्याति से चौबीस गाथाएँ अधिक पायी जाती हैं। अधिकारों के विभाजन में आत्मख्याति का उल्लेख करते हुए भी जयसेनाचार्य ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। आत्मख्याति के कर्ताकर्म अधिकार का प्रयोजन तात्पर्यवृत्ति में नहीं हुआ है। जयसेनाचार्य ने समस्त उपलब्ध चार सौ सैंतीस [437] गाथाओं को पीठिका, दस अधिकार तथा सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार के दो चूलिका रूप में विभाजित कर समयसार की व्याख्या

की है । यह टीका अमृतचन्द्र की आत्मख्याति से प्रेरित है। यहाँ अमृतचन्द्र की शैली के साथ-साथ उनके द्वारा की गई टीका स्वरूप कलशों का उदाहरण भी जयसेनाचार्य प्रस्तुत करते हैं ।[1]

इस तरह समयसार की टीका तात्पर्यवृत्ति अपने पूर्व परम्परा से अनुप्राणित होकर सरल एवं सुग्राह्य रूप से आचार्य कुन्दकुन्द की गाथाओं का अर्थ प्रकाशन करती है। आत्मख्याति से यह टीका प्रभावित होते हुए भी अपनी मौलिकता के प्रकाशन को लेकर कहीं-कहीं आत्मख्याति से भिन्न शैली भी अपनाती है। उदाहरण स्वरूप जयसेनाचार्य अपनी इस टीका में अन्य आचार्यों के उद्धरण को प्रस्तुत करते हैं। यथा- स्याद्वाद अधिकार में श्री समंतभद्राचार्य के चार श्लोकों का प्रमाण उद्धृत कर स्याद्वाद का विवेचन किया गया है ।[2] यह टीका आत्मख्याति के रहते हुए भी लोकप्रिय है, इसका कारण कुन्दकुन्द की गाथाओं के सही अर्थ का सरल ढंग से सम्पादन भी है, यह सामान्य पाठकों की आत्मिक क्षुधा को शान्त करने में सर्वाधिक सक्षम है । कुन्दकुन्दाचार्य के समयसार पर अमृतचन्द्राचार्य तथा जयसेनाचार्य के अलावा और भी टीकाएँ की गई थी । आचार्य प्रभाचन्द्र की संस्कृत टीका समयसारवृत्ति, एक अज्ञात संस्कृत टीका, विशालकीर्ति तथा जितमुनि की टीका का उल्लेख मिलता है ।[3] आचार्य मल्लिषेण तथा बालचन्द्रदेव की क्रमशः तमिल तथा कन्नड़ भाषाओं में भी की गई टीका का उल्लेख मिलता है। इसके पश्चात् हिन्दी में भी अनेकों टीकाएँ की गई हैं, जो उपलब्ध हैं ।

समयसार की टीका आत्मख्याति का दार्शनिक महत्व

समयसार तथा उसकी टीका आत्मख्याति द्रव्यानुयोग विषयक ग्रन्थ है। द्रव्यानुयोग विषयक ग्रन्थ में द्रव्य, गुण, पर्याय आदि वस्तु स्वरूप का विवेचन होता है। आत्मख्याति आत्म प्रधान कृति है। यहाँ प्रकारान्तर से आत्मानुभूति

1- "तथाचोक्तं" कर के जयसेनाचार्य अपनी गाथा सं0 150 की टीका में समयसार कलश 69-70 का उल्लेख करते हैं। इस तरह अनेक जगहों पर ऐसा देखने को मिलता है ।

2- समयसार टीका, तात्पर्यवृत्ति, पृ0 361.

3- डॉ0 मोहन लाल व प्रो0 हीरालाल का0 : जैन साहित्य का बृहद इतिहास, भाग-4, पृ0 153.

की ही प्रेरणा दी गई है। समयसार में निश्चय नय तथा व्यवहार नय के सन्दर्भ में जीव का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसके प्रथम अधिकार "जीवाजीवाधिकार" में स्व-समय-परसमय का विवेचन तथा शुद्ध नय तथा अशुद्ध नय के स्वरूप, जीव-अजीव के अलग-अलग स्वरूप गुण तथा इनके बीच के भेद ज्ञान पर प्रकाश डाला गया है। इसी तरह इसके कर्ता-कर्म अधिकार, पुण्य-पापाधिकार, आस्रवाधिकार, संवराधिकार, निर्जराधिकार, बन्धाधिकार तथा मोक्षाधिकार में सभी जगह आत्मा से सम्बन्धित निश्चय तथा व्यवहार नय का कथन किया गया है। समयसार का अन्तिम अधिकार "सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार" है, जिसे पूरी कृति के प्रतिपाद्य विषय के शब्दकोष की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। यहाँ आत्मा को शुद्ध चैतन्य स्वरूप के साथ ज्ञायक स्वभाव के रूप में परिस्फुट रूप से वर्णित किया गया है। ज्ञायक भाव आत्मा का स्वभाव है। आत्मा ज्ञान रूप होने के कारण ही अपना भाव रूप परिणमन करता है तथा इसी ज्ञान से रहित आत्मा विभाव रूप धारण कर बन्धनग्रस्त होता है। यह ज्ञान "भेदज्ञान" है। भेदज्ञान का तात्पर्य आत्मा के स्वभाव तथा इससे भिन्न पौद्गलिक भाव के बीच के भेद के ज्ञान से है । उक्त सभी तथ्यों का विवेचन "सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार" में प्रस्तुत किया गया है । इस अधिकार का वर्ण्य-विषय समयसार के सारांश रूप को प्रतिपादित करना है।

इससे भी आगे बढ़कर अमृतचन्द्र ने समयसार के "विशुद्धज्ञानाधिकार" के अतिरिक्त एक अलग अधिकार का प्रयोजन किया है, जो स्याद्वाद है। जिस तरह समयसार का "विशुद्धज्ञानाधिकार" इसके वर्णित तथ्यों के लिए शब्द कोष है उसी तरह अमृतचन्द्र का स्याद्वाद अधिकार "आत्मख्याति" के वर्णित तथ्यों के लिए व्याकरण है। अमृतचन्द्र ने समयसार के तत्वों की आध्यात्मिक व्याख्या के साथ-साथ स्याद्वाद रूप में आत्मा के सम्बन्ध में जिन नय पक्षों का प्रस्तुतीकरण किया है, उससे उसकी दार्शनिक व्याख्या स्पष्ट होती है। अमृतचन्द्र निश्चयनय तथा व्यवहारनय से आत्मा के सम्बन्ध में विवेचन करने तथा उसमें नयों के सम्बन्ध में प्रधान तथा गौड़ भाव की नीति अपनाने के लिए पुरुषों के सम्मुख आत्मा के

सम्बन्ध में चौदह भड्.गों का वर्णन किया है।[1] इसमें आत्मा के सम्बन्ध में तत्-अतत्, एक-अनेक, सत्-असत् तथा नित्य-अनित्य का कथन करके यह स्पष्ट किया है कि एकान्त से ज्ञानमात्र [आत्मा] का अभाव होता है और अनेकान्त से आत्मा का यथार्थ बोध होता है। इसके साथ ही समयसार के "सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार" के माध्यम से ज्ञान का ठोस विवेचन कर जीव का अत्यन्त परिमार्जित रूप उपस्थित किया गया है। विज्ञानमय तथा परमानन्दमय जो आत्मा है उसका प्रत्यक्ष अनुभव ज्ञान के ही द्वारा होता है। यह ज्ञान विकल्पातीत होने से एक है तथा अविनाशी है। जगत् के पदार्थों को प्रकट करने के लिए चक्षु स्वरूप है। इस तरह आत्मतत्त्व ज्ञान मात्र है। यह ज्ञान अखण्ड, अचल, स्वसंवेदनयोग्य तथा अविनाशी है ।[2] यही ज्ञान मात्र शुद्धात्म तत्त्व समयसार की टीका आत्मख्याति की प्रस्तुति है। इसप्रकार आत्मख्याति में आत्मा की दो अवस्थाओं का उल्लेख किया गया है --

[1] स्वसमय, एवं
[2] परसमय ।

स्व के निमित्त से आत्मा का होने वाला परिणमन स्वसमय है, अर्थात् स्वभाव में स्थित जीव को स्वसमय तथा परपर्यायों में परिणमन करने वाला जीव परसमय कहलाता है ।[3] इन दोनों अवस्थाओं के कथन हेतु दो नय पक्षों का आश्रय लिया गया है। निश्चय नय आत्मा के स्वाभाविक गुणों का कथन करता है, अर्थात् स्वसमय का कथन करता है तथा व्यवहार नय पर भावों यानी पौद्गलिक भावों के निमित्त से आत्मा में होने वाले परिणमन का कथन करता है । इस तरह यह नय परसमय का कथन करता है ।

इसप्रकार आत्मख्याति की यह महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है कि अमृतचन्द्र ने अध्यात्म के प्रतिपाद्य विषय, आत्म विवेचन की परम्परा को स्याद्वाद के

1- समयसार, कलश 247-260.

2- वही, 244-45.

3- आत्मख्याति, गा0 2 की टीका.

सन्दर्भ में व्याख्यायित कर एक नया योगदान प्रस्तुत किया है। अध्यात्म की परम्परा में मुख्यता से आत्मा का वर्णन निश्चय तथा व्यवहार नय से किया जाता है। यहाँ इस तरह के वर्णन का लक्ष्य आत्मा के अनेकान्त गुणों को निश्चय तथा व्यवहार नय दो भागों में विभक्त कर, आत्मा के स्वभाविक गुणों का कथन निश्चय नय से तथा इससे भिन्न उसके परभावों का कथन व्यवहार नय से करना होता है। अमृतचन्द्र ने आत्म वर्णन को अनेकान्त, नय आदि के सन्दर्भ में उक्त परम्परा से थोड़ा आगे बढ़कर प्रस्तुत किया है। "आत्मख्याति" के प्रारम्भ में वही अनेकान्त-रूप मूर्ति के नित्य प्रकाशित होने की चर्चा की है, जो अनन्त धर्मों से युक्त शुद्ध-आत्मा के स्वरूप का अवलोकन करती है ।[1] अनेकान्त आत्मा के सम्बन्ध में अस्तित्व, नास्तित्व आदि परस्पर विरोधी गुणों का कथन कर इसके अनेक धर्मों का समन्वय प्रस्तुत करती है। "आत्मख्याति" में आत्मा के अनेक गुणों में से सैंतालिस गुणों का वर्णन अमृतचन्द्र करते हैं, जिससे आत्मा ज्ञान दर्शन तथा चेतना रूप परिणमन करता है । आत्मतत्व के निर्दोष विवेचन हेतु अमृतचन्द्र ने स्याद्वाद शैली का प्रयोग एक स्वतन्त्र अधिकार में अलग से किया है। यहाँ आत्मा का विवेचन निश्चय तथा व्यवहार नय के सन्दर्भ में किया गया है तथा निश्चय नय से एक सीधी सी बात न कहकर आत्मा के विभिन्न गुणों का उल्लेख प्रस्तुत किया गया है ।[2]

इस प्रकार आत्मख्याति का दार्शनिक महत्व उसके स्याद्वाद शैली में निहित है, जिसके माध्यम से आत्मतत्व का निर्दोष विवेचन प्रस्तुत किया गया है। आत्मख्याति मूल रूप से समयसार की टीका होते हुए भी अपने से पूर्व तत्व विषयक साहित्यों के साथ सामंजस्य प्रस्तुत कर जैन परम्परा में अपने अनुवर्ती साहित्य के लिए प्रेरणास्रोत का प्रतीक है। पं0 कैलाश चन्द्र शास्त्री लिखते हैं कि "कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों में निहित अस्पष्ट तत्व को भी अमृतचन्द्राचार्य ने स्पष्ट कर के जैन तत्व ज्ञान को समृद्ध किया है ।"[3] यह कृति परवर्ती टीकाओं के मार्गदर्शक मात्र ही नहीं वरन् अमृतचन्द्र की प्रौढ़ता, दार्शनिक विवेचन की गम्भीरता तथा अध्यात्मविवेचन की विशेषता के कारण भी वास्तव में आत्म-विषयक ग्रन्थों में महत्वपूर्ण स्थान रखती है ।

1- समयसार, कलश 2.

2- वही, पृ0 332-36.

3- शास्त्री कैलाशचन्द्र : जैन साहित्य का इतिहास, पृ0 176.

द्वितीय भाग : लेखक परिचय : व्यक्तित्व व कर्तृत्व

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि : व्यक्तित्व परिचय

आचार्य अमृतचन्द्र का व्यक्तित्व दर्शन जगत् में सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिकता का आदर्श उपस्थित करता है। उनके बहुमुखी व्यक्तित्व का परिचय उनकी कृतियों से मिलता है। वे दर्शन के क्षेत्र में आध्यात्मिक, तार्किक, नैयायिक, सफल टीकाकार एवं मौलिक ग्रन्थों के प्रणेता के रूप में प्रतिष्ठित हैं । इसके अलावा उनके व्यक्तित्व का दूसरा पक्ष साहित्य से सम्बन्धित है, जिसमें उनके नाटककार, गद्य, पद्य व चम्पू काव्यकार तथा भाषा एवं व्याकरण के मर्मज्ञ विद्वान् के रूप में उनका नाम बड़े ही गौरव के साथ लिया जाता है। आचार्य अमृतचन्द्र के दार्शनिक व्यक्तित्व का सर्वाधिक श्रेष्ठ पहलू उनका अध्यात्म रसिक होना है । आचार्य की समयसार की टीका "आत्मख्याति" अध्यात्म विवेचन का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है । आचार्य के समयसार टीका प्रणयन का उद्देश्य ही निजात्मानुभूति तथा परमविशुद्धि की प्राप्ति है ।[1] अपनी टीका के मंगलाचरण में समस्त पदार्थों में श्रेष्ठ समयसार यानी "आत्मतत्त्व" के प्रति अपना नमस्कार अर्पित कर आचार्य आध्यात्मिक दृष्टिकोण का परिचय देते हैं ।[2] उनकी आध्यात्मिक प्रतिष्ठा में निजात्मतत्त्व एवं परम् विशुद्धता की प्राप्ति के लिए समस्त मोहादि को वमन करने वाले श्री जिन प्रभु के स्यात् पद से अङ्कित वचनों में रमण करने को कहा गया है ।[3] आचार्य अमृतचन्द्र आत्मज्योति को अद्वैत, चैतन्यचमत्कार तथा तेजपुञ्जस्वरूप कहते हैं। ऐसी शुद्धात्मा की अनुभूति से समस्त विकल्प नय, प्रमाण तथा निक्षेपों का अन्त हो जाता है तथा अद्वैत रूप आत्मा ही प्रकाशित होती रहती है ।[4] आचार्य बताते हैं कि यही अनुभूति जगत् के लिए अनुकरणीय है। इसके अनुकरण से बद्ध, स्पष्ट आदि भावों का अन्त होता है ।[5]

---

[1] समयसार, कलश 3.

[2] वही, 1.

[3] वही, 4.

[4] वही, 9.

[5] वही, 11.

आध्यात्म रस में निमज्जित आचार्य अमृतचन्द्रसूरि सम्पूर्ण जगत् के प्रति ऐसा आह्वान करते हैं कि जगत् मोह को त्याग कर स्व तथा पर के भेदज्ञान का रसास्वादन करे ।[1] ऐसा करने हेतु यदि मरणपर्यन्त भी कष्ट उठाना पड़े तो भी इस तत्त्व का कौतूहली बन जाना चाहिए। इससे एक मुहूर्त मात्र में परद्रव्य, परभावों से पृथक् अपने प्रकाशमान आत्मा को देखकर उसका अनुभव किया जा सकता है, साथ-साथ परद्रव्यों के प्रति एकत्व बुद्धि, मोह भाव का स्वयं त्याग किया जा सकता है ।[2] अमृतचन्द्राचार्य आत्मानुभूति के स्वाद का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि – मैं सर्वाङ्ग में आत्मरस से परिपूर्ण अपने एक स्वरूप को स्वयं सचेतन अनुभव करता हूँ । मोहजन्य भाव मेरे नहीं हैं, मैं तो शुद्ध चैतन्य रस का महोदधि हूँ।[3]

आचार्य ने अपनी प्रवचनसार की टीका "तत्त्वप्रदीपिका" का प्रणयन परमानन्द रूप सुधारस के पिपासु भव्यजनों के हित हेतु किया है, जिसमें आध्यात्म तत्त्व स्पष्ट रूप से मुखर होता है ।[4] आध्यात्मिक परम्परा का अनुसरण करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र भी अपनी टीकाओं तथा मूल कृतियों के लेखक होने का श्रेय नहीं लेना चाहते हैं। इस तथ्य का परिचय आत्मख्याति कलश टीका, तत्त्वप्रदीपिका टीका तथा समयव्याख्या टीका के अन्तिम पद्य से मिलता है । इस प्रकार आचार्य अमृतचन्द्र का व्यक्तित्व एक सफल टीकाकार के रूप में भी महत्वपूर्ण है। इनके सम्बन्ध में कहा गया है कि जिस प्रकार मल्लिनाथ, महाकवि कालिदास के ग्रन्थों के मर्मज्ञ थे, उसी प्रकार आचार्य अमृतचन्द्र आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के मर्मज्ञ व्याख्याता थे ।[5] जिस तरह आचार्य विद्यानन्द स्वामी के अभाव में आचार्य अकलंक के ग्रन्थों का मर्म समझना कठिन होता, उसी तरह अमृतचन्द्राचार्य के बिना कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों का रहस्य समझना भी कठिन होता । उनकी आध्यात्म विषयक

1- समयसार, कलश 22.

2- वही, 23.

3- वही, 30.

4- प्रवचनसार टीका, 3.

5- डा० नेमिचन्द्र : तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग-2, पृ०402.

टीका साहित्य प्रमेय की दृष्टि से उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना उनका मूल अध्यात्म साहित्य।[1]

सफल टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र की सभी टीकाएँ अपने महत्त्वपूर्ण उद्देश्य के साथ रची गई हैं। आचार्य आत्मख्याति के प्रारम्भ में ही लिखते हैं कि – "पर-परिणति के कारण मोह नामक कर्म के अनुभव से मेरी परिणति मलिन हो रही है। इस व्याख्या से मेरा प्रयोजन रागादि-मलिन अनुभूति दूर होने तथा शुद्धज्ञानानन्द स्वभाव सहज आत्मतत्त्व की अनुभूति होने से है।[2] इसी तरह आचार्य "प्रवचनसार" की अपनी टीका में लिखते हैं कि – "परमानन्द रूप अमृतरस के पिपासु भव्यजनों के हित के लिए वस्तुतत्त्व को स्पष्ट दर्शाने वाली प्रवचनसार की टीका की जा रही है।"[3] पंचास्तिकाय की टीका में उन्होंने कहा है कि समयव्याख्या टीका सम्यग्ज्ञान रूपी निर्मल ज्योति को जन्म देने वाली [जननी] तथा निश्चय-व्यवहार दोनों नयों के आश्रय से रची गई है।[4] इस तरह इनकी टीकाओं का उद्देश्य परम शुद्धात्मा सत्ता का वर्णन करना ही है। आचार्य अमृतचन्द्र का व्यक्तित्व एक श्रेष्ठ तार्किक व नैयायिक के रूप में भी प्रतिष्ठित है। वे आत्मा का अध्ययन, युक्ति का अवलम्बन, परापर गुरु का उपदेश पाना तथा स्वसंवेदन – इन चार उपायों से उत्पन्न हुए अपने ज्ञान के वैभव से एकत्वविभक्त शुद्ध आत्मा का स्वरूप दिखलाते हैं।[5] आचार्य न्याय का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि मिथ्यात्व, गुणस्थान, पौद्गलिक मोह इत्यादि कर्म की प्रकृति के उदय होने से अचेतन ही होते हैं। इसे अमृतचन्द्राचार्य जौ से जौ ही होने का उदाहरण देकर समझाते हैं।[6] यथा – कारण के अनुसार ही कार्य होता है, ऐसा जानकर जौ पूर्वक होने वाले जौ, जौ हैं, वे जौ ही होते हैं। इसी न्याय से वे कर्म पुद्गल ही हैं।

1- शास्त्री कैलाशचन्द्र : जैन साहित्य का इतिहास, भाग-2, पृ0 172.

2- समयसार कलश 3.

3- प्रवचनसार टीका, पद्य 3.

4- समयव्याख्या टीका, मंगलाचरण पद्य 3 तथा 4.

5- समयसार टीका, आत्मख्याति, 5.

6- वही, 68.

इस तरह इनकी टीका व मूल कृतियों में भी तर्क तथा न्याय के बहुत सारे उदाहरण मिलते हैं। अतएव नैयायिक के रूप में भी अमृतचन्द्राचार्य सुसम्पन्न व्यक्तित्व वाले हैं । इसके पश्चात् आचार्य अमृतचन्द्र के व्यक्तित्व का साहित्यिक पक्ष भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वे नाटककार, गद्य, पद्य तथा चम्पू काव्यकार के रूप में अत्यन्त ही प्रतिष्ठित हैं । आचार्य कुन्दकुन्द की कृति समयसार को सर्वप्रथम नाटक का रूप देने का श्रेय आचार्य अमृतचन्द्रसूरि को ही है । समयसार की टीका आत्मख्याति में अधिकारों को नाटकीय शैली से प्रस्तुत किया गया है। उन्होंने जीव तत्त्व की सांसारिक अवस्थाओं का पात्राभिनय द्वारा अनुकरण किया है। वे अवस्थाएँ हैं - कर्ता-कर्म, पुण्य-पाप, आस्रव संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष तथा सर्वविशुद्धज्ञान। इनके टीका की नाटकीय कथा का मुख्य पात्र "ज्ञानज्योति" ही है । वे इस शैली के अनुरूप लिखते हैं कि वह आस्रव, महामद के अतिशय से भरा हुआ मन्थर चाल से समर रूपी रंगभूमि में आ पहुँचा है। ऐसे आस्रव को यह दुर्जय बोध रूपी धनुर्धर सहज ही जीत लेते हैं, जो उदार, गम्भीर तथा महान् उदय से सहित हैं।[1] इस तरह वे बन्ध तत्त्व के विषय में लिखते हैं कि "रागद्वेषादि के उद्गार (तीव्रोदय) रूप महारस के द्वारा समस्त जगत् को प्रमत्त कर रस के समूह से परिपूर्ण महानाट्य के द्वारा क्रीड़ा करते हुए बन्ध तत्त्व को, जो दूर कर रहा है ; वह आनन्द रूपी अमृत का निरन्तर उपभोग तथाआत्मा की सहज स्वाभाविक अवस्थाओं को प्रकट कर रहा है ।"[2]

आचार्य अमृतचन्द्र अपनी टीका आत्मख्याति में वर्णित सभी तत्त्वों का पदार्पण रंगमंच पर नाटकीय ढंग से कराते हैं। रंगमंच पर जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष - इन नव तत्त्वों का स्वांग दिखाया गया है। "जीवाजीवाधिकार" की शुरुआत में कहा गया है कि जीव द्रव्य तथा अजीव-द्रव्य दोनों एक होकर रंगभूमि में प्रवेश कर रहे हैं,[3] तथा अन्त में जीव तथा अजीव

1- समयसार, कलश 113.

2- वही, 163.

3- अथजीवाजीवावेकीभूतौ प्रविशतः ।

पृथक् होकर रङ्गभूमि से बाहर निकल गये ।[1] "कर्तृकर्माधिकार" में कहा गया है कि जीव तथा अजीव ही कर्ता तथा कर्म का स्वांग रखकर रङ्गभूमि में प्रवेश करते हैं ।[2] तथा अन्त में जीव तथा अजीव को कर्ता तथा कर्म का वेश छोड़कर बाहर चले जाने का संकेत किया है ।[3] इसी तरह पुण्य-पाप को एक ही कर्म के दो पात्रों के रूप में प्रवेश करने का कथन किया गया है[4] तथा प्रस्थान रूप में कहा गया है कि जो कर्म पुण्य तथा पाप के रूप में दो पात्र बन कर नृत्य कर रहा था अब वह एक पात्र होकर रङ्गभूमि से बाहर निकल गया।[5] इसी तरह आस्रव[6], संवर[7], निर्जरा[8], बन्ध[9], तथा मोक्ष[10], के अधिकारों का वर्णन किया गया है। इसी तरह "सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार" में भी मोक्ष तत्त्व का स्वाङ्ग निकलने के बाद सर्वविशुद्ध ज्ञान का प्रवेश करना कहा गया है।[11]

इस तरह आचार्य की कृतियों से उनके व्यक्तित्व के नाटककार पक्ष का स्पष्ट उदाहरण मिलता है। एम0 शुयलर ने संस्कृत नाटकों की नामानुक्रमणिका में

1- इति जीवाजीवौ पृथग्भूत्वा निष्क्रांतौ .

2- अथ जीवाजीवावेव कर्ता-कर्म वेषेण प्रविशतः .

3- इति जीवाजीवौ कर्तृकर्मवेष विमुक्तौ निष्क्रांतौ .

4- अथैकमेव कर्म द्विपात्रीभूय पुण्यपापरूपेण प्रविशति .

5- इति पुण्यपापरूपेण द्विपात्री भूतमेकपात्रीभूय कर्म निष्क्रांतम् .

6- अथ प्रविशत्यास्रवः । इति आस्रवो निष्क्रांतः .

7- अथ प्रविशति संवरः । इति संवरो निष्क्रांतः .

8- अथ प्रविशति निर्जरा । इति निर्जरा निष्क्रांतः .

9- अथ प्रविशति बंधः । इति बंधो निष्क्रांतः .

10- अथ प्रविशति मोक्षः । इति मोक्षो निष्क्रांतः .

11- अथ प्रविशति सर्व विशुद्धज्ञानम् .

अमृतचन्द्राचार्य का नाम समयसार के साथ नाटककार के रूप में उल्लिखित किया है ।[1] इसीप्रकार अमृतचन्द्र के व्यक्तित्व का साहित्यिक पक्ष (गद्य, पद्य तथा चम्पू काव्यकार के रूप में) भी महत्वपूर्ण है। उनकी टीकाओं में व्याख्यात्मक तथा सरल पद्धति से गद्यात्मक कथन, सुन्दर तथा पूरक पद्य (कलशों) का निर्माण तथा गद्यात्मक टीका के गुप्त तथ्यों के पूरक के रूप में कलशों का निर्माण उनके चम्पू काव्यकार होने का प्रमाण है । इस तरह आचार्य अमृतचन्द्र सूरि बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व वाले महापुरुष के रूप में जाने जाते हैं । डॉ० ए०एन० उपाध्ये ने लिखा है कि - "यद्यपि पंचास्तिकाय, प्रवचनसार तथा समयसार को सामान्यतया नाटकत्रयी कहा जाता है, लेकिन वास्तव में समयसार ही ऐसा ग्रन्थ है जिसके प्रकरण संसार के नाटकों को इङ्गित करते हैं ।"[2]

आचार्य अमृतचन्द्र सूरि का जीवन-वृत्त

आचार्य अमृतचन्द्र के जीवन के सम्बन्ध में उनका कोई स्व लिखित प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, किन्तु इनके नाम का उल्लेख इनके अपने ग्रन्थों में पाया जाता है। इसके अलावा इनके अनुवर्ती आचार्यों की कृतियों में इनके नाम का उल्लेख तथा इनकी कृतियों के श्लोकों का उल्लेख उदाहरण के रूप में पाया जाता है। इन्हीं सारे तथ्यों के आधार पर इनके समय तथा संघ आदि का निर्धारण विद्वानों ने किया है, जिसका विवरण अधोलिखित है -

जैन परम्परा में अमृतचन्द्र नाम के दो व्यक्ति

समयसारादि के टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र सूरि से भिन्न अमृतचन्द्र नाम के एक भट्टारक का भी उल्लेख मिलता है। इस भट्टारक के गुरु मलधारी

1- एम० शुयलर : बाइब्लियोग्राफी ऑफ संस्कृत ड्रामा , पृ० 24 (यह डॉ० ए० एन० उपाध्ये द्वारा लिखित प्रवचनसार की प्रस्तावना, पृ० 6 से उद्धृत किया गया है).

2- डॉ० ए०एन० उपाध्ये : प्रवचनसार की प्रस्तावना, पृ० 46.

माधव चन्द्र थे । इनसे कविवर सिंह {सिद्धकवि} प्रभावित होकर प्रद्युम्नचरित {पज्जुण्णचरिउ} की रचना की ।[1] कुछ लोगों की मान्यता के अनुसार दोनों अमृतचन्द्र दो नहीं अपितु एक ही हैं ।[2] लेकिन इसके पक्ष में अब तक के किसी विद्वान् ने कोई लेखादि प्रस्तुत नहीं किया है ।

हमारे आलोच्य अमृतचन्द्र सूरि अद्वितीय प्रतिभा से सम्पन्न हैं। इनकी ग्रन्थ प्रणयन तथा आध्यात्मिक प्रतिभा यह सिद्ध करती है कि भट्टारक अमृतचन्द्र से भिन्न इनका अस्तित्व है। पं0 परमानन्द शास्त्री ने यह सिद्ध किया है कि भट्टारक अमृतचन्द्र, आचार्य अमृतचन्द्र सूरि से भिन्न व्यक्ति थे, जिनके शिष्य कविवर सिंह {सिद्धकवि} थे ।[3]

समयसारादि ग्रन्थ के टीकाकार तथा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, लघुतत्त्वस्फोट तथा तत्त्वार्थसार के प्रणेता अमृतचन्द्र स्वभाव से ही आत्मज्ञान में रत रहने वाले थे । स्व तथा पर का भेदज्ञानी तथा स्व में ही रहने वाले तपस्वी अमृतचन्द्राचार्य अपनी जीवन गाथा से सम्बन्धित किसी भी तथ्य का उजागर अपनी कृतियों में नहीं किए हैं। समस्त प्रकार के मोह पर विजय प्राप्त करने की इच्छा करने वाले[4] तथा इसके हेतु उपाय प्राप्त करने वाले[5] अमृतचन्द्राचार्य के समक्ष नश्वर जीवन तथा इससे सम्बन्धित कहानी का कोई महत्त्व नहीं था । इतना सब होते हुए भी यहाँ इनके नाम, जीवन-काल आदि से सम्बन्धित विवेचन, इनके स्व-ग्रन्थों तथा ग्रन्थान्तरों के उल्लेखके आधार पर प्रस्तुत किया जा रहा है -

---

1- पं0 नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास, पृ0 310, द्वितीय सं0.

2- {क} पं0 मुन्नालाल रांधेलीय : पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, भावप्रकाशिनी टीका ,पृ010.
{ख} डा0 गुलाबचन्द्र : सन्मतिसंदेश, वर्ष-13, अंक8, अगस्त 1968, पृ0 27.
{ग} ब्र0 पंडिता सुमतिबाई शहा : पूर्णार्ध्य {जैन ज्ञान कोश} वीर नि0सं02504, पृ0 200.

3- {क} जैन ग्रन्थ प्रशस्तिसंग्रह, भाग-2, प्रस्तावना, पृ0 74.
{ख} जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, भाग-2, पृ0 349.

4- मयात्मोहवाहिनी विजयायबद्धा कक्षेयम् । -प्रवचनसार, गाथा 79 की टीका.

5- लब्धोमया मोहवाहिनी विजयोपायः । -वही, गाथा 80 की टीका.

स्वग्रन्थोल्लिखित प्रमाण

अमृतचन्द्र ने अपने टीका ग्रन्थों तथा मौलिक ग्रन्थों में आचार्य अमृतचन्द्र सूरि के नाम का उल्लेख कर्तृत्व के विकल्प के निषेध हेतु किया है ।[1] अपने नामोल्लेख के अलावा इन्होंने अपने जीवन से सम्बन्धित किसी परिचय का विवरण नहीं दिया है । इस तरह इनके स्वग्रन्थों के आधार पर इनके सम्बन्ध में नाम तथा उक्त कृतियों के प्रणेता होने के अलावा और कुछ नहीं प्राप्त होता है ।

ग्रन्थान्तरोल्लेख

परवर्ती लेखकों की कृतियों में अमृतचन्द्राचार्य के नाम का उल्लेख विभिन्न विशेषणों के साथ हुआ है । नियमसार की टीका में आचार्य पद्मप्रभमलधारी देव ने आचार्य अमृतचन्द्रसूरि का नामोल्लेख पन्द्रह बार किया है, साथ-साथ "तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः"[2] लिखकर इनके ग्रन्थों का उद्धरण भी प्रस्तुत किया है । पं० आशाधर जी ने "ठक्कुरामृतचन्द्रसूरि"[3] लिखकर इनके नाम का उल्लेख किया है। पार्श्वपुराण में इनके नाम का प्रयोग मुनिराज विशेषण के साथ हुआ है।[4] पं० वृन्दावनदास ने इनका स्मरण "अमीइन्दु" शब्द से किया है ।[5] पं० पन्नालाल-साहित्याचार्य ने अमृतचन्द्र के लिए अमृतेन्दु[6] तथा पं० फूलचन्द्र सिद्धान्ताचार्य ने

1- [क] समयसार की टीका आत्मख्याति, समयसार कलश 277.
   [ख] प्रवचनसार की टीका तत्त्वप्रदीपिका, पद्य नं0 21.
   [ग] पंचास्तिकाय की टीका समयव्याख्या, अन्तिम पद्य 8 का भाग.
   [घ] लघुतत्त्वस्फोट, पद्य 25[अध्याय 1].
   [ङ] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ग्रन्थ के समापन में.
   [च] तत्त्वार्थसार, उपसंहार 23.

2- नियमसार गाथा, 7, 19, 24, 40, 42, 44, 99, 50, 55, 82, 93, 99, 107, 159, 178 आदि की टीकाएँ.

3- अनगार धर्मामृत, भव्यकुमुद चन्द्रिका, पृ0 160 तथा 588.

4- पार्श्वपुराण, पृ0 72-73 वी0नि0सं0 2434.

5- गुरुदेव अमीइन्दु ने तिनकी करी टीका ।
करता है निजानंद अमीवृन्द सरीखा । -वृहद् जिनवाणी संग्रह, पृ0 186.

6- तत्त्वार्थसार, अन्तिमप्रशस्ति [पन्नालाल कृत].

"श्रीमदाचार्यवर अमृतचन्द्रदेव"[1] नाम का प्रयोग किया है। इस तरह इनके परवर्ती लेखकों की बहुत सारी कृतियों में इनका नामोल्लेख कई विशेषणों के साथ हुआ है। इसके अलावा इनके समय, कुल तथा संघ आदि का स्पष्ट उल्लेख न तो इनके स्वलिखित ग्रन्थों में प्राप्त होता है न इनके सम्बन्ध में परवर्ती आचार्यों की कृतियों में ही ।

अमृतचन्द्र के समय, संघ तथा कुल आदि का ज्ञान ; उनकी कृतियों का उत्तरवर्ती आचार्यों पर पड़े प्रभाव के आधार पर प्राप्त किया जा सकता है । अमृतचन्द्राचार्य एवं इनकी कृतियों से प्रभावित आचार्यों एवं उनकी कृतियों का संक्षिप्त विवेचन कर इनके काल का निर्धारण निम्न रूप से किया जा रहा है —

1. आचार्य कुन्दकुन्द के क्रमिक टीकाकारों में अमृतचन्द्राचार्य के पश्चात् जयसेनाचार्य (छठवें) का नाम आता है। इनके काल का निर्धारण विक्रम सम्वत् 1349 से 1380 (1292 से 1323 ई0) के बीच किया गया है ।[2] जयसेनाचार्य आचार्य अमृतचन्द्र से मात्र प्रभावित ही नहीं, बल्कि अपनी कृति समयसार की टीका तात्पर्यवृत्ति में उन्होंने समयसार कलश टीका के सात पद्यों को उद्धृत भी किया है ।[3] कोई भी टीकाकार किसी कृति का अनुसरण उसकी प्रामाणिकता में विश्वास करके ही करता है तथा किसी कृति को प्रामाणिकता की कोटि प्राप्त करने में करीब 40-50 वर्ष का समय लग ही जाता है। इस तरह ऐसा प्रतीत होता है कि अमृतचन्द्राचार्य अवश्य ही जयसेनाचार्य से करीब 40-50 वर्ष पहले हुए होंगे ।

2. पं0 आशाधर की कृति "अनगारधर्मामृत" पर स्वलिखित "भव्यकुमुदचन्द्रिका" नाम की एक टीका विक्रम सम्वत् 1200 में की गई है ।[4] इस टीका में

1- समयसार कलश मुखपृष्ठ (पं0 फूलचन्द्र शास्त्री).

2- जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-प्रथम, पृ0 339 तथा भाग-2, पृ0 324.

3- समयसार कलश, 68, 69, 131, 183, 235, 236 तथा 247.

4- पं0 नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य का इतिहास, पृ0 458.

अमृतचन्द्र का नाम "ठक्कुर" पद के साथ उल्लिखित है।[1] पण्डित जी ने अमृतचन्द्राचार्य के साहित्य से कई उद्धरण भी अपनी टीका में उद्धृत किये हैं।[2] इसी तरह अमृतचन्द्राचार्य का समय पं0 आशाधर तथा इनकी कृतियों से पूर्व यानी विक्रम सम्वत् 1200 से पूर्व होना निश्चित है। इस स्थिति में आचार्य अमृतचन्द्रसूरि का काल विक्रम की तेरहवीं सदी के पूर्वार्द्ध ही होना सम्भव लगता है।

3. पं0 आशाधर की कृति इष्टोपदेश टीका पर रामसेनाचार्य कृत "तत्त्वानुशासन" का स्पष्ट प्रभाव दिखता है। रामसेनाचार्य की कृति तत्त्वानुशासन पर अमृतचन्द्र के साहित्य का प्रभाव है।[3] पण्डित जी "इष्टोपदेश" के टीकाकार हैं। इसका प्रमाण उन्हीं द्वारा लिखित जिनयज्ञकल्प {विक्रम 1285 सदी} की प्रशस्ति से मिलता है। इस तरह राम सेनाचार्य तथा इनकी कृति तत्त्वानुशासन का काल वि0सं0 1285 से पूर्व सिद्ध होता है।[4] तथा इससे पूर्व अमृतचन्द्र तथा इनके साहित्य का अस्तित्व सिद्ध होता है। इस तरह भी अमृतचन्द्राचार्य का काल वि0सं0 की ग्यारहवीं सदी या इससे पूर्व होना अनुमानित है। इस तरह अमृतचन्द्र की काल विक्रम की दसवीं सदी से बारहवीं सदी के बीच में माना जा सकता है।

विद्वानों ने अमृतचन्द्र का नाम द्रविड़ संघ, पुन्नाटसंघ, काष्ठासंघ आदि के साथ जोड़ने का प्रयास अपने-अपने तरीके से किया है। लेकिन अमृतचन्द्र का नन्दिसंघ के होने की मान्यता अब प्रामाणिक तरीके से प्रायः मान ली गई है। इसके लिए निम्न तर्क दिये जा सकते हैं --

---

[1] पं0 आशाधर : अनगार धर्मामृत, पृ0 588 तथा 160 से उद्धृत.

[2] समयसार कलश से 24, 110, 111,131,164,205,224,225,226,227,228, 229,230,231; पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 26-30 तक, 32-34, 42,48,49,96, 111-114,219,220,225; तत्त्वार्थसार, पद्य नं0 51 {अध्याय 1}; तत्त्वप्रदीपिका {प्र0सा0टीका} चरणानुयोग चूलिका पद्य क्रमांक 13.

[3] तत्त्वानुशासन प्रस्तावना, पृ0 33; तत्त्वार्थसार : प्रथमाधिकार, श्लोक नं0 7-8; तत्त्वानुशासन, श्लोक नं0 4-5; समयसार कलश 209; तत्त्वानुशासन श्लोक नं0 29 का स्पष्ट प्रभाव दीखता है।

[4] तत्त्वानुशासन, प्रस्तावना, पृ0 17.

1. आचार्य कुन्दकुन्द के नन्दिसंघ के होने का उल्लेख मिलता है।[1] इस तरह इनके अनन्य अनुसरणकर्ता अमृतचन्द्र का भी नन्दिसंघ का ही होना माना जा सकता है ।

2. इस संघ के आचार्यों के नाम के अन्त में नन्दि, चन्द्र, कीर्ति आदि शब्दों का योग देखने को मिलता है ।[2] इस तरह कुन्दकुन्द का दूसरा नाम पद्मनन्दि तथा अमृतचन्द्र के नाम का अगला भाग चन्द्र से विभूषित है, जो इस संघ की परम्परा के अनुकूल है ।

3. श्वेताम्बराचार्य मेघविजयगणि ने भी अमृतचन्द्र को मूल संघ का होना बताया है ।[3] पं० बनारसीदास, डा० नेमीचन्द्र शास्त्री, तथा पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने भी इसी तथ्य का अनुमोदन किया है ।[4]

4. जैन परम्परा में नन्दि संघ मूलसंघ का सर्वाधिक प्राचीन एवं प्रामाणिक संघ कहा गया है ।[5] इस अर्थ में आचार्य कुन्दकुन्द व उनके प्रथम टीकाकार अमृतचन्द्र कानाम महावीर तथा गौतम गणधर के पश्चात् प्राचीनता के दृष्टिकोण से लिया जा सकता है। इससे भी अमृतचन्द्राचार्य के नन्दिसंघ के होने का अनुमान किया जा सकता है । इस तरह अब तक के शोध

1– जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग प्रथम, पृ० 343.

2– तत्त्वानुशासन, प्रस्तावना, पृ० 50.

3– जैन साहित्य का इतिहास, भाग-2, पृ० 173.

4– (क) कुन्दकुन्दाचारिज प्रथम गाथाबद्ध करि ; समैसार नाटक विचार नाम दियो है। ताही की परम्परा अमृतचन्द्र भये तिन, संस्कृत कलश सम्हारि सुख लयो है ॥ 80 ॥ –समयसार नाटक.
   (ख) तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग-2, पृ० 403.
   (ग) जैन साहित्य का इतिहास, भाग-2, पृ० 174.

5– वही, पृ० 173.

तथा अन्य कृतियों को देखने से अमृतचन्द्राचार्य का नन्दिसंघ के होने का प्रमाण ही अपेक्षाकृत प्रशस्त होता है ।

अमृतचन्द्राचार्य के सम्बन्ध में उनके काल तथा संघ के सम्बन्धों के अनुमान के अलावा उनके कुल आदि का पता भी अनुमान पर आधारित है। पं० आशाधर जी द्वारा वर्णित "ठक्कुर" पद से पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री "ठक्कुर" पद का वाचक[1] तथा डॉ० नेमीचन्द्र शास्त्री इसे सम्मानित कुल का प्रतीक बताते हैं ।[2] इस आधार पर अमृतचन्द्राचार्य को किसी सम्मानित कुल से सम्बन्धित होने का अनुमान किया जाता है ।

आचार्य अमृतचन्द्र सूरि की कृतियों का परिचय

इसके पूर्व अमृतचन्द्र की कृति "आत्मख्याति" का विशद् परिचय प्रस्तुत किया गया है, जो "समयसार" की टीका स्वरूप लिखी गई है। इसके अतिरिक्त कुन्दकुन्द की कृति "प्रवचनसार" तथा "पंचास्तिकाय" पर भी इनकी टीकाएँ हैं। अमृतचन्द्र की इन तीन टीकाओं के अतिरिक्त अनेको मौलिक कृतियाँ भी हैं। इनकी सभी कृतियों को निम्न रूप में रखा जा सकता है —

टीका ग्रन्थ 1- "आत्मख्याति" [समयसार की टीका]
2- "तत्त्वदीपिका" या "तत्त्वप्रदीपिका" [प्रवचनसार की टीका]
3- "समयव्याख्या" [पंचास्तिकाय की टीका] ।

मौलिक ग्रन्थ 1- "तत्त्वार्थसार"
2- "पुरुषार्थसिद्ध्युपाय"
3- "लघुतत्त्वस्फोट" ।

उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ अन्य कृतियों का भी उल्लेख कुछ विद्वानों ने किया है, किन्तु ये विवादास्पद हैं, यथा -

---

[1] जैन साहित्य का इतिहास, भाग-2, पृ० 173.

[2] तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग-2, पृ० 403.

1- षट्पाहुड पर संस्कृत टीका
2- श्रावकाचार (प्राकृत भाषा में)
3- पंचाध्यायी
4- द्वादशी गाथा ।

कुन्दकुन्द के अष्टपाहुडों में षट्पाहुडों पर श्रुतसागरसूरि की संस्कृत टीका है । प्रोफेसर विन्टरनित्ज[1] षट्पाहुड के टीकाकार के रूप में श्रुत सागर के साथ-साथ अमृतचन्द्र के नाम का उल्लेख करते हैं। डॉ0 मोहनलाल तथा प्रो0 हीरालाल र0 कापड़िया भी षट्पाहुड के टीकाकार के रूप में अमृतचन्द्र का नाम लेते हैं ।[2] लेकिन अमृतचन्द्र की भाषा के अनुरूप न तो षट्पाहुड की कोई संस्कृत टीका उपलब्ध होती है न कोई अन्य प्रमाण ही मिलता है, जिसके आधार पर "षट्पाहुड" के टीकाकार के रूप में अमृतचन्द्र का नाम लिया जा सके । "षट्पाहुड" के टीकाकार के रूप में अमृतचन्द्र के नाम पर एक प्रसिद्ध विद्वान् ने भी अपनी अनभिज्ञता ही स्पष्ट की है ।[3]

अमृतचन्द्र के सम्बन्ध में दूसरा अनुमान यह लगाया जाता है कि उन्होंने "श्रावकाचार" से सम्बन्धित प्राकृत भाषा में कोई पुस्तक लिखी होगी ।[4] लेकिन यह अनुमान भी तार्किक नहीं हो पाता। श्रावकाचार से सम्बन्धित "पुरुषार्थसिद्ध्युपाय" अमृतचन्द्र की कृति है, जो संस्कृत भाषा है। यहीं द्वादशी गाथा के प्रणेता के रूप में अमृतचन्द्र का नाम जोड़ा जाता है। द्वादशी गाथा नामक लघुकृति का एक संस्करण माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला की तेरहवीं जिल्द के रूप में निकल चुका है, जिसमें उसके लेखक का कोई विवरण नहीं है। इस तरह यह तथ्य भी असिद्ध है कि द्वादशी गाथा के लेखक अमृतचन्द्र हैं ।

1-ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग-2, पृ0 577 पादटिप्पणी (फुटनोट).

2- जैनसाहित्य का बृहद इतिहास, भाग-4, पृ0 159.

3- डॉ0 ए0एन0 उपाध्ये : प्रवचनसार, प्रस्तावना, पृ0 36.

4- वही, पृ0 95.

पंचाध्यायी के लेखक के रूप में कुछ विद्वान् अमृतचन्द्र का नाम बिना किसी प्रामाणिक तथ्य के ही लेते हैं, लेकिन पं० जुगल किशोर जी[1] अपने लेख के माध्यम से प्रमाणयुक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट किया है कि पंचाध्यायी अमृतचन्द्र की नहीं अपितु राजमल पाण्डेय की कृति है ।[2]

टीका ग्रन्थ

1. समयसार की टीका "आत्मख्याति" का बहिरङ्ग परिचय

कर्तृत्व प्रमाण

"समयसार" की टीका "आत्मख्याति" अमृतचन्द्र की कृति है। आत्मख्याति के प्रत्येक अधिकार के अन्त में इसके प्रणेता के रूप में अमृतचन्द्र का नाम आता है ।[3] इस टीका में ही अमृतचन्द्र के नाम का उल्लेख बीच-बीच में कहीं-कहीं पाया जाता है ।[4] इसके साथ-साथ अमृतचन्द्र "आत्मख्याति" के कर्तृत्व के श्रेय से मुक्त रहने हेतु अपने नाम का उल्लेख स्वयं भी करते हैं।[5] इससे स्पष्ट ही सिद्ध होता है कि यह टीका ग्रन्थ अमृतचन्द्र का ही है। अमृतचन्द्र के सम्बन्ध में आज तक के किसी विद्वान् ने ऐसा हस्तक्षेप भी नहीं किया, जिसके आधार पर आत्मख्याति के कर्तृत्व के रूप में इन पर शंका की जा सके । इसप्रकार यह सिद्ध तथ्य है कि "आत्मख्याति" के प्रणेता अमृतचन्द्र हैं ।

परिमाण

इस कृति में अमृतचन्द्र ने कुन्दकुन्द के चार सौ पन्द्रह गाथाओं [415] पर अपनी टीका प्रस्तुत की है तथा इस टीका के सन्दर्भ में मौलिक रूप से दो सौ-

---

1- डॉ० ए०एन० उपाध्ये : प्रवचनसार, पृ० 95.

2- पं० जुगलकिशोर : पुरातन जैन वाक्य सूची, पृ० 104 [प्रस्तावना].

3- इति श्री मदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ.... ।

4- उदितममृतचन्द्रज्योतिरेतत्समंताज्ज्वलतु विमलपूर्णं निःसपत्नस्वभावं ।
-समयसार कलश 275.

5- स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरे । -वही, 277.

सत्तहत्तर [277] कलशों की रचना की है ।

आत्मख्याति का अन्तरङ्ग परिचय

अन्तरङ्ग परिचय में आत्मख्याति के विषय-वस्तु का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। समयसार की टीका "आत्मख्याति" बारह अधिकारों में वर्णित है । इन बारह अधिकारों के विषय-वस्तु को शोध-निबन्ध की प्रस्तावना के प्रथम भाग के "ग्रन्थ परिचय एवं अन्य टीकाएँ" नामक परिच्छेद में सविस्तार से प्रस्तुत किया गया है। अतएव यहाँ आत्मख्याति के विषय-वस्तु का पुनः वर्णन न करके अमृतचन्द्र की दूसरी टीका ग्रन्थ "तत्वप्रदीपिका" का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है ।

प्रवचनसार की टीका "तत्वदीपिका" का बहिरङ्ग परिचय

समयसार की टीका आत्मख्याति की भाँति प्रवचनसार की यह टीका तत्वदीपिका भी अमृतचन्द्र की कृति है। इसके सम्बन्ध में भी आज तक के विद्वानों को विप्रतिपत्ति नहीं हुई है। अमृतचन्द्र अपनी इस कृति के अन्त में स्वयं लिखते भी हैं कि इस टीका [प्रवचनसार की टीका] के कर्ता अमृतचन्द्र नहीं हैं ; अमृतचन्द्र को उसका कर्ता मानकर मोह से मत नाचो । विशुद्ध ज्ञान की कला तथा स्याद्वाद विद्या के बल से एक, सकल, शाश्वत्, आकुलता रहित निजात्मा को ही प्राप्त कर आत्मानन्द में नाचो ।[1] "प्रवचनसार" की इस टीका के प्रत्येक अध्याय के अन्त में भी अमृतचन्द्र का नाम आता है ।[2] इसप्रकार इस टीका में अमृतचन्द्र द्वारा वर्णित उक्त पद्य तथा प्रत्येक अध्याय के समापन के साथ उनके नाम का प्रयोग इस तथ्य की पुष्टि करने में समर्थ है कि इस टीका के प्रणेता निश्चित रूप से अमृतचन्द्र ही हैं ।

परिमाण

यह टीका-ग्रन्थ तीन अधिकारों [अध्यायों] में विभाजित क्रमशः 92,

---

1- प्रवचनसार की टीका तत्वप्रदीपिका, पद्य नं० 20.

2- "इति प्रवचनसारवृत्तौ तत्वदीपिकायां श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां ज्ञानतत्व प्रज्ञापनो नाम प्रथमः श्रुतस्कंधः समाप्तः ।।"

108 तथा 75 गाथाओं की टीका से सम्पन्न है। इसमें समस्त पद्यों की संख्या बाईस [22] है, जो प्रायः अधिकार के आदि तथा अन्त में रखे गये हैं । अपवाद स्वरूप कुछ पद्य इस कृति के अन्त में भी रखे गये हैं। इस तरह तत्त्वदीपिका में 225 गाथाओं की टीका तथा 22 पद्यों का समायोजन है ।

प्रवचनसार की टीका"तत्त्वदीपिका"का अन्तरङ्ग परिचय

अमृतचन्द्रकृत "प्रवचनसार" की टीका को "तत्त्वदीपिका" या"तत्त्वप्रदीपिका" नाम से भी जाना जाता है। इस कृति का मूल नाम तत्त्वदीपिका ही है[1] लेकिन इसके उत्कृष्ट विवेचन को देखते हुए पं0 नेमीचन्द्र शास्त्री[2] तथा प्रो0 ए0एन0 उपाध्ये[3] आदि विद्वान् इसे "तत्त्वप्रदीपिका" नाम से सम्बोधित किये हैं। इस टीका को तीन महाधिकारों में विभक्त किया गया है, जिसमें प्रथम महाधिकार में चार अधिकार, द्वितीय महाधिकार में तीन अधिकार तथा तृतीय महाधिकार में चार अधिकारों का वर्णन किया गया है। इस तरह इस टीका के प्रारूप का विवरण निम्नलिखित रूप में उपलब्ध होता है --

ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन [प्रथम महाधिकार]

1. शुद्धोपयोग अधिकार,
2. ज्ञान अधिकार,
3. सुख अधिकार,
4. शुभ परिणाम अधिकार ।

ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन [द्वितीय महाधिकार]

1. द्रव्य सामान्य अधिकार,

---

[1] जैन साहित्य का इतिहास, भाग-2, पृ0 173.

[2] तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग-2, पृ0 416.

[3] प्रो0 ए0एन0 उपाध्ये : प्रवचनसार [अंग्रेजी].

2. द्रव्य विशेष अधिकार,
3. ज्ञान-ज्ञेय विभाग अधिकार ।

चरणानुयोग सूचक चूलिका [तृतीय महाधिकार]

1. आचरण प्रज्ञापन,
2. मोक्ष मार्ग प्रज्ञापन,
3. शुभोपयोग प्रज्ञापन,
4. पंचरत्न प्रज्ञापन ।

टीका का प्रारम्भ मंगलाचरण से होता है। इसमें ज्ञानानन्दमयी परमात्मा को नमस्कार, अनेकान्तमय ज्ञान की स्तुति तथा भव्यजीवों के कल्याणार्थ टीका का प्रयोजन बताया गया है। ज्ञानतत्व प्रज्ञापन में अतीन्द्रिय ज्ञान तथा अतीन्द्रिय सुख को उपादेय कहा गया है। इन्द्रिय ज्ञान तथा इन्द्रिय सुख को हेय सिद्ध करते हुए अतीन्द्रिय ज्ञान तथा सुख के प्रति श्रद्धा रखने को कहा गया है। आत्मा को इन्द्रियों के बिना ज्ञान तथा आनन्द की प्राप्ति होती है। यही आनन्द अतीन्द्रिय होता है। यहाँ शारीरिक सुख-दुःख का प्रश्न नहीं उठता है ।[1] ज्ञानाधिकार में आत्मा को ज्ञान प्रमाण तथा ज्ञान को ज्ञेय प्रमाण कहा गया है। ज्ञेय प्रमाण में लोकालोक गर्भित है। ज्ञान तथा ज्ञेय एक दूसरे में प्रविष्ट नहीं होते हैं, जिस प्रकार चक्षु रूप को जानता हुआ उसमें प्रविष्ट नहीं होता, उसीप्रकार ज्ञान ज्ञेयों को जानता हुआ उसमें प्रविष्ट नहीं होता, केवल जानता है । ज्ञान पदार्थ में प्रवृत्त होता है तथा पदार्थ ज्ञान में रहते हैं। ऐसी प्रवृत्ति होने पर भी आत्मा परद्रव्यों का ग्रहण तथा त्याग की भावना से रहित होता है ।[2] सुखाधिकार में अतीन्द्रिय ज्ञान तथा इससे उत्पन्न सुख की उपादेयता बतायी गई है। ज्ञान तथा सुख में अभिन्न सम्बन्ध है। केवल ज्ञान तथा इससे उत्पन्न परमार्थ सुख के प्रति श्रद्धान् कराया गया है ।[3]

1- प्रवचनसार टीका 17-20.

2- वही, 21-32.

3- वही, 53-63.

शुभ परिणाम अधिकार में पूजा, दान तथा शील आदि की भावना को शुभोपयोगी तथा इसके विपरीत भावों को अशुभोपयोगी कहा गया है। शुभोपयोग से इन्द्रिय सुख तथा अशुभोपयोग से इन्द्रिय दुःख की प्राप्ति होती है। दोनों ही तरह के परिणामों में आत्मिक सुख का अभाव कहा गया है तथा बताया गया है कि दोनों तरह के परिणामों में जो अन्तर मानते हैं, वे इस संसार में सदैव परिभ्रमण ही करते रहते हैं ।[1]

द्वितीय महाधिकार के प्रारम्भ में पदार्थों का सम्यक् स्वरूप तथा द्रव्य, गुण पर्याय का निरूपण किया गया है। द्रव्य पर्याय तथा गुण पर्याय के दो-दो भेद क्रमशः "समानजातीय" उदाहरणार्थ पुद्गलस्कन्ध, "असमानजातीय" उदाहरणार्थ-मनुष्य देवादिपर्याय तथा "स्वभावरूप" व विभावरूप बताया गया है। यहाँ प्रसंगवश स्वसमय तथा परसमय की व्यवस्था भी दर्शायी गयी है। इसके बाद क्रमशः द्रव्य का लक्षण तथा उसके सामान्य विशेष गुणों का उल्लेख, स्वरूप तथा सादृश्य दो प्रकार के अस्तित्व स्वरूप द्रव्यों से द्रव्यांतर तथा सत्ता का अर्थान्तरत्व होने का खण्डन, उत्पाद व्यय-ध्रौव्य रूप सत् द्रव्य का लक्षण , उत्पाद व्यय - ध्रौव्य का कथंचित अविनाभावीपना इत्यादि का अत्यन्त गम्भीर व दार्शनिक वर्णन किया गया है।[2] इस द्वितीय स्कन्ध में जीव पुद्गल पिण्ड का अकर्ता होने के साथ-साथ निश्चय बन्ध का स्वरूप, शुद्धात्मा की उपलब्धि के फल आदि भी बताये गये हैं । अन्त में यह कहा गया है कि चारित्र द्रव्यानुसार तथा द्रव्य चरणानुसार होता है । दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। अतएव दोनों में से किसी एक का आश्रय लेकर मोक्षार्थियों को मोक्ष मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।[3]

तृतीय महाधिकार के आचरण प्रज्ञापन में कहा गया है कि द्रव्य की सिद्धि में चारित्र की सिद्धि है। चारित्र की सिद्धि में द्रव्य की सिद्धि है। ऐसा जानकर कर्मों से अविरत दूसरे भी द्रव्य से अविरुद्ध चारित्र का आचरण करने को कहा गया है। इसका अर्थ शुद्धात्म द्रव्य की प्राप्ति चारित्र की सिद्धि से है तथा

1- प्रवचनसार टीका, 69-77.

2- वही, 93-100.

3- वही, 199-200.

शुद्धात्म द्रव्य के प्रतीति के बिना चारित्र का पालन महत्वहीन है, क्योंकि वह संसार का उच्छेद नहीं कर सकता। इस तरह जो संसार का उच्छेद नहीं करता है वह चारित्र धर्म नहीं है। मोक्ष मार्ग प्रज्ञापन में शुद्धात्म ज्ञान सहित आगम ज्ञान, तत्व श्रद्धान, संयम प्रवृत्ति तथा सुख-दुःख, प्रशंसा-निन्दा आदि भावों में समभाव रूप वर्तना ही ऐसी श्रमणता है, जिससे मोक्ष मार्ग की प्राप्ति होती है। वह मुनि जो एकमात्र आत्मा को प्रमुख करके एकाग्र नहीं होता तथा अन्य द्रव्यों का आश्रय करके अनेकाग्र होता है, वह आत्मज्ञान भ्रष्ट होने से मुक्ति को नहीं पाता। अतएव आत्मा की एकाग्रता ही मोक्ष मार्ग है ।[1]

शुभोपयोग प्रज्ञापन में शुभोपयोगी को आस्रवयुक्त तथा शुद्धोपयोग को निरास्रव कहा गया है। यहाँ शुभोपयोगी मुनि की अन्तरंग दशा के अनुरूप शुभोपयोग वृत्ति तथा उसकी सब बाह्य क्रियाओं के होने सम्बन्धी विधि पर प्रकाश डाला गया है। चतुर्थ पंचरत्न प्रज्ञापन में संसार तत्व को बताया गया है, जो वस्तु के मूल स्वरूप का अस्खलित श्रद्धानी नहीं है, वही संसार तत्व है। वही अगामी पंचपरावर्तनों में भ्रमण करेगा। मोक्ष तत्व में बताया गया है कि जो यथार्थ तत्व श्रद्धानी होने से प्रशांतात्मा है, विपरीत आचरण से रहित है। ऐसा श्रमण संसार में अधिक दिन नहीं रह पाता। इस तरह शुद्धोपयोगी को ही श्रमणता, दर्शन-ज्ञान तथा निर्वाण प्राप्त होता है। प्रवचन सार टीका के अन्त में आचार्य ने एक परिशिष्ट जोड़ा है, जिसमें सैंतालीस नयों द्वारा आत्मा का कथन किया गया है ।[2]

इस तरह आचार्य अमृतचन्द्र सूरि की यह प्रवचनसार टीका द्रव्यानुयोग विषयक कृति है। इस कृति का लक्ष्य इसके ज्ञान तत्व, ज्ञेय तत्व तथा चरणानुयोग में स्वात्मोपलब्धि के श्रेष्ठ मार्ग को प्रदर्शित करना है। आचार्य के इस सफल प्रयास का दृष्टांत अन्य टीकाकारों के आलोक में सर्वथा नवीन है ।

1- प्रवचनसार टीका, 242-44.

2- प्रवचनसार टीका, चरणानुयोग चूलिका के अन्त में परिशिष्ट , पृ0 402

पंचास्तिकाय की टीका समयव्याख्या का बहिरङ्ग परिचय

कर्तृत्व प्रमाण

यह अमृतचन्द्र का तीसरा टीकाग्रन्थ है। इसके कर्तृत्व के सम्बन्ध में अमृतचन्द्र के अलावा और किसी का नाम आज तक किसी विद्वान् ने नहीं लिया। अन्य दो टीकाओं [आत्मख्याति व तत्त्वदीपिका] के सदृश्य इस टीका के प्रत्येक अधिकार के अन्त में अमृतचन्द्र के नाम का प्रयोग हुआ है ।[1] अपनी अन्य टीकाओं की भाँति यहाँ भी अमृतचन्द्र ने इस ग्रन्थ के कर्तृत्व में अपने को श्रेय से रहित रखते हुए वस्तुतत्त्व को व्याख्यायित करने में शब्दों को सामर्थ्ययुक्त बताकर अपने को स्वरूपगुप्त अमृतचन्द्र सूरि कहा है ।[2] इस प्रकार के उल्लेख से भी स्पष्ट होता है कि अमृतचन्द्र ही इस ग्रन्थ के कर्ता हैं ।

परिमाण

अमृतचन्द्रकृत इस टीका ग्रन्थ में 173 गाथाओं की टीका तथा आठ पद्य पाये जाते हैं। इन आठ पद्यों में से इस टीका ग्रन्थ के प्रारम्भ में छः पद्यों का प्रयोग मोक्षमार्ग, प्रपंच वर्णन के आरम्भ में एक पद्य, तथा शेष एक पद्य का प्रयोग इस ग्रन्थ के अन्त में हुआ है ।

पंचास्तिकाय की टीका "समयव्याख्या" का अन्तरङ्ग परिचय

यह टीका अमृतचन्द्राचार्य द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द की कृति "पंचास्तिकाय" पर लिखी गई व्याख्या है । आचार्य अमृतचन्द्र स्वतः "समयव्याख्या" नाम की टीका को संक्षेप में कहने का आह्वान् करते हैं ।[3] टीका के अन्त में भी टीकाकार

1- इति प्रवचनसारवृत्तौ तत्त्वदीपिकायां श्रीमदमृतचन्द्रसूरि-विरचितायां ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापनो नाम प्रथमः श्रुतस्कंधः समाप्तः ।

2- स्वशक्तिसंसूचित वस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः । स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचन्द्र सूरेः ।। —समयव्याख्या, 278.

3- समयव्याख्या टीका, मंगलाचरण, पद्य क्रमांक 3.

"व्याख्याकृतेयं समयस्य शब्दैः"[1] लिखकर इसके "समयव्याख्या" नाम होने का संकेत देते हैं। इस टीका के मंगलाचरण में अमृतचन्द्राचार्य पहले अनेकान्त में स्थित सहजानन्द चैतन्य स्वरूप परमात्मा को अपना नमन अर्पित करते हैं, तत्पश्चात् विशिष्ट गुण सम्पन्न जिनवाणी की स्तुति, पंचास्तिकाय संग्रह नामक शास्त्र की टीका लिखने की प्रतिज्ञा करते हैं ।[2] पुनः आचार्य अमृतचन्द्र कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा वर्णित मूल पदार्थों का पंचास्तिकाय एवं षड्द्रव्यों के प्रकार से प्ररूपण को प्रथम अधिकार में रखते हैं तथा दूसरे अधिकार में कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा वर्णित जीव-अजीव इन दोनों के पर्याय रूप नवपदार्थों में, जबकि इनके मार्ग भिन्न-भिन्न हैं ; व्यवस्था व सामंजस्य का प्रतिपादन करते हैं[3]. इस अधिकार के अन्त में तत्त्व के परिज्ञानपूर्वक [पंचास्तिकाय, षड्द्रव्य तथा नव पदार्थों के यथार्थ ज्ञानपूर्वक] त्रयात्मक मार्ग [सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र] से कल्याण स्वरूप मोक्ष की प्राप्ति कही गई है।[4]

"षड्द्रव्यपंचास्तिकाय" के सामान्य व्याख्या रूप पीठिका से गद्यात्मक टीका प्रारम्भ होती है। यहाँ जिनेन्द्र को नमस्कारादि तथा उनकी वाणी को जीव समूह के लिए आत्मोपलब्धि में हितकारी कहा गया है। यहाँ उपदेश की प्रामाणिकता तथा इसके उद्देश्य को बताते हुए "समय" शब्द का अर्थ "आगम" कहा गया है। समय शब्द के तीन प्रकार कहे गये हैं - शब्द, ज्ञान तथा अर्थसमय। पंचास्तिकाय के कथन या शास्त्रारूढ़ निरूपण को शब्द समय, मिथ्यात्व के उदय के नाश होने पर पंचास्तिकाय के सम्यग्ज्ञान को ज्ञान समय तथा कथन के निमित्त से ज्ञान में ज्ञात पदार्थों को अर्थ समय कहा गया है। इसके साथ ही द्रव्य, गुण तथा पर्यायों का निरूपण किया गया है। यहाँ षड्द्रव्यों को भाव तथा उनके गुण व पर्यायों की चर्चा की गई है । इन षड्द्रव्यों में पाँच को अस्तिकाय तथा काल द्रव्य को अनस्तिकाय कहकर इसके अस्तित्व को युक्तियों द्वारा सिद्ध किया गया है।

---

[1] समयव्याख्या टीका, मंगलाचरण, पद्य क्रमांक 8.

[2] वही, 1-3.

[3] वही, 4-5.

[4] वही, 6.

पीठिका की समाप्ति के बाद जीव द्रव्यास्तिकाय का व्याख्यान किया गया है। जीवास्तिकाय का विशेष व्याख्यान करते हुए आत्मा को निश्चय-व्यवहार की दृष्टि से जीव, चेतयिता, उपयोगमयी, प्रभु, कर्ता, भोक्ता होने तथा देह परिमाण, अमूर्त तथा कर्मसंयुक्त होने का विवेचन किया गया है।

पुद्गल द्रव्यास्तिकाय के व्याख्यान में पुद्गल के चार भेद - स्कंध पर्याय, स्कन्ध देश पर्याय, स्कन्ध प्रदेश पर्याय तथा परमाणु बताये गये हैं। इन सभी के लक्षण लिखकर स्कन्धों में पुद्गल सत्ता सिद्ध की गई है । पुनः स्कन्धों के उदाहरण सहित छः प्रकार बताये गये हैं, यथा -

1. बादरबादर का उदाहरण - काष्ठ, पाषाणादि.
2. बादर का उदाहरण - दूध , घी, तेलादि.
3. बादरसूक्ष्म का उदाहरण - छाया, धूपादि.
4. सूक्ष्मबादर का उदाहरण - स्पर्श, रस, गंध व शब्दादि ।
5. सूक्ष्म का उदाहरण - कर्मवर्गणादि .
6. सूक्ष्म-सूक्ष्म का उदाहरण - इसमें दो अणु वाले स्कन्ध आते हैं। परमाणु को अविभागी, एकप्रदेशी, मूर्तद्रव्यरूप तथा अविनाशी होने से नित्य कहा गया है ।

धर्म तथा अधर्म द्रव्यास्तिकाय के व्याख्यान में धर्मास्तिकाय को अमूर्त, समस्त लोकाकाश व्यापी, अखण्ड, विशाल तथा असंख्यात प्रदेशी कहा गया है । इसे गति के हेतु होने का वर्णन दृष्टांत सहित किया गया है ।[1] अधर्मास्तिकाय में अधर्म को धर्म की भाँति वर्णन करते हुए इसे स्थिति के हेतु होना कहा गया है। धर्म-अधर्म से ही लोक-अलोक के ज्ञान का परिचय होता है। इस अधिकार के अन्त में कहा गया है कि समस्त द्रव्य [जीव-पुद्गल] अपने ही परिणाम से गति तथा निज परिणाम से ही स्थिति करते हैं; धर्म व अधर्म, गति व स्थिति का मुख्य

1- समयव्याख्या, 83-85.

हेतु नहीं वरन् मात्र उदासीन हेतु है।[1]

आकाश द्रव्यास्तिकाय के व्याख्यान में सिद्ध किया गया है कि आकाश गति का हेतु नहीं है। छठाधिकार के चूलिका में द्रव्यों के मूर्तामूर्त होने, सक्रिय-निष्क्रिय होने तथा मूर्त-अमूर्त के लक्षण बताये गये हैं। स्पर्श-रस-गंध-वर्ण के सद्भाव वाले द्रव्यों को मूर्त तथा इनके अभाव वाले द्रव्यों को अमूर्त कहा गया है। यह पुद्गल द्रव्य मूर्त तथा शेष पाँच जीव धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल अमूर्त हैं । पुद्गल तथा जीव दोनों द्रव्यों को सक्रिय तथा शेष चार द्रव्यों को निष्क्रिय बताया गया है। मूर्त तथा अमूर्त के लक्षण क्रमशः इन्द्रियग्राह्य तथा इन्द्रियअग्राह्य कहा गया है ।[2]

काल द्रव्य के व्याख्यान में निश्चयकाल को द्रव्यरूप तथा व्यवहारकाल को पर्याय रूप कहा गया है। काल के नित्य तथा क्षणिक - ऐसे दो विभाग किये गये हैं तथा इसके द्रव्य होने का विधान तथा अस्तिकाय होने का निषेध किया गया है ।[3] अन्त में उपसंहारार्थ पंचास्तिकाय के अवबोध का फल दुःखों से सर्वथा मुक्त होना बताया गया है ।[4]

टीका के दूसरे भाग में नव पदार्थों के विवेचन पूर्वक मोक्ष मार्ग का निरूपण किया गया है। पहले प्रपंच वर्णन में आप्त की स्तुति पूर्वक प्रतिज्ञा, मोक्ष मार्ग सम्यग्दर्शन - ज्ञान-चारित्र की सूचना, नव पदार्थों का नाम तथा स्वरूप बताया गया है ।[5] इसके पश्चात् जीव पदार्थ की व्याख्या में जीव के दो प्रकार - संसारी तथा सिद्ध कहे गये हैं। संसारी जीव की कोटि में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक

1- समयव्याख्या, 86-89.

2- वही, 97-99.

3- वही, 100-102.

4- वही, 103-104.

5- वही, 105-109.

सभी आते हैं। संसारी जीव का विभाजन भव्य तथा अभव्य कोटि में किया गया है। अभव्य जीव को अपाच्य मूंग की दाल का उदाहरण देकर शुद्धात्म स्वरूप की उपलब्धि की शक्ति से रहित कहा गया है। अजीव पदार्थ के व्याख्यान में आकाश, काल, पुद्गल, धर्म तथा अधर्म को जीव के गुण से भिन्न होने से अचेतन कहा गया है। इस व्याख्यान में जीव-अजीव के वास्तविक भेद, सम्यग्ज्ञानियों के मार्ग की प्रसिद्धि का प्रतिपादन किया गया है।

पुण्य-पाप के व्याख्यान में प्रशस्तराग तथा चित्तप्रसाद को शुभ परिणाम तथा अप्रशस्तराग व मोह द्वेषादि को अशुभ परिणाम कहा गया है। शुभ तथा अशुभ परिणाम को क्रमशः पुण्य तथा पाप कहा गया है। कर्म के फल सुख-दुःख के कारण मूर्त विषय हैं। अन्त में मूर्त कर्मों का मूर्त से तथा जीव व कर्मों का मूर्त-अमूर्त रूप से बन्ध के प्रकार को बताया गया है। आस्रव पदार्थ के व्याख्यान में पुण्यास्रव आदि का स्वरूप बताया गया है। संवर व्याख्यान में पाप से संवर का कथन करते हुए बताया गया है कि श्रो-शांति मार्ग में रहकर इन्द्रिय, कषाय, तथा संज्ञाओं का जितना निग्रह होता है उतना पापास्रव रुकता है। यहाँ सामान्य संवर तथा विशेष संवर के स्वरूप को बताया गया है।

निर्जरा पदार्थ के व्याख्यान में निर्जरा का स्वरूप, इसके मुख्य कारण तथा ध्यान का स्वरूप बताया गया है। बन्ध पदार्थ के व्याख्यान में बन्ध का स्वरूप, इसके बहिरंग व अंतरंग कारण तथा मिथ्यात्वादि द्रव्यपर्यायों का भी बन्ध के बहिरंग कारण होने का प्रकाशन किया गया है।

मोक्ष पदार्थ के व्याख्यान में भाव मोक्ष तथा द्रव्य मोक्ष आदि का विवरण है। ज्ञानी जीव में रागादिक भाव के नहीं होने से वह आस्रव से रहित होता है। उसके आस्रवाभाव से कर्माभाव तथा कर्माभाव से उसमें सर्वज्ञता, सर्वदर्शिता, अव्याबाधइन्द्रियातीत अनन्त सुख की अनुभूति होती है। यही जीवन्मुक्ति भाव मोक्ष है। सभी कर्मों से छुटकारा पाने का नाम द्रव्य मोक्ष है। मोक्ष मार्ग

प्रवंच सूचक चूलिका में मोक्ष मार्ग का स्वरूप, स्वसमय का ग्रहण , परसमय का त्याग तथा अन्त में ग्रन्थकर्ता की प्रतिज्ञा की पूर्णता को सूचित किया गया है ।

अमृतचन्द्र की मौलिक कृतियाँ

1. तत्त्वार्थसार का बहिरङ्ग परिचय

ग्रन्थ कर्तृत्व

अमृतचन्द्र अपनी कृति तत्त्वार्थसार में अपनी अन्य कृतियों की भाँति यहाँ भी अपने कर्तृत्व के भेद से रहित रहने हेतु लिखते हैं कि अक्षर पदों के कर्ता हैं, पदसमूह वाक्यों के कर्ता हैं तथा वाक्य इस शास्त्र के कर्ता हैं, हम - अमृतचन्द्र नहीं हैं।[1] इनकी अन्य कृतियों की भाँति तत्त्वार्थसार के समापन के साथ भी इनके नाम का प्रयोग देखने को मिलता है ।[2] इस कृति के अन्त में टीकाकार के इस उल्लेख "टीकाकर्तृनिवेदनम्" द्वारा भी यह स्पष्ट होता है कि तत्त्वार्थसार के प्रणेता अमृतचन्द्र ही हैं।[3] अतएव उक्त शैली तथा विविध तथ्यों से निर्विवादतः यह स्पष्ट होता है कि तत्त्वार्थसार अमृतचन्द्र की ही कृति है, क्योंकि इस तथ्य के विरुद्ध आज तक किसी विद्वान् ने भी कोई टिप्पणी नहीं की है ।

परिमाण

तत्त्वार्थसार उपसंहार को छोड़कर आठ अध्यायों में विभक्त है। इसमें समस्त श्लोकों की संख्या 718 [उपसंहार सहित] है ।

तत्त्वार्थसार का अन्तरङ्ग परिचय

तत्त्वार्थसार आचार्य अमृतचन्द्र सूरि की तत्त्व विषयक कृति है। आचार्य की यह कृति आचार्य उमास्वामी कृत तत्त्वार्थसूत्र की शैली में लिखी गई स्वतन्त्र

1- तत्त्वार्थसार, उपसंहार 23.

2- "इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिणां कृतिः तत्त्वार्थसारो नाम मोक्ष शास्त्रं समाप्तं।"

3- "अमृतेन्दुर्महासूरिर्नानानय विशारदः ।
ग्रन्थं तत्त्वार्थसारं च रचयामास सत्कुधः ।। । ।। -टीकाकर्तृनिवेदनम्
[तत्त्वार्थसार का अन्तिम भाग].

रचना मानी जाती है ।[1] इस कृति पर तत्वार्थसूत्र का स्पष्ट छाप दृष्टिगोचर होता है । यहाँ यत्र-तत्र अन्य टीकाओं, जैसे – सर्वार्थसिद्धि, तत्वार्थराजवार्तिक के गद्यांशों का प्रयोग पद्य रूप में किया गया है। अतएव इस कृति को तत्वार्थसूत्र के टीका स्वरूप मानने में भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती है । आचार्य अमृतचन्द्र इस कृति के मंगलाचरण में लिखते हैं कि तत्वार्थसार नामक यह कृति मोक्षमार्ग को प्रकाशित करने वाले दीपक के समान है। इसमें मुमुक्षुओं के हित हेतु तत्वार्थ के ही सार को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है ।[2]

इस प्रकार तत्वार्थसार में निहित तथ्यों का विवेचन आठ अधिकारों में किया गया है। यथा –

1. सप्ततत्व पीठिका,
2. जीव तत्व वर्णन,
3. अजीव तत्व वर्णन,
4. आस्रव तत्व वर्णन,
5. बन्ध तत्व वर्णन,
6. संवर तत्व वर्णन,
7. निर्जरा तत्व वर्णन,
8. मोक्ष तत्व वर्णन ।

कृति के अन्त में उपसंहार स्वरूप इक्कीस पद्यों का सृजन हुआ है। यहाँ इन अधिकारों की प्रासंगिकतावश इनका संक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है —

प्रथम अधिकार "सप्ततत्वपीठिका" में तत्वार्थसार को मोक्ष मार्ग को प्रकाशित करने वाला दीपक कहा गया है, क्योंकि यहाँ युक्ति तथा आगम से सुनिश्चित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। इस

1- तत्वार्थसार, प्रस्तावना, पृ0 16.

2- वही, श्लोक 2.

अधिकार में तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार मोक्ष का मार्ग, सात तत्त्वार्थों तथा उनको जानने हेतु चार निक्षेपों - नाम, स्थापना, द्रव्य तथा भाव के साथ-साथ प्रमाण तथा नयों का सविस्तार वर्णन किया गया है। इस अधिकार के अन्त में निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान तथा सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव तथा अल्पबहुत्व अनुयोगों का उल्लेख किया गया है ।

दूसरे अधिकार में जीव के औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदायिक तथा पारिणामिक - इन पाँच भावों का वर्णन करके, जीव का वर्णन करते हुए चौदह गुण स्थान, चौदह जीव समास, छः पर्याप्तियाँ, दस प्राण तथा चौदह मार्गणाओं का कथन किया गया है। तत्त्वार्थसार के द्वितीय अधिकार में "तत्त्वार्थसूत्र" के द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ अध्याय के तथ्य समाविष्ट हैं तथा सर्वार्थसिद्धि व राजवार्तिक के अन्य विषय भी इसमें समाविष्ट हैं।

तृतीय अधिकार अजीव तत्त्व के वर्णन में छः द्रव्यों के स्वरूप, उनके प्रदेश, कार्य, पुद्गलों के भेद, अणु तथा स्कन्ध स्वरूप, पुद्गल द्रव्य के पर्याय तथा स्कन्ध बनने की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। इसमें तत्त्वार्थसूत्र का पाँचवाँ अधिकार तथा सर्वार्थसिद्धि टीका के तथ्यों का निरूपण हुआ है ।

चौथा अधिकार आस्रवाधिकार है । यहाँ तत्त्वार्थसारकार ने तत्त्वार्थसूत्र के षष्ठ तथा सप्तम् अधिकार के तथ्यों तथा अकलंक स्वामी के तत्त्वार्थराजवार्तिक को आधार बनाया है । यहाँ मन, वचन तथा काय के योगों को आस्रव कहा गया है। योग का विभाजन शुभ-अशुभ तथा पुण्य-पाप में हुआ है। इस तरह शुभास्रव में सभी प्रकार के व्रतों का वर्णन किया गया है ।

पंचम अधिकार में बन्ध तत्त्व का विवेचन, कर्मों के मूल तथा उत्तर प्रकृतियों के नाम, लक्षण, तथा उनकी स्थिति आदि का दिग्दर्शन कराया गया है। इस अधिकार में तत्त्वार्थसूत्र के अष्टम अध्याय के तथ्य निरूपित हैं ।

षष्ठ अधिकार में संवर तत्व का वर्णन है। यहाँ संवर का स्वरूप तथा उसके कारणभूत गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय तथा चारित्र का वर्णन किया गया है। इस अधिकार में तत्वार्थसूत्र के नवम् अधिकार का स्पष्ट छाप दृष्टिगोचर होता है ।

सप्तम अधिकार निर्जरा तत्व विवेचन में निर्जरा के भेद तथा निर्जरा के कारणभूत तपों का सविस्तार से वर्णन किया गया है। इस अधिकार का आधार तत्वार्थसूत्र के नवम् अध्याय का उत्तरार्ध भाग है ।

अष्टम अधिकार मोक्ष तत्व का विवेचक है । यहाँ बन्ध के कारणों के अभाव तथा पूर्वबद्ध समस्त कर्मों की निर्जरा को मोक्ष कहा गया है। इस तरह मोक्ष के लक्षण एवं उसके प्राप्ति के क्रमों का उल्लेख सविस्तार से किया गया है। इस अधिकार के आधार स्वरूप तत्वार्थसूत्र के दशम अध्याय तथा विशद स्पष्टीकरण हेतु राजवार्तिक को आधार बनाया गया है ।

अन्त में उपसंहार स्वरूप कहा गया है कि प्रमाण, नय, निक्षेप तथा निर्देश आदि के द्वारा सात तत्वों को जानकर मोक्ष मार्ग का आश्रय लेना चाहिए। निश्चय तथा व्यवहार भेद से मोक्ष मार्ग भी दो प्रकार का कहा गया है। निश्चय मोक्ष - मार्ग आत्माश्रित तथा व्यवहार मोक्ष मार्ग पराश्रित है। व्यवहार मोक्ष मार्ग अन्त में निश्चय मोक्ष मार्ग में परिणत हो जाता है तथा साक्षात् मोक्ष की प्राप्ति होती है । अन्त में कहा गया है कि सुबुद्धि जन तत्वार्थसार को जानकर मोक्षमार्ग में स्थित होता है तथा निश्चय मोक्ष तत्व की प्राप्ति करता है ।

2. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का अन्तरङ्ग परिचय

कर्तृत्व प्रमाण

"पुरुषार्थसिद्ध्युपाय" श्रावकाचार से सम्बन्धित आध्यात्मिक कृति है। यह "जिनप्रवचनरहस्यकोष" के नाम से भी जाना जाता है। इस ग्रन्थ के अन्त में प्रणेता के रूप में अमृतचन्द्र के नाम का प्रयोग हुआ है ।[1] अमृतचन्द्र की अन्य कृतियों की

---

[1] इति श्री अमृतचन्द्रसूरिकृत पुरुषार्थसिद्ध्युपाय अपर नाम "जिनप्रवचनरहस्यकोष" ग्रन्थ सम्पूर्णम् .

भाषा-शैली, विषय स्पष्टीकरण क्षमता तथा अन्त में ग्रन्थ कर्तृत्व के श्रेय से रहित होने की भावना आदि को ध्यान में रखकर पुरुषार्थसिद्ध्युपाय को देखने से यह स्पष्ट होता है कि यह कृति अवश्य ही अमृतचन्द्र की है। इस सम्बन्ध में सभी विद्वानों की निर्विवाद सहमति भी है।

परिमाण

यह "पुरुषार्थसिद्ध्युपाय" नामक मौलिक एवं आचार विषयक कृति 226 आर्या छन्दों में रचित है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का अन्तरङ्ग परिचय

प्रायः यह स्पष्ट है कि "पुरुषार्थसिद्ध्युपाय" आचार्य अमृतचन्द्र सूरि की मौलिक रचना है। यह कृति श्रावकाचार से सम्बन्धित है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी कृत "रत्नकरण्डश्रावकाचार" के पश्चात् पुरुषार्थसिद्ध्युपाय को ही आचार-संहिता के रूप में सर्वोच्च एवं महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। इस कृति के नाम का उल्लेख स्वयं आचार्य ही "उत्थानिका" में ग्रन्थ प्रतिज्ञा के साथ करते हैं ।[1] इस कृति का अपर नाम "जिनप्रवचनरहस्य"[2] भी है ।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में चार पद (पुरुष, अर्थ, सिद्धि तथा उपाय) का समायोजन है। आचार्य स्वयं इस ग्रन्थ में पुरुष का तात्पर्य चैतन्य स्वरूप आत्मा से बताते हैं।[3] इस तरह पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का अर्थ चैतन्य स्वरूप आत्मा के प्रयोजन की सिद्धि का उपाय होना चाहिए। इस कृति में सब मिलाकर 226 पद्य हैं। पद्यों के वर्ण्य-विषय को ध्यान में रखकर पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के तथ्यों को निम्नलिखित

1- पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य क्रमांक 3.

2- इति श्री अमृतचन्द्रसूरि कृत पुरुषार्थसिद्ध्युपाय अपर नाम जिनप्रवचनरहस्यकोश ग्रन्थ सम्पूर्णम् ।

3- पु०उ०, पद्य क्रमांक 9.

प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है --

[1] मंगलाचरण व उत्थानिका

[2] 1. सम्यग्दर्शन

2. सम्यग्ज्ञान

3. सम्यक्चारित्र

4. सल्लेखना

5. अतिचार

6. सकलचारित्र ।

मंगलाचरण व उत्थानिका में व्यक्ति विशेष की अपेक्षा गुण को ही पूज्य चरितार्थ करते हुए परज्योति अर्थात् शुद्ध चैतन्य स्वरूप इष्टदेव व अनेकान्त को नमस्कार, परमागम की आलोचना तथा ग्रन्थ रचना करने के प्रतिज्ञास्वरूप पद्य रचे गये हैं ।[1] इसके बाद निश्चय [भूतार्थ] तथा व्यवहार [अभूतार्थ] को समझाकर अन्त में यही कहा गया है कि समग्र देशना के रहस्य समझने में वही सक्षम होता है, जो इन नय पक्षों में तटस्थभाव रखता है ।[2] ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय में चैतन्य आत्मा को पुरुष कहकर इसे स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि से रहित, गुण-पर्याय सहित व उत्पादव्यय-ध्रौव्य से युक्त कहा गया है। बताया गया है कि जीव के परिणाम पुद्गल कर्मों के तथा पुद्गल के परिणाम जीव के कर्ता नहीं हो सकते । इस कार्य-कारण या निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को अज्ञानी जीव नहीं समझते हुए रागादिक तथा शरीरादि को एक-दूसरे का कर्ता मानते हैं। यही अज्ञान उनके संसार परिभ्रमण का कारण बनता है ।[3] निज आत्मा के वास्तविक ज्ञान तथा विपरीत अज्ञान् के नाश को ही पुरुषार्थसिद्धि का उपाय बताया गया है ।

1- पु0उ0, 1-4.

2- वही, 5-8.

3- वही, 12-14.

सम्यग्दर्शन में मुख्यतः इसके स्वरूप तथा आठ अंगों का वर्णन किया गया है। जीव तथा अजीव आदि तत्वार्थों का विपरीत अभिप्राय से रहित श्रद्धान् करना ही आत्म श्रद्धान् है। आत्म श्रद्धान् को ही सम्यक्दर्शन कहा गया है। इसके आठ अंग निम्नलिखित हैं —

{अ} निःशंकित - सर्वज्ञ कथित अनेकान्त स्वरूप वस्तु स्वभाव में शङ्का नहीं करना निःशंकित है ।

{ब} निःकांक्षित - लौकिक सम्पदा तथा अलौकिक पद आदि एकान्तिक मतों की आकांक्षा से रहित होना निःकांक्षित है ।

{स} निर्विचिकित्सा - भूख, प्यास, सर्दी-गर्मी आदि भावों व मलमूत्रादि से सम्पर्क होने पर ग्लानि का न करना निर्विचिकित्सा है ।

{द} अमूढ़दृष्टि - मिथ्यातत्वों, मिथ्या शास्त्रों, मिथ्या देवताओं में श्रद्धा नहीं रखना तथा तत्वरुचि रखना अमूढ़दृष्टि है ।

{य} उपगूहन या उपबृंहण - मार्दव आदि भावनाओं से आत्मा के शुद्ध स्वरूप की वृद्धि तथा दूसरे के दोषों को गुप्त रखना उपगूहन है ।

{र} स्थितिकरण - काम, क्रोध, मद आदि भावनाओं से स्व तथा पर को न्याय मार्ग से विचलित होने से बचाने को स्थितिकरण कहा जाता है ।

{ल} वात्सल्य - अहिंसा तथा सभी साधर्मी जनों में सदैव उत्कृष्ट वात्सल्य की भावना वात्सल्य अंग है ।

{व} प्रभावना - सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से आत्मा को प्रभावित करना तथा दान, जप, जिनपूजा आदि के अतिशय द्वारा जैन-धर्म की प्रभावना करना प्रभावना कहलाता है ।[1]

इसके पश्चात् सम्यग्ज्ञान के स्वरूप, सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान में कारण-कार्य होने की विधि का वर्णन किया गया है। ज्ञान के भी आठ अंग क्रमशः व्यंजना-

---

1- पु0उ0, 20-30.

चार, अर्थाचार, उभयाचार, कालाचार, विनयाचार, उपधानाचार, बहुमानाचार, तथा अनिह्नवाचार बताये गये हैं।[1]

सम्यग्ज्ञान के बाद सम्यक्चारित्र का वर्णन है। सम्यक्चारित्र के स्वरूप वर्णन में कहा गया है कि समस्त पापयुक्त मन-वचन-काय के योग के त्याग से चारित्र होता है जो सम्पूर्ण कषाय रहित, निर्मल, विरक्तायुक्त तथा आत्मस्वरूप होता है।[2] इसके बाद चारित्र के देश चारित्र तथा सकल चारित्र दो भेद किए गए हैं। यहाँ अहिंसा तथा हिंसा का वर्णन अत्यन्त ही विशिष्टता से हुआ है। बताया गया है कि रागादि भावों की उत्पत्ति ही हिंसा है।[3] अन्त में श्रावक के बारह व्रतों आदि पर विशिष्ट प्रकाश डाला गया है।

सल्लेखना का तात्पर्य समाधिमरण से है। सल्लेखना में रागादिक भावों का अभाव होता है। इसीलिए इसे आत्मघाती रहित होना कहा गया है।[4] ज्ञानी मनुष्य अपने मृत्यु के समय को जानकर आत्मध्यानस्थ होकर मृत्यु को वरण कर लेता है। इस प्रसङ्ग में कषायों की शक्ति पर विशेष प्रकाश डालते हुए समाधि-मरण की विधि, इसकी आवश्यकता व उपयोगिता आदि का सविस्तार से वर्णन किया गया है।

अतिचार में सल्लेखना को अहिंसा स्वरूप बताते हुए सम्यक्त्व, श्रावक के बारह व्रतों व शीलव्रतों के अतिचारों का निरूपण किया गया है।[5] इसमें सब मिलाकर सत्तर अतिचारों का वर्णन है।

1- पु०उ०, 36.

2- वही, 37-38.

3- वही, 44.

4- वही, 175-177.

5- वही, 181-186.

सकलचारित्र में मुनि धर्म के स्वरूप, षट आवश्यक-समता, वेदना, स्तव, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, तथा कायोत्सर्ग; बारह तपों - अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्तशय्यासन तथा काय क्लेश छः बाह्य तप तथा छः अंतरंग तप विनय, वैयावृत्य, प्रायश्चित्, व्युत्सर्ग, स्वाध्याय तथा ध्यान का वर्णन है। यहाँ तीन गुप्ति-मन, वचन तथा काय; पाँच समितियाँ - ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण तथा प्रतिष्ठापना; दशधर्म - उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य तथा ब्रह्मचर्य, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परिषहजय इत्यादि का वर्णन किया गया है ।[1]

अन्त में रत्नत्रय [सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र] को मोक्ष मार्ग होने का निरूपण किया गया है। इसी मार्ग का पथिक होने से परमपद प्राप्त होता है। यह परमपद मोक्ष पद है, जहाँ विषयसुख से रहित ज्ञानानन्द की प्राप्ति होती है ।

इस तरह "पुरुषार्थसिद्ध्युपाय" के विषय-वस्तु को संक्षेप में व्यक्त किया जा रहा है। अन्त में आचार्य ने जैन नीति के अनुकूल सार तत्त्व को ग्रहण करने, अन्य को गौण करने के लिए स्याद्वाद की भाषा का प्रयोग किया है ।[2] तत्पश्चात् आचार्य वर्णों से शब्द, शब्दों से वाक्य तथा वाक्यों से पवित्र "पुरुषार्थसिद्ध्युपाय" की रचना बताते हुए अपने को कर्तृत्व के श्रेय से वंचित रखना चाहते हैं ।[3]

3. लघुतत्त्वस्फोट का बहिरङ्ग परिचय

कर्तृत्व प्रमाण

निर्विवादतः यह अमृतचन्द्र की नवीनतम उपलब्ध एवं प्रकाशित कृति है। इस कृति में अमृतचन्द्र के नाम का कवीन्द्र पद सहित प्रयोग स्पष्ट रूप से दो स्थानों

1- पु0उ0, 197-210.

2- वही, 225.

3- वही, 226.

पर पाया जाता है।[1] इसके साथ-साथ "लघुतत्त्वस्फोट" के कुछ पद समयसार कलश के पद के अनुरूप प्रतीत होते हैं।[2] इनकी अन्य कृतियों की तरह इस कृति के समापन में भी इनके प्रणेता होने का संकेत प्राप्त होता है।[3]

परिमाण

"लघुतत्त्वस्फोट" पच्चीस अध्यायों में विभक्त है, जिसके प्रत्येक अध्याय में 25-25 श्लोक हैं। इस तरह इस कृति के समस्त श्लोकों की संख्या 625 है ।

लघुतत्त्वस्फोट का अन्तरङ्ग परिचय

इस कृति का प्रकाशन आचार्य की समस्त कृतियों के बहुत बाद हुआ है। इस कृति के लेखक अमृतचन्द्राचार्य हैं। इसका उल्लेख लघुतत्त्वस्फोट के प्रथम अध्याय के अन्त में[4] तथा इसके अन्तिम अध्याय के उपसंहारात्मक पद्य[5] के अध्ययन से मिलता है। इसी उपसंहारात्मक पद्य के अन्त में इस कृति का दूसरा नाम "शक्तिमणितकोश" या "शक्तिभणितकोश" बताया गया है। यहाँ मणित का अर्थ "मणि से जड़ित" तथा भणित शब्द का अर्थ "कथन करने वाला" है। इस तरह दोनों ही नामों का अर्थ क्रमशः शक्ति रूप मणि से जड़ित कोश या शक्ति रूप से कथन करने वाला कोश होगा।

यह कृति पच्चीस अध्यायों में विभक्त है। इसके प्रत्येक विभाग में पच्चीस

1- लघुतत्त्वस्फोट, अध्याय1, पद्य 25 ; अध्याय 25 के अन्त का पहला श्लोक.

2- लघुतत्त्वस्फोट के 507 तथा 624 वाँ पद्य समयसार कलश के 269 तथा 141 वें पद्य के अनुरूप है.

3- "इत्यमृतचन्द्रसूरिणां कृतिः शक्तिमणितकोशो नाम लघुतत्त्वस्फोटः समाप्तः।"

4- लघुतत्त्वस्फोट, अध्याय 1, पद्य 25.

5- वही, अध्याय 25, पद्य 26.

पद्य हैं। यहाँ आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के "द्वात्रिंशिकास्तोत्र" का प्रभाव दीखता है। साथ-साथ आचार्य समन्तभद्र की कृति "स्वयंभूस्तोत्र" का भी प्रभाव लघुतत्त्वस्फोट पर परिलक्षित होता है। यहाँ भी स्तोत्र में वर्णित चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति तथा तत्त्व का गम्भीर विवेचन उक्त "स्वयंभूस्तोत्र" की भाँति हुआ है। इस कृति के प्रथम अधिकार में चौबीस तीर्थंकरों से सम्बन्धित स्तुति को चौबीस पद्य में व्यक्त किया गया है तथा अन्तिम पद्य में नामावली स्तोत्र अर्थात् सभी तीर्थंकरों के नाम का उल्लेख स्तुति पूर्वक स्पष्ट किया गया है तथा कहा गया है कि जो भव्य जीव इसकी भावना करते हैं, इसमें प्रतिपादित जिनेन्द्र गुण का नयविवक्षा के अनुसार चिन्तन करते हैं, वे स्वयं सर्वज्ञ बनकर समस्त पदार्थों को अनायास जानने लगते हैं और रागादि विकारी भावों से रहित होकर वीतरागी हो जाते हैं। वीतराग बनने पर कर्म बन्ध छूट जाते हैं। दूसरे स्तुति अधिकार में किसी विशिष्ट तीर्थंकर की स्तुति न होकर ज्ञान-ज्योति रूप के प्रति आध्यात्मिक विवेचन किया गया है। यहाँ पहले बताया गया है कि दर्शन तथा ज्ञान स्व-पर के प्रकाशक होने से सभी गुणों में प्रमुख हैं। अन्तर्मुख चित् प्रकाश को दर्शन तथा बहिर्मुख चित्प्रकाश को ज्ञान कहा जाता है। प्रारम्भ से दसवें गुण स्थान तक के जीवों का ज्ञान-दर्शन-राग सद्भाव होने से वह आकुलता से परिपूर्ण रहता है। ग्यारहवें तथा बारहवें गुण स्थान में रागादि रहित स्थिति होने पर भी ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण के उदय से अनन्त सुख की स्थिति नहीं होती है। तेरहवें तथा चौदहवें गुण स्थानवर्ती जीवों में ज्ञान-दर्शन के अपरिमित होने से वह पूर्णता को प्राप्त होता है। इस तरह इस अधिकार के समस्त पद्यों में जीव तथा परपर्यायों का विश्लेषण कर आत्मिक उत्थान का रूप प्रदर्शित किया गया है। तीसरा स्तुति परक अधिकार चारित्र प्रधान है। यहाँ आध्यात्मिक चारित्र से युक्त परमानन्द पाने का हार्दिक उद्गार व्यक्त किया गया है। यहाँ सिद्ध भगवान् के समस्त आत्मिक सुखों को अतुलनीय कहा गया है। सिद्धों की स्तुति उनके आध्यात्मिक चारित्रों का उल्लेख कर की गयी है, तथा उसे अनुकरणीय बताया गया है। चतुर्थ स्तुति अधिकार में ज्ञान रूप तेज को उसके विशिष्ट गुणों के वर्णन के साथ

नमस्कार किया गया है तथा उसके समस्त आध्यात्मिक वैभव का विवेचन अत्यन्त ही सविस्तार से किया गया है। पंचम स्तुति अधिकार का प्रारम्भ विरोधाभास, अलंकारिक शैली से होता है। स्तुति में कहा गया है कि हे भगवन्! आप बुद्धिरहित होते हुए भी अत्यन्त उन्नति को प्राप्त हैं। इसी तरह अनेक गुणों का कथन करके उसे भौतिक विकास से रहित तथा आध्यात्मिक उन्नति के शीर्षस्थ स्थान पर आरूढ़ बताया गया है। ऐसी स्तुतियों का लक्ष्य आत्मस्वरूप का उद्घाटन करना तथा भक्ति पूर्वक उसे अपने में प्रतिष्ठित करना है। छठीं स्तुति में संसार का कारण-क्रिया को बताते हुए सम्यक्चारित्र द्वारा क्रिया का नष्ट होना कहा गया है। सातवें स्तुति अधिकार में आत्मज्ञान के अमृत रूपी एक कण को भी औषधि रूप कह कर स्तुति की गई है। यहाँ भी सभी पद्यों में केवल ज्ञान रूपी ज्योति के रूप में भगवान् का स्तवन एवं वर्णन किया गया है। आठवें स्तुति अधिकार में कषाय के संचय को बन्ध का कारण तथा कषाय क्षय को तत्वज्ञानी होने का कारण कहकर सभी पद्यों में कषायों को लेकर स्तवन किया गया है। नवें स्तुति अधिकार में संयम तथा गुण से युक्त केवल ज्ञानी के प्रति स्तुति तथा उसके द्वारा मोक्ष मार्ग का उपदेश दिये जाने की महिमा का वर्णन है। दसवें स्तुति अधिकार में शुद्ध नय की दृष्टि से स्तुति की गई है। ग्यारहवें स्तुति अधिकार में मुख्य रूप से दर्शन तथा ज्ञान को लेकर स्तवन किया गया है। बारहवीं अधिकार की पद्यात्मक स्तुतियाँ अनेकान्त शैली में, स्व तथा पर गुणों का उद्घाटन करती हैं तथा यहाँ केवल ज्ञानी को सर्वज्ञ कहा गया है। तेरहवें स्तुति अधिकार में ज्ञान के स्व-पर प्रकाश को लेकर स्तवन किया गया है। चौदहवें स्तुति अधिकार में ज्ञान-दर्शन मय चितिमात्र को लेकर स्तवन किया गया है। पन्द्रहवें तथा सोलहवें स्तुति अधिकार भी प्रायः इसी प्रकार वर्णित हैं। सत्रहवें स्तुति अधिकार का सम्बन्ध स्याद्वादि से है। अठारहवाँ स्तुति अधिकार सामान्य-विशेष, भाव-अभाव, वाच्य-अवाच्य आदि अनेकान्तों का विवेचन करता है। उन्नीसवें स्तुति अधिकार का प्रतिपाद्य भी प्रायः इसी प्रकार है। बीसवें स्तुति अधिकार में व्यावहारिक नयों को लेकर विवेचन किया गया है। इक्कीसवें स्तुति अधिकार में भी सामान्य विशेष रूप, द्रव्यपर्यायरूप से स्तवन

किया गया है। बाइसवाँ स्तुति अधिकार भी करीब-करीब पूर्ववत् है, केवल उसके उपपादान तथा भावनाभूति में अन्तर है। तेइसवें स्तुति अधिकार में विभिन्न विकल्पों द्वारा भगवान् के गुणों का स्मरण किया गया है तथा अन्तश्चाक्षुरुदय प्रकट होने की इच्छा व्यक्त की गई है। चौबीसवें स्तुति अधिकार में भगवान् जिनेन्द्र को महान् शक्तिशाली तथा उनके स्वरूप के ध्यान से वंचित को भाग्यहीन कहा गया है। कहा गया है कि हे प्रभु! आपके स्वरूपामृत का पान कर किसे आनन्द रूपी उन्माद नहीं होता? आचार्य अपनी भक्तवत्सलता को भाव में व्यक्त करते हैं कि जिस चैतन्यरूपी चाँदनी के सागर में तीनों लोक मानो डूबे रहे हैं, उसमें यह, मैं; दूर से ही थिना डूबा दिखाई देता हूँ, फिर भी मैं सदा आपमें मग्न हूँ। पच्चीसवें स्तुति अधिकार में कर्म तथा ज्ञान के समुच्चय रूप का वर्णन है। कहा गया है कि जो पूर्व असंयम से संचित कर्मरज के विनाश के लिए सादर हृदय से संयम धारण करते हैं, वे ही सहज अवस्था में स्फुट अन्तस्तेज को प्राप्त होते हैं। यह अधिकार मोक्षार्थियों एवं मुमुक्षुओं के लिए अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। इस तरह आचार्य अमृतचन्द्र कृत "लघुतत्त्वस्फोट" एक ऐसी कृति है जिसके मूल में भक्ति की भावना होते हुए भी दार्शनिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान का पुट मिलता है। इस कृति में स्तुति भाव में ही आत्मा तथा परपर्यायों का स्पष्ट विवेचन हुआ है।

इस तरह आचार्य की कृतियों "समयसार", "प्रवचनसार" तथा "पंचास्तिकाय" की टीका में क्रमशः आत्मा का विभिन्न नयों से विवेचन, ज्ञान तत्त्व, ज्ञेयतत्त्व तथा चरणानुयोग चूलिका तथा पंचास्तिकाय व नव पदार्थपूर्वक मोक्ष मार्ग का वर्णन किया गया है। "तत्त्वार्थसार" में तत्त्वों का निरूपण सविस्तार हुआ है। उनकी मूलकृति में "पुरुषार्थसिद्ध्युपाय" जहाँ श्रावकाचार से सम्बन्धित है तो दूसरी ओर "लघुतत्त्वस्फोट" उनकी भक्ति भावना को स्तुति के रूप में मुखर करती है। आचार्य अमृतचन्द्र सूरि की कृति का वर्णनात्मक पक्ष क्रमशः आध्यात्मिक, आचारात्मक तथा भक्तित्व तीन गुणों से पूर्ण है। उनकी सभी कृतियों के मूल में शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही प्रवाह पाया जाता है जो सर्वथा परपर्यायों से भिन्न है। इस तरह आचार्य की कृतियों के तीनों पक्षों के मूल में उनका आध्यात्मिक पक्ष ही अधिक मुखर है।

आचार्य अमृतचन्द्र सूरि की कृतियों का समालोचनात्मक अध्ययन

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि, आचार्य कुन्दकुन्द से लगभग एक हजार वर्ष पश्चात् हुए थे। वे उनके प्रथम सफल टीकाकार भी हैं। इनका व्यक्तित्व एक टीकाकार के रूप में ही नहीं वरन् विशद व गम्भीर तत्त्व विवेचन से पूर्ण मौलिक ग्रन्थों के प्रणेता के रूप में भी है। इनके द्वारा समयसार, प्रवचनसार तथा पंचास्तिकाय पर की गई टीका को भले ही टीका के नाम से जाना जाय, लेकिन इनके उत्कृष्ट पाँडित्य, आध्यात्मिक व दार्शनिक विवेचन ने इन टीकाओं को मौलिक रूप प्रदान करने में पूर्णतः सफलता प्राप्त की है। इन्होंने अपनी कृतियों में कहीं भी अपने को प्रणेता या लेखक स्पष्ट न करके अपने सन्त स्वभाव का परिचय दिया है।

इनकी प्रथम कृति "समयसार" की टीका "आत्मख्याति" प्रधानतः गद्य टीका ही है, लेकिन कुन्दकुन्दाचार्य के सिद्धान्तों को व्यक्त करने में इनके द्वारा कलशों का जो प्रणयन हुआ है वह सर्वथा नवीन एवं गम्भीर आत्मतत्त्व प्रकाशन का प्रतीक है। इनकी इस टीका के गद्य तथा पद्य रूप व्याख्या को देखने से ऐसा लगता है कि ये साहित्य के क्षेत्र में भी अद्वितीय प्रतिभा सम्पन्न थे। "आत्मख्याति" में कुन्दकुन्द के चार सौ पन्द्रह गाथाओं पर गद्य टीका है। साथ-साथ इन्होंने स्याद्वाद अधिकार के विवेचन को अलग से प्रस्तुत किया है। इस तरह इस कृति में सब मिलाकर दो सौ सतहत्तर [277] कलशों का समायोजन हुआ है, जो इनकी मूल कृति पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के समस्त पद्य संख्या से इक्यावन [51] अधिक ही है। जैन परम्परा की आधुनिक विद्वत मण्डली ने इन कलशों का संकलन कर मूल कृति का रूप प्रदान कर दिया है, जिसका नामकरण "परमाध्यात्मतरंगिणी" किया गया है।

इसप्रकार यह कृति आत्मविवेचन का अनुपम ग्रन्थ है। इन्होंने व्यवहार तथा निश्चय नय से आत्मा का कथन कर शुद्ध चैतन्य स्वरूपात्मक सत्ता [समयसार] को

स्पष्ट किया है। व्यवहार नय ही जन सामान्य में प्रचारित है, अतएव इन्होंने व्यवहार के बिना निश्चय का प्रतिपादन करना उचित नहीं समझा है ।[1] इनकी इस टीका में समय शब्द का अतिरहस्यमय रूप स्पष्ट हुआ है। इसे स्वानुभव से प्रकाशमान्, चैतन्यस्वभावमय, शुद्धसत्तारूप, सर्वभावों को एक ही समय में जानने वाला अर्थात् भावान्तरों को हटाने वाला कहा गया है ।[2] इनकी तीन टीकाओं में कुन्दकुन्द की गाथाओं के मूल रहस्य को स्पष्ट करने हेतु बहुत सारे दृष्टान्तों का प्रयोग हुआ है। दृष्टान्तों के प्रयोग से टीका सुस्पष्ट एवं सुसज्जित है। यथा - आत्मा को पुद्गल कर्म काअकर्ता कहने हेतु मिट्टी के घड़े का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है ।[3] शुभ तथा अशुभ कर्म से होने वाले बन्ध को सोने तथा लोहे की जंजीर के उदाहरण से स्पष्ट किया गया है ।[4] 'प्रवचनसार' की टीका में सूर्य के उदाहरण से आत्मा का वर्णन किया गया है ।[5]

इनकी टीका में तार्किक तथा नैयायिक पद्धति काउपयोग हुआ है । इन्होंने स्वयं लिखा भी है कि मैं आगम का अध्ययन, युक्ति का अवलम्बन, परापर गुरु का उपदेश तथा स्वसंवेदन इन चार उपायों से उत्पन्न हुए अपने ज्ञान के वैभव से एकत्व, विभक्त शुद्ध आत्मा का स्वरूप बता रहा हूँ ।[6] आचार्य ने कारण के अनुरूप कार्य होने के आधार पर उपयोग {आत्मा की चैतन्य गुण से सम्बन्ध रखने वाली परिणति} में प्रतिफलित विकार को अचेतन कहते हुए[7] कारण के प्रतिषेध से कार्य का प्रतिषेध होने के आधार पर बाह्य वस्तु के आश्रय के बिना अध्यवसान का नहीं होना बताया

1- आत्मख्याति, गाथा 8 की टीका.

2- समयसार कलश, 1.

3- आत्मख्याति, गाथा 104 की टीका.

4- वही, गाथा 146 की टीका.

5- प्रवचनसार की टीका तत्त्वप्रदीपिका, 68.

6- आत्मख्याति, गाथा 5 की टीका.

8- वही, गाथा 68 की टीका.

है। यह अध्यवसान ही बन्ध का कारण है ।[1] न्याय के पंचावयव- प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन वाक्यों के प्रयोग से दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों को एक आत्मा ही कहा गया है ।[2] इस तरह अमृतचन्द्राचार्य की शैली तर्क एवं न्याय पर आधारित है । इनकी समयसारादि टीकाओं में एक ही शब्द को स्पष्ट एवं ग्राह्य बनाने हेतु उसके पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग हुआ है । यथा - समयसार की टीका में "चामीकर" शब्द काप्रयोग स्वर्ण के लिए हुआ है ।[3] स्वर्ण के लिए कनक, कार्तस्वर, सुवर्ण, कांचन, जांबूनद, कल्याण आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है ।[4] इस तरह आचार्य अपनी टीकाओं में एक ही शब्द को समझाने हेतु दूसरे अनेक शब्दों का प्रयोग करते हैं, जिससे टीकाएँ सुग्राह्य एवं सुस्पष्ट हो जाती हैं ।

इनकी टीकाएँ निर्भीकता एवं दृढ़ भाव से प्रस्तुत की गई हैं । इन्होंने चारित्र के बारे में स्पष्ट लिखा है कि सराग चारित्र अनिष्ट फल वाला, पुण्य बन्ध प्राप्ति का हेतु, देवेन्द्र-असुरेन्द्र-नरेन्द्र के वैभव रूप क्लेश तथा बन्ध का कारण है ; अतः हेय है, और वीतराग चारित्र, इष्टफलवाला, मोक्ष प्राप्ति का हेतु, सर्वक्लेश रहित मोक्ष का कारण है, अतः उपादेय है ।[5] आत्मा के अनेकान्त स्वरूप की सिद्धि हेतु सैंतालीस नयों का प्रयोग इनकी विशिष्टता है ।[6] इनकी टीका तत्त्वव्याख्या में भी स्याद्वाद व अनेकान्तवाद शैली का प्रयोग उत्कृष्ट तरीके से हुआ है। इन्होंने इस टीका के परिशिष्ट में व्यवहार भाषी तथा निश्चयभाषी

1- आत्मख्याति, गाथा 265 की टीका.

2- वही, गाथा 16 की टीका.

3- वही, गाथा 38 की टीका.

4- तत्त्वप्रदीपिका, गाथा 91, 96, 87, 111, 113, 18 तथा 77 की टीकाएँ.

5- वही, गाथा 5-6 की टीका.

6- प्रवचनसार टीका परिशिष्ट.

का मार्मिक चित्रण मौलिक रूप से प्रस्तुत किया है। इन्होंने इस टीकाके आरम्भ में ही तीन पद्यों में पूरी टीका की विषय-वस्तु बताकर एक नयी शैली को जन्म दिया है ।[1]

इनकी मौलिक कृतियों में तत्वार्थसार तत्व विषयक क्षेत्र में विभिन्न भावों में सामंजस्य उपस्थित करने के साथ-साथ तत्व निरूपण की परम्परा में एक अद्वितीय कड़ी के रूप में काम करता है। जैन परम्परा में दो ही कृतियों को अत्यन्त व्यवहारोपयोगी कहा गया है। वह है - "समयसार" जो आत्म विषयक सुविवेचना प्रस्तुत करता है तथा दूसरा उमास्वाति का "तत्वार्थसूत्र" जो पदार्थों के विवेचन का विपुल भण्डार है । इन्हीं दोनों ही ग्रन्थों से विरासत के रूप में अनुभव निधि प्राप्त हुई है । इनकी कृति "तत्वार्थसार", तत्वार्थसूत्र से प्रभावित होते हुए भी तत्वों के सम्बन्ध में जो गहन विचार प्रस्तुत करता है - वह इस परम्परा के क्षेत्र में सर्वथा अद्वितीय है । इनकी मौलिक कृति "पुरुषार्थसिद्ध्युपाय" मोक्ष मार्ग के प्रकाशक के रूप में सर्वाधिक लोकप्रिय है। श्रावकाचार कृतियों में "रत्नकरण्डश्रावकाचार" के पश्चात् पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का ही स्थान सर्वोपरि है। इसमें अहिंसा प्रकरण का वर्णन बिल्कुल ही स्पष्ट तथा गहन तरीके से हुआ है । आचरण सम्बन्धी आध्यात्मिक निर्देशन के क्षेत्र में इनकी यह कृति अद्वितीय मानी जाती है । "लघुतत्वस्फोट" भी इनकी विशिष्ट कृति है। इस कृति में इन्होंने स्तुति के माध्यम से जो आध्यात्मिक व तात्त्विक ज्ञान का पुंज बिखेरा है वह इनके भक्तवत्सलता के भावों में तात्त्विक ध्यान के श्रेयस्कर होने का परिचायक है । आचार्य की सभी तरह की कृतियों (मौलिक व टीका) में जीव को स्वगुणों में ही रहने का उपदेश, स्व तथा पर के भेदज्ञान तथा इस ज्ञान को प्राप्त करने हेतु मार्गों का निरूपण मिलता है । इनकी मौलिक कृतियों में अलग-अलग रूप से आत्मज्ञान को ही प्रमुख प्रतिपाद्य विषय बनाया गया है। इसी तथ्य को कहीं आचार के रूप में तो कहीं स्तुति के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इनकी सभी कृतियों में समान रूप से अनेकान्त दृष्टि का

1- समयव्याख्या, श्लोक 4-6.

समादर होता है। अनेकान्त के प्रति नमन का परिचय कृति की शुरुआत में तथा इस शैली का व्यवहारीकरण प्रत्येक कृति के रग-रग में देखने को मिलता है ।

इस तरह इनकी कृतियों की, जो क्रमशः टीका एवं मौलिक रूप में विभाजित हैं, केन्द्रीय धारणा पूर्णतः आध्यात्मिक ही है। इनकी टीकाएँ भी मौलिक व्याख्या प्रस्तुत कर टीकाकारों की परम्परा में एक नवीन उदाहरण बन गई हैं ।

जैन परम्परा में आचार्य अमृतचन्द्रसूरि का स्थान

भारतीय इतिहास के परिप्रेक्ष्य में अतिप्राचीन काल से ही हमें जैनाचार्यों की एक लम्बी परम्परा उपलब्ध होती है। यह परम्परा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से आरम्भ होकर अन्तिम तीर्थंकर महावीर तक ही नहीं रुकती, अपितु इन तीर्थंकरों के उपदेश को गुरु-शिष्य की परम्परा में आत्मसात करने वाले आचार्यों की परम्परा की भी एक लम्बी शृंखला है। इस शृंखला को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है --

1. अमृतचन्द्राचार्य पूर्ववर्ती जैन परम्परा ; एवं
2. अमृतचन्द्राचार्य अनुवर्ती जैन परम्परा ।

पूर्ववर्ती परम्परा

अमृतचन्द्राचार्य की पूर्ववर्ती जैन परम्परा में होने वाले प्रमुख आचार्यों में आचार्य गुणधर, पुष्पदन्त, भूतबलि, कुन्दकुन्द, शिवार्य, वट्टकेर, उमास्वामि, भद्रबाहु, देवनंदि, [पूज्यपाद] समन्तभद्र सिद्धसेन दिवाकर, हरिभद्रसूरि तथा अकलंक आदि आचार्यों का नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । उक्त सभी आचार्यों में मुख्य रूप से आचार्य कुन्दकुन्द की कृतियाँ अमृतचन्द्राचार्य के लिए प्रेरणास्रोत रही हैं ।

आचार्य कुन्दकुन्द के ही कुछ समय पूर्व कुछ मतभेदों को लेकर जैनाचार्य जैन-धर्म का विवेचन दिगम्बर, तथा श्वेताम्बर दो रूपों में करने लगे थे ।

कुन्दकुन्दाचार्य ने मूल परम्परा [दिगम्बर] का ही प्रतिनिधित्व करते हुए दिगम्बर परम्परा के आचार का अनुमोदन एवं इसके समर्थन का कार्य किया। इसी कारण तीर्थंकर महावीर तथा गौतम गणधर के पश्चात् कुन्दकुन्दाचार्य को ही मङ्गल कहा गया है[1], तथा इस परम्परा के बाद की पीढ़ी ने अपने को मूल संघ का अनुयायी व्यक्त करने के उद्देश्य से अपने को कुन्दकुन्दान्वयी कहने में गौरव का अनुभव किया। कुछ भी हो, कुन्दकुन्द द्वारा विवेचित आध्यात्म-विषयक राय को दोनों सम्प्रदायों ने समान रूप से स्वीकार किया है ।

कुन्दकुन्दाचार्य की कृतियों समयसार, प्रवचनसार तथा पंचास्तिकाय पर अमृतचन्द्राचार्य की क्रमशः "आत्मख्याति", "तत्त्वदीपिका" या "तत्त्वप्रदीपिका" तथा "समयव्याख्या नामक टीकाएँ हैं। आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने कुन्दकुन्दाचार्य जैसे महान् आध्यात्मिक तथा तत्त्वज्ञानी के लगभग एक हजार वर्ष बाद उनके विचारों को भारतीय अध्यात्म परम्परा के मंच पर जैन परम्परा के माध्यम से लाकर खड़ा कर दिया। अमृतचन्द्र की टीका ग्रन्थों में मात्र कुन्दकुन्दाचार्य विरचित कृतियाँ ही हैं। इस तरह यह स्पष्ट होता है कि अमृतचन्द्र अपनी पूर्ववर्ती परम्परा में सबसे अधिक प्रभावित आचार्य कुन्दकुन्द से ही हैं ।

अमृतचन्द्राचार्य कीमूल कृतियों में स्पष्ट रूप से "पुरुषार्थसिद्ध्युपाय", "लघुतत्त्वस्फोट" तथा "तत्त्वार्थसार" का नाम आता है। "पुरुषार्थसिद्ध्युपाय" ग्रन्थ श्रावकाचार विषयक साहित्य की परम्परा में विशिष्ट स्थान रखता है, जिस पर आचार्य समन्तभद्र की कृति "रत्नकरण्डश्रावकाचार" का प्रभाव दीखता है। "लघु-तत्त्वस्फोट" स्तुति परक कृति है, जो आचार्य समन्तभद्र के स्वयंभूस्तोत्र, सिद्धसेन दिवाकर के "द्वात्रिंशिका" आदि से प्रभावित है। इनकी कृति "तत्त्वार्थसार" की रचना में, आचार्य उमास्वामि के "तत्त्वार्थसूत्र" तथा इसके टीका ग्रन्थ देवनन्दि

1- मङ्गलं भगवान वीरो मङ्गलं गौतमोगणी ।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम् ।।

पूज्यपादाचार्य की "सर्वार्थसिद्धि" तथा आचार्य अकलंक की "तत्त्वार्थराजवार्तिक" कृति का प्रभाव स्पष्ट रूप से दीखता है। इतना सब होते हुए भी अमृतचन्द्राचार्य की मौलिक कृतियों को भी कुन्दकुन्द के प्रभाव से मुक्त नहीं माना जा सकता है। इनकी पूर्व की परम्परा में मात्र कुन्दकुन्द ही ऐसे आचार्य हुए हैं, जो इनके आध्यात्मिक जीवन के प्रेरणास्रोत के रूप में स्पष्ट रूप से सिद्ध हुए हैं ।

अमृतचन्द्राचार्य अपनी पूर्व परम्परा से प्रभावित होते हुए भी जैन परम्परा को मौलिक रूप से सम्पन्न करने में सफलता प्राप्त की है। कृति "तत्त्वार्थसार" में तत्व निरूपण के विभिन्न शैलियों में सामंजस्य, संक्षिप्त में गहन विचारों के समावेश को देखते हुए इसे जैन परम्परा में अमूल्य देन कहा जा सकता है। "पुरुषार्थसिद्ध्युपाय" में नयों की समन्वयात्मक प्रस्तुति, सम्यग्दर्शन की महत्ता, अहिंसा का उत्कृष्ट स्वरूप दर्शन तथा अनेकान्त निरूपण की अभिव्यक्ति का आध्यात्मिक रूप आदि श्रावकाचारों की परम्परा में अमूल्य देन है। "लघुतत्त्वस्फोट", जैन स्तोत्र काव्य परम्परा में अद्वितीय स्थान रखता है, क्योंकि यहाँ स्तुति परक पद्यों में अनेकान्त शैली से विशद दार्शनिक व आध्यात्मिक तथ्यों का समावेश किया गया है ।

इस तरह आचार्य अमृतचन्द्रसूरि अपनी पूर्व की परम्परा में कुन्दकुन्द के प्रमुख टीकाकार होने तथा उनसे पूर्ण प्रभावित होने के साथ उनके ऊपर उमास्वामि, समन्तभद्र, पूज्यपाद, सिद्धसेन, हरिभद्रसूरि तथा अकलंक आदि आचार्यों का भी प्रभाव रहा है ।

अनुवर्ती परम्परा

जैन परम्परा में अमृतचन्द्राचार्य के पश्चात् होने वाले आचार्यों की भी एक लम्बी शृंखला है। इन आचार्यों द्वारा प्रणीत कृतियों के अवलोकन से स्पष्ट होताहै कि जिस तरह अमृतचन्द्र अपनी पूर्व की परम्परा के महत्वपूर्ण आचार्यों से प्रभावित थे उसी तरह इनके अनुवर्ती परम्परा के महत्वपूर्ण आचार्य इनसे प्रभावित

रहे हैं। आचार्य अमितगति के "योगसार" पर अमृतचन्द्र कृत तत्त्वार्थसार तथा समयसारादि टीकाओं के भाव परिलक्षित होते हैं। अमितगति ने अमृतचन्द्र की कृतियों के भाव ग्रहण किए हैं ।[1] आचार्य जयसेन की कृति "धर्मरत्नाकर" में "पुरुषार्थसिद्ध्युपाय" के 124 पद्य लिये गये हैं ।[2] आचार्य कुन्दकुन्द के दूसरे महत्त्वपूर्ण टीकाकार जयसेन के लिए अमृतचन्द्राचार्य की "समयसार", "प्रवचनसार" तथा "पंचास्तिकाय" की टीकाएँ मापदण्ड ही सिद्ध हुई हैं । इन्होंने "आत्मख्याति" के कलशों का प्रयोग प्रमाण रूप में किया है ।[3] कहीं-कहीं इन्होंने अमृतचन्द्र की "आत्मख्याति" टीका के अंश को यथावत् रूप से "तात्पर्यवृत्ति" में स्थान दिया है ।[4] भाव, शैली तथा वर्ण्य-विषय को लेकर भी आचार्य जयसेन की टीकाएँ अमृतचन्द्र की टीकाओं का अनुगामी सिद्ध होती हैं । इसीप्रकार पं0 बनारसीदास तथा अन्य संस्कृत एवं हिन्दी टीकाकारों के प्रेरणा तथा भाव स्रोत अमृतचन्द्राचार्य रहे हैं। अमृतचन्द्र के कृतियों की भाषा, शैली तथा वर्ण्य-विषय इनके परवर्ती आचार्यों के लिए प्रभावपूर्ण रहा है। आचार्य पद्मनन्दि[5] [पंचम, पद्मनंदिपंचविंशति के रचयिता], आचार्य शुभ चन्द्र [प्रथम, ज्ञानार्णव के कर्ता][6] आचार्य पद्मप्रभ मलधारी देव[7] [नियमसार के टीकाकार]

1- पं0 जुगलकिशोर : तत्त्वानुशासन की प्रस्तावना, पृ0 34.

2- पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के पद्य जो "धर्मरत्नाकर" में आये हैं - 23-26, 29, 30, 42-49, 51-56, 58-60, 64, 66, 67, 69, 70, 73, 75-90, 92-101, 103-105, 107, 108, 111-134, 137-140, 142, 143, 145, 146-163, 165, 167, 169, 172, 173, 175-179, 185, 188-191, 194..].

3- समयसार कलश जो जयसेनाचार्य की समयसार की टीका में प्रयुक्त हुए हैं - 68, 69, 183, 230, 234, 246.

4- तात्पर्यवृत्ति [जयसेनाचार्य की समयसार की टीका] में आत्मख्याति का अंश- गाथा 317, 318, 319, 320 की टीका प्रयुक्त हुआ है.

5- पद्मनंदिपंचविंशतिः में पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के पद्य 6 आदि प्रयुक्त हुए हैं.

6- ज्ञानार्णव सर्ग 16, पद्य 6 में पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के पद्य नं0 116वें का "उक्तंच" लिखकर प्रयोग किया गया है.

7- इन्होंने अपनी नियमसार की टीका तात्पर्यवृत्ति में "उक्तं च तथा चोक्तं

[क्रमशः]

की कृति भी अमृतचन्द्र से प्रभावित है। अमृतचन्द्र के कुछ ही बाद हुए देवसेनाचार्य से लेकर अब तक की जैन परम्परा के आचार्य व विद्वानों के मानस पटल पर किसी न किसी रूप में आचार्य अमृतचन्द्रसूरि की छाप अवश्य है ।

पूर्ववर्ती तथा अनुवर्ती जैनाचार्यों के बीच अमृतचन्द्र का स्थान निरूपण

आचार्य अमृतचन्द्र के पूर्ववर्ती तथा अनुवर्ती आचार्यों का अमृतचन्द्र के सन्दर्भ में विवेचन करने के पश्चात् यह स्पष्ट होता है कि वे अपने पूर्ववर्ती परम्परा के आध्यात्मिक तथा द्रव्य विषयक कृति प्रेक्षाओं के प्रतिनिधित्व करने वाले तथा अपने अनुवर्ती आचार्यों के मार्गदर्शक के रूप में थे । एक ओर अमृतचन्द्राचार्य द्रव्यानुयोग साहित्य के अध्यात्म विषयक ग्रन्थ की व्याख्या कुन्दकुन्द की कृति "समयसारादि" को अपना कर करते हैं, तो दूसरी ओर इसके तत्वविषयक व्याख्या हेतु उमास्वामि के "तत्वार्थसूत्र" को अपना आधार बनाते हैं। इस तरह वे अपने पूर्व के द्रव्यानुयोग साहित्य के दोनों पक्षों पर व्याख्या प्रस्तुत कर महत्वपूर्ण आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हुए । अमृतचन्द्र के अनुवर्ती आचार्य परम्परा में भी उनका महत्वपूर्ण प्रभाव है। जिस तरह आचार्य कुन्दकुन्द के पश्चात् उनकी एक परम्परा कायम हो गई तथा बाद में आने वाले आचार्य अपने को कुन्दकुन्दान्वयी परम्परा से व्यक्त करने लगे उसी तरह आचार्य अमृतचन्द्र के व्यक्तित्व तथा कर्तृत्व के अनुकूल इनके पश्चात् आने वाले आचार्यों एवं विद्वानों की एक साहित्यिक दार्शनिक तथा आध्यात्मिक निरूपण की लम्बी परम्परा स्वयं को अमृतचन्द्राचार्यान्वयी कहने लगी ।

श्रीमद्अमृतचन्द्रसूरिभिः" लिखकर समयसार कलश के 17 तथा प्रवचनसार टीका तत्त्वप्रदीपिका के चार श्लोकों को लिया गया है, वे क्रमशः 24, 44, 11, 35, 36, 5, 135, 131, 244, 187, 189, 228, 104, 227, 90, 192, 138 तथा प्र०सा० टीका के 8, 12, 5, 4 वाँ पद्य हैं.

द्वितीय अध्याय

आत्मतत्व-विवेचन

आत्मतत्त्व विवेचन

भारतीय दर्शन में आत्मा

समस्त भारतीय प्रज्ञा अपने चिन्तन के अभियान में जिस बिन्दु पर एकाग्र चित् है एवं जो समस्त भारतीय दर्शनों का आदि और अन्त है वह बिन्दु है - "आत्मानं विद्धि" या सामान्य भाषा में "आत्म चिन्तन" । यहाँ आत्म-चिन्तन का सीधा तात्पर्य है वह चिन्तन जो आत्मकेन्द्रित हो । एतदर्थ इस चिन्तन में जिस आत्मा का उल्लेख किया जा रहा है, उसके स्वरूप के सम्बन्ध में दार्शनिक सिद्धान्तों की प्रासंगिकता को समझते हुए यहाँ इस चिन्तन के आदि स्रोत वेदपर्यन्त प्रायः सभी दार्शनिक मतों का संक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है-

वेद एवं उपनिषदों का आत्मतत्त्व विवेचन

वेदों में आत्मा सम्बन्धी विचार स्पष्ट नहीं है। यहाँ आत्मा को मनुष्य की आन्तरिक शक्ति आदि के रूप में प्रयुक्त कर इसे आत्मन्, जीव, प्राण, मनस, असु, श्वास आदि शब्दों से सम्बोधित किया गया है ।[1]

इस तत्त्व के सम्बन्ध में विकसित चिन्तन उपनिषदों में पाया जाता है। यहाँ याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी को आत्मोपदेश करते हुए बताते हैं कि आत्मा ही दर्शनीय है ; श्रवणीय है ; माननीय है ; और ध्यान करने योग्य है ।[2] कठोपनिषद् में यमराज नचिकेता को कहते हैं कि आत्मा अनित्य, विनाशी, जड़-शरीर तथा भोगों से भिन्न नित्य, चेतन तथा ज्ञान स्वरूप है । यह अनादि व अनन्त है ; न तो इसका कोई कारण है और न कार्य ही ; अतः यह जन्म-मरण से सर्वथा रहित, सदा एक रस वाला तथा निर्विकार है। शरीर के नाश से इसका

1- ऋग्वेद, 3/14/3 . 1/164/4, 10/16/3.

2- बृहदारण्यकोपनिषद्, 2/4/5.

नाश नहीं होता। जो लोग इसको मारने वाला या मरने वाला समझते हैं, वे वस्तुतः आत्म स्वरूप को नहीं जानते . वे सर्वथा भ्रान्त हैं। उनकी बातें ध्यान करने योग्य नहीं हैं। वस्तुतः आत्मा न तो किसी को मारता है, न इसे कोई मार ही सकता है ।[1] यह इन्द्रिय, मन, बुद्धि, तथा शरीरादि से भिन्न सर्वथा विलक्षण, नित्य चेतन रूप, विशुद्ध तथा एक रस वाला है । इसे ऐसा ही जानने वाले सांसारिक दुःखादि के चपेट में नहीं आते ।[2] उपनिषदों में जीव, आत्मा तथा ब्रह्म का विवेचन पारमार्थिक दृष्टि से एक ही सत्ता के रूप में किया गया है। एक जगह कहा गया है कि जिस प्रकार नदी समुद्र से मिलकर समुद्राकार हो जाती है, अर्थात् विलुप्त हो जाती है, उसीप्रकार जीवात्मा ब्रह्म से मिलकर मोक्षावस्था में एकाकार हो जाती है ।[3] ब्रह्म तथा आत्मा के सम्बन्ध में कहा गया है कि ब्रह्म ही आत्मा है ।[4] इस तथ्य की पुष्टि में और अनेक उदाहरण उपनिषदों में पाये जाते हैं ।[5]

इस तरह यह स्पष्ट होता है कि उपनिषदों में आत्मा को सर्वश्रेष्ठ चेतन सत्ता के रूप में स्वीकारा गया है। उपनिषदों के आत्म-चिन्तन से ऐसा प्रतीत होता है कि इसका प्रतिपाद्य विषय आत्मतत्त्व का अनुसन्धान करना ही है । पं0 कैलाशचन्द्र शास्त्री लिखते हैं - "जैसे ब्राह्मण काल में यज्ञों की तूती बोलती थी, वैसे ही उपनिषद् काल में यह स्थान आत्म विद्या ने ले लिया था।"[6] उपनिषदों में आत्मतत्त्व का गम्भीर चिन्तन होने पर भी इसे अवर्णनीय तथा रहस्यमय सत्ता के रूप में ही कहा गया है ।[7] यहाँ आत्मा को शरीर, मन तथा

---

[1] कठोप0, 1/2/18-19.

[2] वही, 2/3/7.

[3] मुण्डकोप0, 3/2/8 ; प्रश्नोप0, 6/5.

[4] तैत्तिरीयोप0, 1/5.

[5] ऐतरेयोप0, 3/3 ; छान्दोग्योप0, 6/8/7 ; बृहदारण्यकोप0, 9/4/10 ; छान्दोग्योप0, 3/14/1 तथा 6/21.

[6] जैन सा0का इति0, पूर्वपीठिका, पृ0 8.

[7] बृहदारण्यकोप0 के 2/4/14 तथा केनोपनिषद के 1/4 श्लोक देखने से ऐसा ज्ञात होता है .

इन्द्रियादि से भिन्न एक आध्यात्मिक सत्ता के रूप में प्रदर्शित किया गया है। यह समस्त पदार्थों, तत्वों से भिन्न, इन सबों के ज्ञान से भिन्न चेतन तथा ज्ञाता मात्र है। इसे ज्ञान की सीमा से रहित बताकर अज्ञेयवाद के दोषों से मुक्त कर दिया गया है। यह स्वयं ज्ञातृ प्रधान सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता है ।

भगवद्गीता में आत्म-चिन्तन

भगवद्गीता आत्म-चिन्तन के सम्बन्ध में उपनिषदों से भिन्न किसी विचार का प्रतिपादन नहीं करती । यहाँ भी आत्मा को अविनाशी, नित्य, अजन्मा तथा सर्वव्यापक कहा गया है। यह जन्म-मरण से रहित सत्ता है। शरीर के नाश होने से इसका नाश नहीं होता ।[1] शरीर को वस्त्र के समान क्षणिक एवं नश्वर कहा गया है ।[2] आत्मा तो अजर-अमर सत्ता है। यह किसी अस्त्र-शस्त्र से प्रभावित नहीं है ।[3] इस तरह गीता भी आत्मा के सम्बन्ध में उपनिषदों की मान्यता स्वीकार कर इसे सर्वश्रेष्ठ सत्ता के रूप में ही प्रतिष्ठित करती है ।

चार्वाक मत के सन्दर्भ में आत्मा

आत्मा के सम्बन्ध में चार्वाक दृष्टिकोण अन्य भारतीय दार्शनिक संप्रदायों से भिन्न भौतिकवाद की स्थापना करता है। इस मत के अनुसार आत्मा या जीवात्मा एक प्राकृतिक व्यापार है। इनके मत में पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु ही मूलभूत तत्व हैं। ये चार तत्व एक कोशीय जीव से लेकर कुशल दार्शनिक तक के विकास की व्याख्या हेतु पर्याप्त हैं। बुद्धि इन चारों तत्वों की अन्तिम परिणति है ।[4]

आत्मा के सम्बन्ध में सोलहवीं शताब्दी के वेदान्ताचार्य सदानन्द ने

1- गीता, 8/20-21.

2- वही, 2/22.

3- वही, 2/23.

4- अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलानिलाः ।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ।। -चार्वाक षष्ठि, 48.

चार्वाक मत के चार संप्रदायों का वर्णन किया है। वह शरीरात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, प्राणात्मवाद, तथा मनात्मवाद है। पुत्र की अपेक्षा अपने शरीर का ज्यादा मोह तथा उसके दुबले-पतले होने के अनुभव के आधार पर स्थूल शरीर ही आत्मा है ।[1] दूसरे मत के अनुसार किसी बहरे या काने को अनुभव होता है कि - "मैं बहरा या काना हूँ" । वहाँ बहरा या काना होना इन्द्रियों का धर्म है तथा काना होना "मैं" के द्वारा व्यक्त होता है। मैं यानी आत्मा का काना होना एक धर्म है। इस तरह यहाँ शरीर गौण हो जाता है तथा इन्द्रियाँ प्रमुख हो जाती हैं। अतएव यह मत इन्द्रियात्मवाद कहलाता है ।[2] तीसरे मत के अनुसार प्राण के बिना इन्द्रियों में क्रियाशीलता का अभाव देखकर प्राण को आत्मा की कोटि प्रदान की गई है ।[3] चौथे मत के अनुसार मन की सुषुप्ति अवस्था में सभी को निष्क्रिय होने के कारण मन को ही आत्मा कहा गया है ।[4]

इस तरह सदानन्द ने आत्मा के सम्बन्ध में इन चार मतों का उल्लेख किया है । चार्वाक के अनुसार आत्मा कोई स्वतन्त्र, नित्य तथा अविनाशी सत्ता नहीं है। मृत्यु के बाद से लेकर जन्म ग्रहण के पहले तक यह विनाश के ही गर्भ में रहता है। चार्वाक की ज्ञान-मीमांसा साधन के रूप में मात्र प्रत्यक्ष का ही अनुमोदन करती है। अतः ज्ञान के एकमात्र साधन प्रत्यक्ष से किसी आध्यात्मिक सत्ता की सिद्धि असम्भव है ।

आत्मा के सन्दर्भ में जैन दृष्टिकोण

भारतीय दर्शन का वर्गीकरण आस्तिक तथा नास्तिक के रूप में किया गया है । वेदों की प्रामाणिकता स्वीकार करने वाले आस्तिक तथा अस्वीकार करने वाले नास्तिक कहलाते हैं । जैन दर्शन वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करता है । इस अर्थ में यह नास्तिक होते हुए भी आत्मा की व्याख्या आध्यात्मिक ढंग से

1- सदानन्द वेदान्तसार, 124.

2- वही, 125.

3- वही, 126.

4- वही, 127.

प्रस्तुत करता है। जैन दर्शन में नव तत्त्व मान्य हैं - जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, बन्ध, निर्जरा तथा मोक्ष ।[1] "तत्त्वार्थसूत्र" में भी पाप तथा पुण्य को छोड़कर सात तत्त्वों का उल्लेख है ।[2] इन सभी तत्त्वों में जीव एवं अजीव ही प्रधान हैं। शेष तत्त्व इन्हीं दो तत्त्वों के पर्याय हैं ।[3] जीव तत्त्वतः चेतन, ज्ञानवान् द्रष्टा है तथा सुख-दुःख का अनुभविता[4] ज्ञानादि धर्मों वाला भिन्न-अभिन्न का विवेचक, शुभ-अशुभ कर्मों का कर्ता तथा (अपने किए) कर्मों के फल का भोक्ता है ।[5] जीव को अन्य तत्त्वों से बिल्कुल भिन्न कहा गया है। इसके छः लक्षण बताये गये हैं - ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य, तथा उपयोग ।[6] अजीव तत्त्व जड़ या चैतन्य गुण से रहित तथा सुख-दुःख की अनुभूति से विहीन होता है ।[7] अजीव तत्त्व के पाँच भेद बताए गये हैं - पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ।[8]

इस तरह जैन दर्शन का आत्मतत्त्व विषयक विवेचन मौलिक एवं स्वतंत्र है। इस तत्त्व के विशद् एवं स्पष्ट विवेचन हेतु "जैन दर्शन में आत्मा एवं इसका स्वरूप" शीर्षक अलग से दिया गया है, जिसमें जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में आत्मतत्त्व की विवेचना का प्रयत्न किया गया है ।

आत्मा के सम्बन्ध में बौद्ध दर्शन का मत

आत्मा के सम्बन्ध में बौद्ध दर्शन का दृष्टिकोण अन्य परम्परावादी

1- हरिभद्रसूरि : षड्दर्शन-समुच्चय, श्लोक 47.

2- तत्त्वार्थसूत्र, 1/4.

3- विद्यानन्दि : तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, 1/4/48.

4- पंचास्तिकाय, 122.

5- षड्दर्शन-समुच्चय, श्लोक 48.

6- उत्तराध्ययन सूत्र, अ0 29, गाथा 11.

7- पंचास्तिकाय, 124-25.

8- द्रव्यसंग्रह, 15.

दार्शनिक सम्प्रदायों से भिन्न है। यहाँ परिवर्तन या क्षणिकता ही यथार्थ सत्ता है ।[1] यहाँ आत्मा को कोई ऐसी सत्ता के रूप में नहीं स्वीकार किया गया है जो नित्य, शाश्वत, अविनाशी तथा कर्ता-भोक्ता आदि हो । महात्मा बुद्ध ने स्वतः आत्मा क्या है, इस सम्बन्ध में कोई उपदेश नहीं दिया है । हाँ, उन्होंने अनात्मवाद यह कहकर स्थापित किया है कि अमुक पदार्थ आत्मा नहीं है। बुद्ध ने पाँच स्कन्ध, बारह आयतन तथा अट्ठारह धातुओं को अनात्म कहा है। इस तरह बुद्ध के उपदेश से अनात्मवाद स्थापित होता है, लेकिन इनका अनात्मवाद आत्मवादियों की तरह पुण्य-पाप, कर्म-कर्मफल, लोक-परलोक, पुनर्जन्म तथा मोक्ष आदि को मान्यता प्रदान करता है। वसुबन्धु ने स्पष्ट कहा है कि पंचस्कन्धों को छोड़कर आत्मा नामक कोई तत्व नहीं है ।[2] दिङ्.नाग जैसे आचार्य ने आत्मा और अनात्मा को संज्ञा मात्र कहकर इसे पारमार्थिक सत्ता की कोटि से बाहर ही रक्खा है ।[3] नागार्जुन ने भी तत्व मात्र को सत्-असत्, उभय और अनुभयात्मक कोटियों से विनिर्मुक्त कह कर बौद्ध दृष्टिकोण को आत्मवादी तथा अनात्मवादी मत से दूर ही रक्खा है ।[4]

इस तरह बौद्ध मत क्षणिकवाद के आधार पर सबकी व्याख्या करता है, जिसका आधार प्रतीत्यसमुत्पाद है। यहाँ बुद्ध अनात्मवाद की स्थापना कोई रूढ़िवादिता से प्रेरित होकर नहीं की जाती है। बुद्ध के अनात्मवाद का उल्लेख "महावग्ग" तथा "मज्झिमनिकाय" में मिलताहै, जिसके अनुसार रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान न तो समष्टि रूप से आत्मा हैं और न व्यष्टि रूप से ;

1- यत् सत्तत्क्षणिकम् .

2- अभिधर्म कोश, 3/18.

3- प्रज्ञापारमिता पिण्डार्थ, 50.

4- माध्यमिक कारिका, 17/20, 18/6.

क्योंकि ये पंचस्कन्ध अनित्य, परिवर्तनशील, बाधावान, रोगवान तथा दुःखकारक हैं। अतएव इनमें राग तथा मोह नहीं रखना चाहिए, वरन् इनसे विरक्त होकर विमुक्ति का साक्षात्कार करना चाहिए।[1] इस तरह मोक्ष प्राप्त करने तथा दुःख के निवारण हेतु किसी नित्य आत्मा की कल्पना तथा उसकी उपासना करना बन्ध का कारण है। बौद्ध दर्शन में नित्य, शाश्वत् आदि गुणों वाले किसी तरह के आत्मा का विवेचन नहीं हुआ है, जिसका पुनर्जन्म या मोक्ष होता हो ।

न्याय-वैशेषिक के आत्म विचार

न्याय-वैशेषिक दर्शन आत्मा की सत्ता को शरीरादि से भिन्न एक स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में मानता है ।[2] इस परम्परा में आत्मा चैतन्य स्वरूप न होकर जड़ स्वरूप है। यह जड़ स्वरूप होते हुए भी चैतन्यवान् है । चेतना इसका आगन्तुक गुण है, जिसका आगमन आत्मा में ही हो सकता है ।[3] यहाँ आत्मा का मन के साथ, मन का इन्द्रियों के साथ तथा इन्द्रियों के वस्तु से सन्निकर्ष से आत्मा में चेतन गुण का प्रादुर्भाव होता है ।

आत्मा सत्ता की सिद्धि "न्यायसूत्र" एवं "वैशेषिक सूत्र" में अनुमान प्रमाण से सिद्ध किया गया है। वैशेषिक सूत्र में प्राणापान, निमेषोन्मेष, जीवन, इन्द्रियान्तर विकार, सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष तथा संकल्प आदि को आत्मा के लिंग कहकर इन्हीं से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया गया है ।[4] न्याय सूत्र में गौतम ने भी इच्छा-द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख विनिर्णयात्मक ज्ञान हेतुओं के द्वारा आत्मास्तित्व सिद्ध किया है ।[5] न्याय-वैशेषिक मत के अनुसार आत्मा निरवयवी, शाश्वत्, अविनाशी, व्यापक, ज्ञाता, द्रष्टा, कर्ता, पाप-पुण्य कर्मों के भोक्ता, अनेक तथा अपरिणामी है ।

1- महावग्ग, 1/6 ; मज्झिमनिकाय, 1/3/6.

2- प्रशस्तपादभाष्य, पृ0 49-50.

3- राधाकृष्णन् : भारतीय दर्शन, भाग-2, पृ0 148-49.

4- वैशेषिक सूत्र, 3/2/4-13.

5- न्यायसूत्र, 3/1/10.

सांख्य-योग दर्शन में आत्मा

जिस तत्व को अन्य भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय में आत्माकहा जाता है, वह सांख्य में पुरुष नाम से सम्बोधित किया जाता है। यह एक पारमार्थिक तथा स्वतः सिद्ध सत्ता है। यहाँ पुरुष [आत्मा] को निष्क्रिय, अकर्ता, साक्षी, उदासीन, भोक्ता, निस्त्रैगुण्य, द्रष्टा, केवल मध्यस्थ तथा सदाप्रकाश स्वरूप इत्यादि धर्मों से युक्त बताया गया है ।[1] सांख्य की यह धारणा अन्य मत-मतान्तरों से भिन्न है। जैन दर्शन में आत्मा को कर्ता तथा भोक्ता दोनों कहा गया है, लेकिन पुरुष मात्र भोक्ता है । न्याय-वैशेषिक में चेतना आत्मा का आगन्तुक गुण है , लेकिन पुरुष चैतन्यस्वरूप है। सांख्य का पुरुष निर्गुण है, अतएव यह शांकर के आत्म सम्बन्धी सत्, चित् व आनन्द की धारणा के भी अनुकूल नहीं है। पुरुष निर्गुण होने के कारण आनन्दमय नहीं हो सकता। सांख्य दर्शन में पुरुष को कुछ तर्कों के आधार पर गुणात्मक दृष्टि से एक तथा संख्यात्मक दृष्टि से अनेक माना गया है ।[2] सांख्य दर्शन में पुरुष की सत्ता स्वप्रमाणित कही गई है, फिर भी इसके अस्तित्व को सिद्ध करने हेतु तर्क दिए जाते हैं। पहला तर्क "संघातपरार्थत्वात्" अर्थात् विश्व के सभी पदार्थ सावयव हैं ; अतएव उपभोग करने के लिए हैं। अतः यहाँ उपभोक्ता के रूप में पुरुष को माना गया है। दूसरा तर्क "त्रिगुणादि-विपर्ययात" अर्थात् विश्व के सभी पदार्थ त्रिगुणात्मक हैं, जिनका विकास प्रकृति से हुआ है । इस स्थिति में कोई त्रिगुणातीत सत्ता की उसके साक्षी के रूप में आवश्यकता है । वह सत्ता पुरुष ही है । तीसरी युक्ति "अधिष्ठानात्" अर्थात् बुद्धि को ज्ञान का साधन माना गया है, लेकिन बुद्धि, प्रकृति की विकृति होने के कारण अचेतन है। अतएव इसके नियंत्रक के रूप में किसी चेतन सत्ता की आवश्यकता है, जो पुरुष को कहा गया है। चौथी युक्ति "भोक्तृभावात्" अर्थात् प्रकृति अपनी विकृतियों [सुख-दुःख, उदासीनता आदि] का उपभोग स्वतः नहीं कर सकती । इस स्थिति में उपभोग करने हेतु उपभोक्ता की प्रासंगिकता है, जिसे पुरुष कहा गया है ।

1- ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका , 19.

2- वही, 18.

पाँचवीं युक्ति "कैवल्यार्थप्रवृत्ते" विषय में आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक तीनों प्रकार के कष्टों से उबरने हेतु तथा मोक्ष के लिए प्रयत्नशील होने हेतु योग्य पुरुष को ही कहा गया है ।[1]

मीमांसा सम्मत आत्म विचार

मीमांसा दर्शन में शरीर, मन, बुद्धि आदि से भिन्न आत्मा की सत्ता मानी गई है। यह जैन दर्शन की तरह जीवात्मवादी दर्शन है। इस दर्शन में आत्मा को अनेक तथा प्रति शरीर भिन्न-भिन्न होना कहा गया है ।[2] यहाँ आत्मा को अमर, स्वप्रकाश, कर्ता, भोक्ता तथा ज्ञाता के रूप में माना गया है। मीमांसा दर्शन यह मानता है कि मृत्यु के उपरान्त आत्मा शरीर को त्यागकर परलोक में अपने कर्मों का फल सुख-दुःख के रूप में भोगने के लिए विचरण करता है। मीमांसा दर्शन में चैतन्य आत्मा का औपाधिक गुण है । मोक्षावस्था तथा सुषुप्तावस्था में इसके औपाधिक गुण नहीं होते हैं ।

वेदान्त सम्मत आत्म विचार

वेदान्त दर्शन में आत्मा का स्थान शीर्षस्थ है, तथा पारमार्थिक रूप से मात्र इसी सत्ता का अनुमोदन किया गया है। आचार्य शंकर आत्मा को स्वयं सिद्ध बताते हैं। उनके अनुसार आत्मा प्रमाणादि-व्यवहार का आश्रय होने के कारण प्रमाणादि-व्यवहार के पहले से सिद्ध है ।[3] आचार्य शंकर तर्क देते हैं कि सभी लोग अनुभव करते हैं कि "मैं हूँ" कोई मनुष्य यह नहीं अनुभव करता कि"मैं नहीं हूँ" । इस तरह यदि आत्मज्ञान प्रसिद्ध नहीं होता तो मानव उसके नास्तित्व का अनुभव करता। किन्तु ऐसा नहीं होता। अतएव आत्मा है।[4] शंकर के अनुसार आत्मा, प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता तथा प्रमिति इन समस्त व्यवहारों का आश्रय है। जिसके

1- ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका, 17.

2- प्रकरणपंचिका, पृ0 141.

3- शंकराचार्य, शारीरिक भाष्य, 2/3/7.

4- शारीरिक भाष्य, 1/1/1.

आश्रय में प्रमाण है वह प्रमाणों द्वारा किसी प्रकार सिद्ध हो सकता है? अतः आत्मा स्वयंसिद्ध है ।[1] अद्वैत वेदान्त में आत्मसिद्धि हेतु प्रत्यक्षादि प्रमाण का आधार नहीं अपनाया गया है। रामानुजाचार्य अहंप्रत्यय द्वारा आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हैं ।[2]

आत्मा के स्वरूप के सन्दर्भ में ब्रह्मसूत्र के सभी भाष्यकारों में पूर्णतः मतैक्य नहीं है। शंकर अद्वैत की सिद्धि ब्रह्म तथा आत्मा को एक बताकर करते हैं। इनके अनुसार शेष पदार्थ मिथ्या हैं। आत्मा सत्, चित्, तथा आनन्द के गुणों से युक्त तथा संख्या में एक है । रामानुज के विशिष्टाद्वैत के अनुसार ब्रह्म, चिन्मय आत्मा तथा जड़ प्रकृति दोनों में विद्यमान है, किन्तु वह इन दोनों से विशिष्ट है ।

जैन दर्शन में आत्मा का स्वरूप

जैन दर्शन में जीव द्रव्य का विवेचन न्याय-वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदान्त की आत्मा तथा सांख्य-योग के पुरुष की भाँति मौलिक एवं स्वतन्त्र रूप से उपलब्ध होता है। जैन मत का जीव शब्द केवल मानव या विशिष्ट योनी का ही द्योतक न होकर समस्त चेतन जगत् को इंगित करता है ।

आत्म-स्वरूप - जैन दर्शन में आत्मा का विवेचन मुख्यतया जिन दो नयों के सन्दर्भ में हुआ है, वे हैं - 1. निश्चय नय, 2. व्यवहार नय । इन दोनों नयों से आत्मा के स्वाभाविक तथा वैभाविक गुणों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। आत्मा के स्वाभाविक गुणों के विवेचन से शुद्धात्म-स्वरूप स्पष्ट होता है,तथा वैभाविक गुणों के विवेचन से अशुद्धात्मा-स्वरूप का विवेचन होताहै। इस तरह जैन दर्शन के शुद्धात्म तथा अशुद्धात्म स्वरूप का विवेचन निम्नलिखित रूप से प्रस्तुत किया गया है -

---

1- शारीरक भाष्य, 2/3/7.

2- रामानुज : ब्रह्मसूत्र श्रीभाष्य, 1/1/1.

शुद्धात्म-स्वरूप विवेचन - जैन दर्शन में शुद्धात्मा बन्धविहीन, निरपेक्ष, स्वाश्रित, अचल, निसंग एवं ज्ञायक ज्योति मात्र है ।[1] यह शुद्ध चैतन्य उपयोग स्वरूप है ।[2] यहाँ उपयोग का तात्पर्य उसके स्वभाव रूप चैतन्य की परिणति से है। यह चेतना ही आत्मा का ऐसा स्वभाव गुण है जो अन्य पुद्गलादि अजीव द्रव्यों से व्यावृत्त करता है ।[3] जैन दर्शन में वर्णित सात तत्त्वों, नव पदार्थों तथा छः द्रव्यों में से केवल आत्मा को ही चैतन्य स्वरूप कहा गया है । इस शुद्धात्मा के प्रमत्त होने, नहीं होने तथा ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यह तो मात्र ज्ञायक है। आत्मा अनन्य, शुद्ध, उपयोग स्वरूप, रस, रूप तथा गन्ध से रहित, अव्यक्त, चैतन्यगुणयुक्त, शब्द रहित, चक्षुरादि इन्द्रियों से अगोचर, अलिंग एवं पुद्गलाकार रहित है ।[4] इसप्रकार से शुद्धात्मा उपयोग स्वरूप तथा अन्य पौद्गलिक भावों से रहित है। उपयोग का अर्थ आत्मा की चैतसिक परिणति से है। चैतन्य आत्मा का असाधारण गुण है । इस चैतन्य के ज्ञान और दर्शन रूप से दो परिणमन होते हैं। जब जीव स्व से भिन्न किसी ज्ञेय को जानता है तब वह ज्ञान कहलाता है तथा जब वह चैतन्य मात्र चैतन्याकार रहता है, तब वह दर्शन कहलाता है ।

अशुद्धात्म-स्वरूप विवेचन - जीव का सूक्ष्म कार्मण शरीर से सम्बन्ध अनादि काल से है। जीव के इसी स्थिति का विवेचन अशुद्धात्म-स्वरूप विवेचन कहलाता है। इसका कथन व्यवहार नय द्वारा किया जाता है। व्यवहार नय निश्चयनय के कथन का विरोधी नहीं अपितु आत्मा के सम्बन्ध में उसके चैतन्य उपयोग स्वरूप होने के साथ-साथ उसके ऐसे सम्भावित गुणों का उल्लेख करता है, जो स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरणतः कुन्दकुन्द कहते हैं कि आत्मा जीव, चैतन्य, उपयोग वाला, अपने किए गए कर्मों का स्वामी, पुण्य-पाप कर्मों का

---

[1] समयसार, गाथा 14-15.

[2] तत्त्वार्थसूत्र, 2/8 ; प्रवचनसार, 2/35 ; पंचास्तिकाय, 16, 109, 124.

[3] तत्त्वार्थवार्तिक, 1/4/14.

[4] समयसार, गाथा 49.

कर्ता एवं उन कर्म फलों का भोक्ता, शरीर परिमाण वाला, अमूर्तिक तथा कर्म संयुक्त है ।[1] यहाँ आत्मा के सम्बन्ध में पुण्य-पाप का कर्ता, उसके कर्म संयुक्त होने का कथन व्यवहार नय है। व्यवहार नय से आत्मा सबको जानता है, देखता है, सुख चाहता है, दुःख से डरता है, शुभ-अशुभ कर्म करता है तथा उनके फल को भोगता है ।[2] इस तरह अशुद्धात्मा का ही आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध एवं मोक्ष होता है। अशुद्धात्मा ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तथा भव परिवर्तन से युक्त होकर अनेक योनियों और गतियों में परिभ्रमण करता रहता है। इसका विभाजन त्रस तथा स्थावर के रूप में किया गया है। तत्पश्चात् इन दोनों भेदों का विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है । शुद्धात्मा सदैव स्वभाव में ही परिणमन करता है। यहाँ आत्मा में स्व के निमित्त से जो परिणमन होता है, वह शुद्धात्मा है। अशुद्धात्मा सदैव विभाव रूप परिणमन में रहता है, अर्थात् आत्मा में पर के निमित्त से होने वाली परिणति को अशुद्धात्मा कहा जाता है ।

जैन परम्परा में स्याद्वाद सिद्धान्त के द्वारा वस्तु तत्व के कथन करने की परम्परा रही है। यहाँ आत्मा को कथंचित् ज्ञान से भिन्न, कथंचित् ज्ञान से अभिन्न तथा कथंचित् सर्वव्यापी आदि कहकर अलग-अलग दृष्टिकोणों से वर्णन प्रस्तुत किया गया है। जीव के सम्बन्ध में प्रत्येक कथन के साथ कथंचित् शब्द प्रयोग कर उसके शुद्ध तथा अशुद्ध अवस्था का विवेचन किया गया है ।

चैतन्य जीव का एक ऐसा स्वाभाविक गुण है जो इसके शुद्ध तथा अशुद्ध दोनों ही प्रकार के आत्मा में सदैव वर्तमान रहता है । यहाँ चैतन्य आत्मा उसी प्रकार चैतन्य स्वरूप है जिस प्रकार अग्नि उष्ण स्वभाव वाली है ।[3] एक जगह कहा गया है कि किसी को ऐसा अनुभव नहीं होता है कि "मैं अचेतन हूँ" या चेतना के समवाय सम्बन्ध से चेतनवान हूँ ।[4] आत्मा की सभी स्थितियों में चैतन्य

1- पंचास्तिकाय, 27.

2- भावपाहुड, 147.

3- कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 178.

4- स्याद्वादमंजरी, कारिका 8.

गुण वर्तमान रहता है। आत्मा या तो सुषुप्तावस्था में हो, या जागृतावस्था में; मुक्तावस्था में हो या बन्धावस्था में, सदैव चैतन्य स्वरूप होता है। आत्मा के चैत गुण को आत्मा से कथंचित् भिन्न तथा कथंचित् अभिन्न कहकर दार्शनिक समस्याओं को सुलझाया जाता है। उदाहरण के लिए आत्मा कथंचित् अमूर्त तथा कथंचित् मूर्त है। इसका तात्पर्य आत्मा निश्चय नय की अपेक्षा से अमूर्तिक तथा अनादि कार्मण शरीर के साथ संयुक्त होने के कारण मूर्तिक भी है। आत्मा कथंचित् एक तथा कथंचित् अनेक है । अर्थात् गुणात्मक दृष्टि से आत्मा एक है तथा संख्यात्मक दृष्टि से प्रति शरीर भिन्न-भिन्न अर्थात् अनेक है। आत्मा प्रतिशरीर भिन्न-भिन्न तथा पूरे शरीर में चैतन्य के होने के कारण देह परिमाण वाला है, साथ-साथ निश्चय-नय से आत्मा का स्वाभाविक गुण देह नहीं है, वह तो मात्र शुद्ध चैतन्य स्वरूप सत्ता है ।

इसप्रकार जैन दर्शन में आत्मा के सम्बन्ध में दो तरह का चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। आत्मा के स्वाभाविक गुणों का विवेचन निश्चय नय से तथा पर पदार्थों के निमित्त से आत्मा में होने वाले वैभाविक गुणों का कथन व्यवहार नय द्वारा किया गया है । इसप्रकार आत्मा के सम्बन्ध में निश्चय नय से उसके स्वाभाविक गुणों का तथा व्यवहार नय से वैभाविक गुणों का विवेचन किया गया है ।

समयसार की टीका आत्मख्याति का आत्मतत्व विवेचन

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि कृत "समयसार" की टीका में मुख्य रूप से आत्मा की चर्चा उपलब्ध होती है। कुन्दकुन्दाचार्य विरचित "समयसार" आत्म प्रधान कृति है तथा इसकी टीका "आत्मख्याति" भी उसी के अनुरूप है । अमृतचन्द्राचार्य ने "समयसार" की टीका में समय शब्द का अर्थ जीव ही किया है । आचार्य लिखते हैं कि वह जो अन्य द्रव्यों से एक क्षेत्रावगाह रूप स्थित होते हुए भी अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता वह जीव नामक पदार्थ समय है । जो एक साथ समस्त पदार्थों को जाने वह समय है ।[1] "समयसार" टीका के प्रारम्भ में अमृतचन्द्रस्वामी मंगलाचरण

1- आचार्य अमृतचन्द्र : समयसार टीका [आत्मख्याति] गाथा टीका 2.

स्वरूप कलश में "समयसार" का अर्थ समस्त पदार्थों में श्रेष्ठ उस आत्मतत्व से किया है, जो स्वानुभूति से प्रकाशमान्, चैतन्य स्वभाव वाला, शुद्धसत्ता रूप तथा समस्त पदार्थों को जानने वाला है ।[1] टीका के प्रारम्भ में इसके उद्देश्य का भान मिलता है। अमृतचन्द्र ने लिखा है कि जीव की पर-परिणति से बचने हेतु, रागादि मलिन अनुभूति के दूर होने हेतु तथा ज्ञानानन्द स्वभाव, सहज आत्मतत्व की अनुभूति हेतु ही मैं ग्रन्थराज की व्याख्या कर रहा हूँ।[2] इस तरह टीका "आत्मख्याति" का केन्द्रीय वर्ण्यविषय शुद्धात्मा तथा इसकी अनुभूति ही है । यहाँ समय की दो अवस्थाएँ बतायी गई है ।

(1) स्वसमय, (2) परसमय ।

स्वसमय अपने स्वभावगुण चैतन्य तथा ज्ञान की परिणतियों में सीमित रहता है। इसके स्वभावज्ञान के क्षेत्र में सम्यग्दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र - तीनों का समावेश है। इसके विपरीत जो जीव औपाधिक भावों में स्थित है वह पर-समय है। "समयसार" समस्त पर-पदार्थों तथा सर्व पर्यायों से भिन्न मात्र शुद्ध चैतन्य ज्ञान स्वरूप है । आत्मख्याति में जीव का विवेचन मुख्य रूप से दो नयों द्वारा हुआ है। वे हैं — (1) व्यवहार नय, (2) निश्चय नय ।[3]

आत्मा अनेक धर्मों वाला है[4], इस तथ्य का विवेचन मुख्य रूप से दो नयों द्वारा हुआ है। जीव की बन्धावस्था का वर्णन व्यवहार नय से हुआ है। मिथ्यात्व दशा में जीव शरीर रूपी नोकर्म (औदारिक, वैक्रियिक, आहारक तथा तैजस ये चार शरीर नोकर्म कहलाते हैं) की परिणति को अपनी निज स्वभाव की परिणति मानता है । इस तथ्य का वर्णन व्यवहार नय से किया गया है। निश्चयनय आत्मा की शुद्धावस्था का विवेचन करता है। सामान्य जनों के लिए व्यवहार का उपदेश देकर उनके मस्तिष्क में उनके समझने के अनुकूल आत्मा के विशुद्ध रूप को ही भरा जाता है । तत्पश्चात् निश्चय नय से उनके मस्तिष्क में भरे हुए आत्मा

1- समयसार कलश, 1.

2- आत्मख्याति, 1.

3- वही, 7.

4- समयसार कलश, 36.

सम्बन्धी व्यवहार नय के उपदेश के विपरीत विवेचन कर शुद्धात्म तत्त्व का अनुभव कराया जाता है ।

जीव का स्वभाव चैतन्य-स्वरूप मात्र है। चेतना गुण के अलावा कोई गुण या भाव उससे भिन्न विभाव है। आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि चैतन्य शक्ति का सर्वस्व-सार ही जीव है । इसके सिवाय सभी प्रकार के भाव पुद्गलमय हैं।[1] यहाँ चित् शक्ति से रहित अन्य सकल भावों को मूल रूप से छोड़कर केवल अविनाशी आत्मा को ही अनुभव करने को कहा गया है ।[2]

आचार्य अमृतचन्द्र जीव तत्त्व का वर्णन विभिन्न नयों के सन्दर्भ में करते हैं । उन्होंने अपनी टीका आत्मख्याति में क्रमिक रूप से बीस कलशों में जीव तत्त्व का वर्णन नयों का आश्रय लेकर करते हैं। इन दृष्टियों में जीव को बद्ध-अबद्ध, मूढ़-अमूढ़, रागी-विरागी, द्वेषी-अद्वेषी, कर्ता-अकर्ता, भोक्ता-अभोक्ता, जीव-अजीव, सूक्ष्म-स्थूल, कारण-अकारण, कार्य-अकार्य, भाव-अभाव, एक-अनेक, सान्त-अनन्त, नित्य-अनित्य, वाच्य-अवाच्य, नाना-अनाना, चेत्य-अचेत्य, दृश्य-अदृश्य, वेद्य-अवेद्य, भात-अभात कहा गया है ।[3] तत्त्वज्ञानी पुरुष उक्त सभी प्रकार के नय विकल्पों से रहित होकर अन्तर तथा बाह्य रूप से एक ही वीतराग परिणति वाले स्वभाव रूप को प्राप्त करते हैं ।[4]

शुद्ध जीव की सत्ता का स्पष्टीकरण भेदज्ञान से किया गया है। शुद्धात्मा की प्राप्ति से साक्षात् संवर होता है तथा शुद्धात्म तत्त्व की प्राप्ति आत्मा तथा कर्म के भेदज्ञान से होती है ।[5] सिद्ध पद को प्राप्त हुए जितने भी जीव हैं वे सभी भेद-ज्ञान से ही हुए हैं। इसके विपरीत भवाटवी में भ्रमण करने वाले जितने भी जीव

1- समयसार कलश, 36.

2- वही, 35.

3- वही, 69-89.

4- वही, 90.

5- वही, 129.

है, वे सभी भेदज्ञान से रहित हैं ।[1] भेद ज्ञान के अभाव में जीव शास्त्र एवं आगमों का गम्भीर ज्ञाता होते हुए भी सम्यग्दृष्टि को प्राप्त नहीं होता। भेदज्ञान के अभाव में रागादि का साम्राज्य रहता है ।[2] इस स्थिति में सभी प्रकार के कर्म-बन्धन के कारण होते हैं। जीव के रागादिक भाव ही उसे कर्मों का कर्ता तथा उसके फलों का भोक्ता बनाते हैं। इसके विपरीत राग रहित किसी प्रकार का चारित्र बन्ध का कारण नहीं होता। उनसे जीव का कोई अगला संस्कार निर्मित नहीं होता। उनका अपने स्वभाव में परिणमन होता रहता है ।

अमृतचन्द्र की टीका "आत्मख्याति" में जीव को सर्वथा अजीव से भिन्न, कर्तृत्व-भोक्तृत्व के भावों से पूर्णतः विरक्त, बताये गये सभी नयों के विकल्पों से रहित शुद्ध चैतन्य रूप ज्ञायक भाव के रूप में विवेचित किया गया है । ज्ञानी जीव कर्म को न करता है न उसके फल को भोगता है । वह मात्र कर्म स्वभाव का ज्ञान रखता है। इस प्रकार ज्ञानी जीव केवल जानता हुआ कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व के अभाव के कारण शुद्ध स्वभाव में निश्चल हुआ वास्तव में मुक्त ही है ।[3] इस तरह आचार्य अमृतचन्द्र की टीका "आत्मख्याति" शुद्धात्म तत्त्व का विवेचन अत्यन्त ही आध्यात्मिक तथा अलौकिक ढंग से प्रस्तुत करती है। निश्चय नय से आत्मा अपने उपयोग (आत्मा की चैतन्य गुण से सम्बन्ध रखने वाली परिणति) में परिणमन करता रहता है, तथा व्यवहार में वह उपयोग के विषयभूत पदार्थ के प्रति अपना कर्तृत्व स्थापित करता है। निश्चय नय से आत्मा का स्वभाव चेतना मात्र है। उसका परिणाम-देखना, जानना, निजभावों का श्रद्धान् करना तथा पर-द्रव्य से निवृत्त होना मात्र है। आत्मा का पर-द्रव्य से कोई सम्बन्ध नहीं है । शुद्धात्मा अपने वास्तविक रूप में पर-द्रव्य से सर्वथा भिन्न स्वभाववाली सत्ता है । इसका लक्ष्य मात्र निज भावों में ही परिणमन करना है। पर-द्रव्य तथा आत्मा के सम्बन्ध को निमित्त-नैमित्तिक भाव द्वारा स्पष्ट किया जाता है । यहाँ निमित्त-नैमित्तिक भाव में रागादिक भावों के निमित्त से पर-द्रव्य पुद्गल में कर्मरूप परिणमन होता है । इसी पर-द्रव्य के निमित्त से हुए कुछ भावों को देखकर व्यवहारीजन आत्मा को

1- समयसार कलश, 131.
2- आत्मख्याति, 201-202.
3- वही, 318, कलश 197.

पर-द्रव्य का ज्ञाता, दर्शन तथा श्रद्धान करने वाला तथा इसे त्याग करने वाला कहते हैं ।[1] इस तरह आत्मा की विभिन्न अवस्थाएँ व्यवहार से ही अस्तित्व में हैं।

समयसार ही शुद्धात्म तत्त्व है। इसी शुद्धात्म तत्त्व की व्याख्या कुन्दकुन्दाचार्य की दृष्टि के अनुसार प्रस्तुत करना आचार्य अमृतचन्द्र का लक्ष्य है। इस लक्ष्य को पूरा करने में उन्हें स्याद्वाद मयी निरूपण शैली का सहारा लेना पड़ा है। व्यवहार तथा निश्चय नय के सामंजस्य से यथार्थ तत्त्व शुद्धात्मा का विवेचन किया गया है। आत्मा का पर-भावों में परिणमन उसकी विकृति की अवस्था है । इस अवस्था को स्वभाव की अवस्था में परिणत करने हेतु शुद्धात्म तत्त्व का विवेचन, उसके स्वाभाविक गुणों का विस्तृत विवेचन तथा निज स्वभाव में आने हेतु मोक्षमार्ग - सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का उपदेश किया गया है। यह दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र अलग से नहीं, स्वतः आत्मस्वभाव ज्ञान के अभिन्न अंग हैं। स्वभाव से च्युत जीव को इसका उपदेश दिया जाता है । इस तरह "समयसार" की टीका "आत्मख्याति" समग्ररूप से शुद्धात्म विवेचन का ही अनुपम ग्रन्थ है ।

कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व के परिप्रेक्ष्य में आत्मा

समयसार की टीका आत्मख्याति में आत्मा के कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व का विवेचन मुख्य रूप से कर्ता-कर्म अधिकार तथा सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में हुआ है। कर्ता-कर्म अधिकार के प्रारम्भ में अमृतचन्द्राचार्य लिखते हैं कि जीव तथा अजीव दोनों अपना वेष बदलकर कर्ता-कर्म के वेष में प्रवेश करते हैं। यहाँ जीव-अजीव के वेष बदलने का तात्पर्य स्वभाव रूप भेदज्ञान के अभाव में विभाव रूप परिणमन से है । इस दृष्टि से समयसार की टीका "आत्मख्याति" का वर्ण्य-विषय "समयसार" अर्थात् शुद्धात्मा का प्रकाशन ही है। जीव अपने स्वभाव ज्ञान से युक्त स्थिति में समयसार अर्थात् शुद्धात्म तत्त्व होता है। जब जीव अपने स्वभाव ज्ञान से च्युत होकर पुद्गलादि रूप परिणमन प्राप्त करता है तो उस स्थिति में वह कर्मों का कर्ता तथा भोक्ता है। समयसार की टीका आत्मख्याति में उक्त दोनों मतों का प्रतिपादन

1- आत्मख्याति, 356-365.

क्रमशः निश्चय तथा व्यवहार नयों से किया गया है। कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति अज्ञानी-जीव में होती है। ज्ञानी आत्मा अपने स्वभाव रूप भाव को जानकर ज्ञान रूप ही परिणमन करता है। उसी प्रकार अज्ञानी आत्मा "शुद्ध स्वभाव रूप चैतन्य ज्ञायक भाव" के बदले क्रोधादिक को अपना भाव जानकर उसी में परिणमन करता है। आत्मा को जब तक स्वभाव रूप ज्ञान तथा क्रोधादिक के बीच भेदज्ञान नहीं हो जाता तब तक उसमें कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति समाप्त नहीं होती।[1]

शुद्ध अर्थ में जीव को कर्ता तथा भोक्ता के भाव से रहित माना गया है। आत्मा केवल अपने ही भाव का कर्ता तथा भोक्ता है।[2] जीव के कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व का निषेध करते हुए भी आत्मा तथा पौद्गलिक कर्मों के सम्बन्ध को निमित्त-नैमित्तिक भाव से समझाया गया है।[3] पुद्गल कर्मों के निमित्त से जीव में रागादि भाव उत्पन्न होते हैं तथा इन रागादिक भाव से जीव कर्म रूप में परिणमित होता है। यहाँ इतना स्पष्ट है कि जीव उपादान बनकर पुद्गल के गुण रूप से परिणमन नहीं कर सकता। केवल निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के अनुसार दोनों का परिणमन होता है। इस तरह आत्मा उपादान दृष्टि से अपने भावों का कर्ता है। वह पुद्गल कर्म के ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म रूप परिणमन का कर्ता कदापि नहीं है।

आत्मा का स्वरूप लक्षण ज्ञान ही है। अतः जो आत्मा कर्म तथा नोकर्म के परिणामों का कर्ता न होकर मात्र ज्ञाता ही होता है, वही आत्मा ज्ञानी है।[4] आत्मा को ज्ञान से भिन्न तथा परभावों का कर्ता कहना व्यवहारी जनों का मोह है।[5] आत्माएँ अज्ञान से अनेक प्रकार के कर्मों का सम्पादन कर पर-पदार्थ में ही अपने स्वाभाविक गुण आनन्द को खोजने हेतु मृगतृष्णा तथा रज्जु में सर्पभास होने के सदृश भटकती रहती हैं।[6] यहाँ आत्मा को हंस की भाँति ज्ञाता कहा गया है,

---

1- आत्मख्याति, 69-70.

2- वही, 101-102.

3- वही, 80-81, 312-15.

4- वही, 75.

5- समयसार कलश, 62.

6- वही, 58.

जो दूध तथा पानी के भेद ज्ञान की तरह स्वभाव तथा पर-भाव का ज्ञाता होता है ।[1]

जीव तथा कर्म के सम्बन्ध का विवेचन दो विपरीत नयों के द्वारा किया गया है। एक नय के अनुसार जीव कर्मों से बंधा हुआ है तथा दूसरे नय के अनुसार जीव कर्मों से नहीं बंधा हुआ है। शुद्धात्म तत्त्व सभी प्रकार के नय विकल्पों से रहित है। नय पक्ष का अनुसरण करना भी "राग" से प्रेरित है जो अज्ञान मूलक है ।[2] इस तरह आत्मा के कर्तृत्व को स्वीकार करने, नहीं करने से सम्बन्धित विकल्पों का निषेध किया गया है । नयों के धारण करने के मूल में राग की भावना होती है । व्यवहार नय तो रागादिक का स्पष्ट उद्योतक है। निश्चय नय भी रागादिक भावों के त्यक्त होने के निमित्त ही आत्मा के स्वाभाविक गुणों का विवेचन करता है । किसी उद्देश्य या साध्य के निमित्त निश्चय नय का अनुसरण करने में भी राग है। आत्मा शुद्ध अर्थ में पर-पदार्थों के गुणों से रहित तथा चैतन्य स्वभाव ज्ञायक मात्र के सिवाय और कुछ नहीं है ।

आत्मा के कर्तृत्व-भोक्तृत्व का विधान नय पक्षों के ही अनुकूल है। शुद्धात्म स्वभाव के पक्ष से यदि विचार किया जाय तो कर्तृत्व-भोक्तृत्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष आदि सभी प्रकार की अवस्थाएँ इसके स्वाभाविक गुण नहीं हैं। कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि आत्म स्वरूप में लीन होने वाला नय पक्षों से रहित होता है ।[3] नय पक्षों से आत्मा के कर्ता-अकर्ता, भोक्ता-अभोक्ता आदि होने की बात कही जाती है। अतएव अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है कि इन नय विकल्पों से युक्त पुरुष कर्तृकर्मभाव के जाल में फँसे रहते हैं। विकल्प करने वाला कर्ता होता है तथा विकल्प कर्म।[4] इस तरह सभी स्थितियों में शुद्धात्मा केवल शुद्ध चैतन्य स्वरूप ही है। यह कर्ता, कर्म आदि भावों से परे एक शुद्ध सत्ता है। कर्ता-कर्म का भाव

1- समयसार कलश, 59.

2- आत्मख्याति, 142.

3- समयसार, गाथा 143.

4- समयसार कलश, 95.

अज्ञान की अवस्था में जागृत होता है। अन्तस्तल में आत्मज्ञान ज्योति के जागृत होने पर कर्ता, कर्ता नहीं रह जाता तथा कर्म, कर्म नहीं रह जाता अर्थात् कर्तृ-कर्म का भाव समाप्त हो जाता है। ज्ञाता-ज्ञेय का विकल्प नहीं रह जाता तथा ज्ञान, ज्ञानरूप एवं पुद्गल, पुद्गलरूप ही रह जाता है ।[1] अज्ञानी जीव प्रकृति स्वभाव में रत होने से नित्य ही भोक्ता है तथा ज्ञानी जीव के प्रकृति स्वभाव से विरत होने से वह कदाचित् भी भोक्ता नहीं है ।[2]

इस तरह आत्मख्याति टीका में आत्मा को सभी तरह के परभावों का कर्ता तथा भोक्ता होने का निषेध कर चैतन्य स्वरूप शुद्ध सत्ता के रूप में निरूपित किया गया है। व्यवहार दृष्टि से जीव कर्ता तथा भोक्ता - दोनों है । निश्चय नय की दृष्टि से जीव कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व के भावों से बिल्कुल रहित है। यह सिद्धान्त उपनिषदों के जीवात्मा तथा परमात्मा के कर्तृत्व-भोक्तृत्व सम्बन्धी बातों के अनुरूप है। उपनिषद् का जीव कर्ता तथा भोक्ता है तथा परमात्मा इन दोनों से रहित एक शुद्ध सत्ता है। इतना अवश्य है कि उपनिषदों के जीवात्मा तथा परमात्मा के सदृश जैनाचार्य अमृतचन्द्र जी कहीं जीव या आत्मा के दो स्तर नहीं बताते हैं। यहाँ आत्मा ही एक शुद्ध सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक सत्ता है। इसके विवेचन हेतु व्यवहार तथा निश्चय नय जैसी दृष्टियों का उल्लेख किया गया है।

बन्ध तथा मोक्ष के परिप्रेक्ष्य में आत्मा

बन्ध तथा मोक्ष, जीव की दो अवस्थाएँ हैं। जीव की अज्ञानावस्था का नाम बन्ध है तथा ज्ञानावस्था का नाम मोक्ष है । जीव तथा पौद्गलिक द्रव्यों का सम्बन्ध अनादि, सान्त है । आत्मख्याति में जीव का विवेचन विभिन्न नय से किया गया है तथा नयों के विकल्प से रहित अनुभव को शुद्धात्मा का अनुभव बताया गया है। यहाँ जीव के कर्ता तथा भोक्ता होने का विवरण मात्र व्यवहार-

---

1- समयसार कलश, 99.

2- वही, 196.

नय से किया गया है। जीव तथा पुद्गल दोनों दो विपरीत स्वभाव के द्रव्य हैं। अतएव एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्ता कहना व्यवहार नय है, तथा एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्ता मानना व्यवहारी जीवों के अज्ञान तथा मोह का भाव है।[1] जीव के कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व का स्वीकारात्मक कथन ही उसे बन्ध के आवरण में लाता है। बन्ध होने के पश्चात् ही मोक्ष का प्रश्न उठता है। बन्ध का कारण रागादिक भाव रूप जीव का परिणमन है।[2] तथा मोक्ष का कारण जीव का स्वभाव रूप परिणमन है। अज्ञान से उन्मत्त जीव ही रागादि भाव में उसे निज परिणमन जानकर परिणमता है। आत्मख्याति टीका के प्रारम्भ में जीव को स्व-समय तथा पर-समय के रूप में वर्णित किया गया है। स्वभाव में स्थित जीव स्व-समय तथा पर-भाव में स्थित जीव पर-समय है।[3] जीव का स्वभाव चैतन्य तथा सर्वभावों को एक ही समय में जानने वाला है।[4] इसके विपरीत अचेतन, अज्ञानी तथा क्रोधादिक रूप जीव पर-भाव रूप परिणमन का परिणाम है। जीव के स्वाभाविक गुणों का क्षेत्र मात्र शुद्ध चैतन्य ज्ञायक स्वरूप ही है। इससे भिन्न जीव का कोई परिणमन उसका पर-भाव या विभाव रूप परिणमन है।

राग-द्वेष आदि से प्रेरित जीव ही कर्म-बन्ध के चक्र में फँसता है। राग-द्वेषादि से युक्त जीव के सभी प्रकार के कर्म बन्ध के कारण होते हैं। आत्मख्याति टीका के पुण्य-पाप अधिकार में यह स्पष्ट किया गया है कि पुण्य तथा पाप दोनों कर्म से सम्बन्धित कर्म बन्ध के ही कारण होते हैं, क्योंकि इनके मूल में राग रहता है। व्रत-तपादि का प्रयोजन यदि स-राग चारित्र है तो वह जंजीर की तरह बन्ध का ही कारण है। पुण्य तथा पाप दोनों तरह के कर्म सोने तथा लोहे के बने जंजीरों की तरह बाँधने वाले ही हैं।[5] आस्रव भी अज्ञानी जीव का ही होता है।

1- समयसार कलश, 62.

2- आत्मख्याति, 237-41.

3- वही, 2.

4- समयसार कलश 1.

5- आत्मख्याति, 146.

आत्मख्याति में सर्वत्र अज्ञानी जीव का वर्णन उसके वैभाविक परिणमनों के साथ किया गया है। जीव में ज्ञान का उदय, जीव तथा पुद्गलादि के बीच भेद ज्ञान से होता है। इस तरह जब जीव तथा पुद्गलादि दोनों द्रव्य भिन्न-भिन्न रूप में अनुभव में आने लगते हैं तो कर्तृत्व-भोक्तृत्व तथा बन्ध-मोक्ष का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। आत्मा के सम्बन्ध में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि किसी एक द्रव्य का कोई दूसरा अन्य द्रव्य कर्ता कभी नहीं होता। अतएव आत्मद्रव्य पुद्गल द्रव्य का कर्ता नहीं हो सकता, बन्ध के कर्ता योगकषायादिक से उत्पन्न हुए गुणस्थान हैं। इसीलिए ये पुद्गलादि कर्म के कर्ता हैं, जीव को कर्ता कहना अज्ञानमूलक है ।[1] अमृतचन्द्र॰ कलश में यह व्यक्त करते हैं कि दूसरे का भला-बुरा करने के कर्तृत्व का जो मोहयुक्त परिणाम [अध्यवसान] है वह आत्म स्वभाव के विपरीत है । अतः यह अज्ञान स्वरूप तथा बन्ध का कारण है ।[2] जीव का यह अध्यवसान भाव उसकी मिथ्यादृष्टि है। यही मिथ्यादृष्टि जीव के बन्ध का कारण है ।

आत्मख्याति टीका में बन्ध के कारणों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जब मिथ्यादृष्टि पुरुष राग, द्वेष तथा मोहादि भावों का समावेश अपने उपयोग [आत्मा की चैतन्य गुण से सम्बन्धित परिणति] में करता है, तब वह बन्ध को प्राप्त होता है। आचार्य पुद्गलों से भरे लोक, मन, वचन, तथा काय के योग, अनेक कारण तथा चेतन-अचेतन के घात को बन्ध का कारण नहीं मानते । क्योंकि ऐसा मानने से सिद्धों, यथाख्यातचारित्र वालों, केवल ज्ञानियों तथा मुनियों के सम्बन्ध में बन्ध का प्रसंग आ जाएगा। अतएव बन्ध का कारण रागादिक ही है ।[3] इसी तथ्य को कलश में कहा गया है कि निश्चय नय से मिथ्यात्व रागादिक ही बन्ध का कारण है ।[4] एक अन्य जगह कलश में यह भी बताया गया है कि जो मिथ्यादृष्टि जीव पदार्थ को जानता हुआ साथ में रागद्वेष भी करता है, वही बन्धनग्रस्त होता है तथा सम्यग्दृष्टि जीव, जो केवल जानने वाला है, वह राग

1- आत्मख्याति, 109-12.
2- समयसार कलश, 170.
3- आत्मख्याति, 237-41.
4- समयसार कलश, 164.

द्वेषों का कर्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता है। उसका बन्ध कभी नहीं होता।[1] दूसरे अर्थ में वह आत्मा जो अपने वस्तु भाव का ज्ञाता नहीं होता वही रागादिक रूप परिणमन करता है, फलतः उनका कर्ता होता है ।[2]

जैन दर्शन की मान्यता है कि मन, वचन तथा काय से कार्य सम्पादन होने पर किसी-न-किसी प्रकार के कर्म द्रव्य अवश्य पैदा होते हैं, जो प्रारम्भिक स्तर में भाव कर्म तथा बाद में द्रव्य कर्म में परिवर्तित होते हैं। ये जीव में प्रविष्ट होकर कषाय के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं । कषाय की प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं - क्रोध, लोभ, मोह, तथा गर्व । इन्हीं की पुष्टि हेतु कर्म पुद्गल होते हैं तथा यही कषाय बन्ध का कारण है। इन कषायों के कारणकर्म पुद्गल जीव में प्रवेश करता है, जिसे आस्रव कहते हैं। आस्रव ही बन्ध का कारणहै। अमृतचन्द्राचार्य जीव तथा आस्रव के सम्बन्धों के बारे में कहते हैं कि जीव चैतन्यस्वभाव है तथा आस्रव जड़ स्वभाव। इस तरह दोनों के एक रूप परिणति होने से इन दोनों द्रव्यों का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। ऐसा होने से महत्वपूर्ण दोष उत्पन्न हो जाता है । अतएव निश्चय नय से आस्रव तथा आत्मा में एकत्व की बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता ।[3] जीव तथा पुद्गल के कर्तृ-कर्म भाव का निषेध करते हुए आचार्य कहते हैं कि जीव तथा पुद्गल के परिणामों की परस्पर निमित्त मात्रता होते हुए भी उनमें परस्पर कर्तृकर्मभाव नहीं है। पुद्गल कर्म विपाक के निमित्त से जो जीव के भाव होते हैं, कदाचित् अज्ञान दशा में उन भावों का कर्ता जीव को कह भी सकते हैं, लेकिन शुद्ध अर्थ में जीव पर-भाव का कर्ता कभी नहीं हो सकता ।[4]

आत्मख्याति टीका के अनुसार एक द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य का कर्ता नहीं हो सकता । किसी द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्ता मानना मिथ्यादृष्टि है ।[5] शुद्ध

1- समयसार कलश, 167.

2- वही, 177.

3- आत्मख्याति, 113-15.

4- वही, 80-81.

5- वही, 84.

अर्थ में पुद्गल कर्मों का कर्ता पुद्गल द्रव्य ही है। पुद्गल कर्म के अनुकूल ही जीव अपने रागादि परिणामों का वरण करता है। उसके इस निमित्त-नैमित्तिक भाव को देखकर अज्ञानी जीव को यह भ्रम हो जाता है कि जीव ही पुद्गल कर्मों का कर्ता है। आत्मा की ससंसार {बन्ध} तथा निःसंसार {मोक्षावस्था} की अवस्था परद्रव्य पुद्गल कर्म के सद्भाव तथा अभाव के निमित्त से है। इस तरह निमित्त मात्र जो पुद्गल कर्म है उसका आत्मा कर्ता तथा भोक्ता नहीं है ।[1] इस तरह शुद्धात्मा शुद्धचैतन्य स्वरूप मात्र ही है, जो जीव मिथ्यादृष्टि के कारण अपने परमार्थ {स्वभाव} रूप से अनभिज्ञ है वही अपने को अनेक अवस्था में व्यक्त करता है ।[2] जीव को जब अन्य द्रव्यों से भिन्न अपने स्वभाव का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तो वह बन्ध तथा मोक्ष के परिप्रेक्ष्य से अलग हटकर शुद्धात्म तत्त्व का अनुभव करता है। बन्ध अज्ञानी जीव के लिए है। अज्ञानी कर्म के उदय से निर्मित कर्मरस के अनुकूल परिणमित होता है तथा उस परिणमन के भावों का कर्ता स्वयं को समझता है। इस तरह वह कर्म बन्ध में बँधता रहताहै ।[3]

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि समयसार का जो मुख्य वर्ण्य-विषय शुद्धात्म-तत्त्व है वह सभी तरह की अवस्थाओं से मुक्त है । बन्ध तथा मोक्ष के परिप्रेक्ष्य में जीव का कथन करना व्यवहार नय है। यही सामान्य लोगों द्वारा ग्राह्य तथा विश्वसनीय भी है। इस तरह व्यवहार नय से ही जीव के बन्ध तथा मोक्ष होने का अनुमोदन किया गया है। चूँकि समयसार का लक्ष्य शुद्धात्मा की उपलब्धि कराना है, अतएव इसके मापदण्ड के रूप में शुद्ध चैतन्य ज्ञायक स्वरूप आत्मा का ही मात्र कथन किया गया है। सामान्य बुद्धि द्वारा ग्राह्य आत्मा के बन्ध-मोक्ष जैसी सभी स्थितियों की स्वीकृति को व्यवहार मात्र का कथन कहा गया है। अतएव शुद्धात्मा बन्ध तथा मोक्ष जैसी अवस्थाओं का पात्र नहीं हो सकता। इसके स्वाभाविक गुण ही कुछ ऐसे हैं, जिनके कारण उसको अपने भावों के अलावा अन्य कोई परिणति नहीं होती । उसके स्वभाव परिणमन के अनुसार बन्ध तथा मोक्ष

1- आत्मख्याति, 83.

2- वही, 268-69.

3- वही, 280.

की परिणति उसकी स्वाभाविक परिणति नहीं है।

जैन आत्म चिन्तन में आत्मख्याति का योगदान

जैन दर्शन में आत्म-चिन्तन की परम्परा का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। इस परम्परा में अनुपलब्ध पूर्व साहित्य के पश्चात् अंग साहित्य का नाम आता है। अंग साहित्य का प्रारम्भिक साहित्य "आचारांग" है। यहाँ आत्मोत्थान हेतु मुनि के आचार, अर्हतों के उपदेश तथा शाश्वत धर्म आदि का विवेचन किया गया है। इसके पश्चात् अंग साहित्य के ही "उपासक दशा", "अन्तकृद्दशा" तथा "अनुत्तरोपपातिकदशा"- इन तीनों साहित्यों में उपासकों तथा तपस्वियों से सम्बन्धित कथाएँ कही गयी हैं, जिससे निर्लिप्त सांसारिक जीवन व्यतीत करने का उपदेश मिलता है। उपांग साहित्य के द्वितीय उपांग "राजप्रश्नीय" में केशीमुनि द्वारा जीव तथा शरीर के सम्बन्ध में व्यापक उपदेश पाकर राजा पएसी सन्तुष्ट होते हैं तथा जैन धर्म धारण करते हैं। "जीवाभिगम" तथा "प्रज्ञापन" उपांग साहित्य में जीव-अजीव के भेदों-प्रभेदों का विशद विवेचन है। इसके पश्चात् मूल सूत्र के "उत्तराध्ययन" आदि में भी जीव का विवेचन हुआ है। इस प्रकार जैन परम्परा में आत्म-चिन्तन की परम्परा का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है।

जैन आगमों की परम्परा में सर्वप्रथम आचार्य गुणधर, पुष्पदन्त तथा भूतबलि का नाम आता है। तत्पश्चात् आत्म विषयक चिन्तन को दार्शनिक रूप देने वाले आचार्य कुन्दकुन्द प्रथम हैं, जिन्होंने समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय आदि गम्भीर कृतियों की रचना की। कुन्दकुन्द की इन सारी कृतियों में आत्म विवेचन की प्रमुखता है, लेकिन इनकी कृति समयसार समग्र रूप से आत्म-चिन्तन की ही आध्यात्मिक धारा प्रवाहित करती है। जैन परम्परा के आत्म-विषयक कृतियों में समयसार अद्वितीय है ।

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि कुन्दकुन्द के टीकाकारों में प्रथम तथा श्रेष्ठ हैं। इन्होंने कुन्दकुन्द की कृति समयसार, प्रवचनसार तथा पंचास्तिकाय पर अपनी टीकाएँ रच कर हजार वर्ष पूर्व के पुरातन तथ्य पर अपने युग की छाप ; अपने उत्कृष्ट पांडित्य एवं दार्शनिक शैली के आधार पर डाली। दर्शन जगत में आचार्य

कुन्दकुन्द के विचारों का व्यापक प्रचार-प्रसार अमृतचन्द्र की टीकाओं से ही हुआ है । अमृतचन्द्र की समयसार, प्रवचनसार तथा पंचास्तिकाय की टीकाओं के परिचय के आधार पर कहा जा सकता है कि उक्त ग्रन्थों का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय आत्मा, उसका ज्ञान तथा उसकी उपलब्धि ही है। इन कृतियों के संक्षिप्त परिचय हेतु "आचार्य अमृतचन्द्रसूरि की कृतियों का परिचयात्मक अध्ययन" नामक शीर्षक का वर्णन प्रस्तावना स्वरूप प्रथम अध्याय में किया जा चुका है । अतः उनकी व्याख्या यहाँ अप्रासंगिक होगी ।

"आत्मख्याति" में आत्मा या जीव को शाश्वत् एवं श्रेष्ठ सत्ता के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस तत्त्व के निर्दोष विवेचन हेतु अनेकान्त दृष्टि का प्रयोग किया गया है ।[1] अनेकान्त दृष्टि वस्तु को अनेक धर्मों वाला मानकर आत्मा के विभिन्न पक्षों का विवेचन विभिन्न नयों से प्रस्तुत करती है "आत्मख्याति" की आत्मा पर-द्रव्य से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखता है । यह शरीर या कर्म, नोकर्म का धारक नहीं है ।[2] आत्मा अमूर्तिक द्रव्य है तथा पर-द्रव्य मूर्तिक द्रव्य है। आत्मा ज्ञान स्वरूप है। यह पर-द्रव्यों को न ग्रहण करता है न छोड़ता है। यह तो अपने स्वभाव रूप परिणमन का कर्ता है। इस प्रकार यह स्व परिणामों का कर्ता है। पर-द्रव्य से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है ।[3] यहाँ जीव तत्त्व का विवेचन मुख्य रूप से व्यवहार तथा निश्चय नय से प्रस्तुत किया गया है। व्यवहार नय सम्मत आत्म विचार निश्चय नय सम्मत आत्म विचार को ग्रहण करने हेतु सोपान का कार्य करता है। दृश्य जगत् में स्पष्ट किए जाने वाले आत्मा की स्थिति का विवेचन व्यवहार नय से तथा आत्मा के आध्यात्मिक एवं पारमार्थिक रूप का विवेचन निश्चयनय से हुआ है। इसप्रकार व्यवहार नय तथा निश्चय नय सम्मत विचार परस्पर सापेक्ष है । "आत्मख्याति" में शुद्ध आत्मा को ही समयसार कहा गया है ।[4] यह समयसार

1- समयसार कलश, 2.

2- वही, 236.

3- आत्मख्याति, स०सा० की गाथा 405-407 की टीका.

4- समयसार कलश, 1.

तत्त्व ही शुद्धात्म सत्ता है। यह नय विकल्पों से रहित होकर, अनुभव करने पर अनुभवगम्य है ।[1] इससे यह भी स्पष्ट होता है कि शुद्धात्म तत्त्व सांसारिक तुच्छ बुद्धियों से नहीं जाना जा सकता है। यह एक अवर्णनीय सत्ता है। यह मात्र आध्यात्मिक अनुभव का ही विषय हो सकता है। इस तत्त्व का वर्णन व्यवहार तथा निश्चय नयों से जो प्रस्तुत किया गया है, वह इस तत्त्व को समझने-समझाने का प्रयास मात्र है। शुद्धात्मतत्त्व सभी तरह के नयों के ज्ञानियों, भेदज्ञानियों हेतु अनुभव किए जाने वाला तत्त्व है। नयों से इस शुद्धात्म-तत्त्व का पूर्ण रूप से शुद्ध विवेचन सम्भव नहीं है। इस तरह जैन आत्मवाद में "आत्मख्याति" के योगदान का संक्षिप्त विवेचन निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है —

1. "आत्मख्याति" के अनुसार आत्मा चैतन्य स्वरूप है । चैतन्य जीव के स्वरूप गुण में इससे अभिन्न तथा विशिष्ट है। अमृतचन्द्र ने लिखा है कि चैतन्य शक्ति ही जिसका सर्वस्व-सार है, वही आत्मा है । इसके अलावा चैतन्य स्वरूपता के अतिरिक्त समस्त गुणभाव पुद्गल के हैं ।[2] कुन्दकुन्द ने भी कहा है कि जैन परम्परा के सात तत्त्वों, नव पदार्थों तथा छः द्रव्यों में से केवल आत्मा ही चैतन्यस्वरूप है ।[3] यहाँ आत्मख्याति का आत्म-विवेचन जैन आत्मवाद की परम्परा में आत्मा के स्वरूप गुण चैतन्य का विशिष्ट ढंग से वर्णन कर यह स्पष्ट करता है कि जैन परम्परा में आत्मा के अतिरिक्त दूसरी कोई सत्ता चैतन्य स्वरूप हो ही नहीं सकती है। चैतन्य स्वरूप होना मात्र जीव या आत्मा का ही गुण है ।

2. आत्मख्याति का आत्मा ज्ञायक स्वभाव वाला है ।[4] वह पर द्रव्यों का न कर्ता है न भोक्ता, वह मात्र अपने स्वभाव रूप परिणमन तथा पर-भाव रूप परिणमन का ज्ञाता है ।[5] वही आत्मा ज्ञानी है, अपने तथा पर के भेदज्ञान का ज्ञाता

1- समयसार कलश, 90.

2- वही, 36.

3- पंचास्तिकाय, 109; प्रवचनसार, 2/35.

4- समयसार कलश, 3.

5- वही, 50.

है। यह ज्ञायक स्वभाव वाला आत्मा ज्ञानमय भाव का ही कर्ता है। इसके विपरीत पुद्गल द्रव्य को अपने तथा पर के भेदज्ञान से रहित होने के कारण उसे अपने अज्ञानमय के कर्तृत्व का श्रेय प्राप्त होता है।[1] इसप्रकार यहाँ आत्मा शुद्ध अर्थ में कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व से रहित मात्र ज्ञान स्वभाव सम्पन्न, ज्ञायक है। इस तरह "आत्मख्याति" का आत्मा ज्ञायक स्वभाव वाला अर्थात् ज्ञाता है। यहाँ इसके ज्ञाता होने का विवेचन विशिष्ट ढंग से किया गया है। यह जैन आत्मवाद की परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द एवं अमृतचन्द्र की ही देन है।

3. आत्मख्याति का आत्मा रागादि भावों का क्षयकर्ता है।[2] यहाँ आत्मा रागादिक भाव रूपी कर्म का क्षयकर्ता नहीं, अपितु अपने स्वभाव ज्ञान के परिणमन से रागादिक भावरूप विभाव को समाप्त करने वाला है। यहाँ शुद्ध आत्मा अपने मूल रूप में इन रागादिक भावों से भिन्न मात्र चैतन्य स्वरूप सत्ता ही है। यह अपने से भिन्न अर्थात् परभावों का न सृजन कर्ता है न उनका क्षयकर्ता। आत्मा के सम्बन्ध में इसे किसी भी रूप से परभाव के कर्ता होने का अस्वीकार किया गया है। इसे अपने स्वभाव में ही सदैव परिणमित होने से रागादिक भाव का क्षयकर्ता कहा गया है। इसप्रकार आत्मा को शुद्ध अर्थ में रागादिक भावों का क्षयकर्ता कहा गया है। "आत्मख्याति" के इस आत्म विवेचन सम्बन्धी गुण से जैन आत्मवाद प्रभावित होता है तथा इस परम्परा में आत्मा पर भावों के क्षयकर्ता के रूप में विशिष्ट अर्थ में प्रतिपादित होता है।

4. "आत्मख्याति" का आत्मा स्वानुभूति से प्रकाशमान् है।[3] वह अपने आप स्वतन्त्र रूप में निज अनुभूति से प्रकाशित होता है। उसे प्रकाशित करने या होने हेतु किसी अन्य द्रव्य या सत्ता की आवश्यकता नहीं है। किसी अन्य सत्ता में उसे प्रकाशित करने की क्षमता नहीं है, क्योंकि उसका कोई भी परिणमन अपने स्वभावानुकूल होता है। वह अन्य रूप परिणमन नहीं करता है। यहाँ "आत्मख्याति" आत्मा

---

[1] आत्मख्याति, समयसार की गाथा 126 की टीका.

[2] समयसार कलश, 1.

[3] वही, 3.

को स्वानुभूति से प्रकाशमान बनाकर जैन आत्मवाद में आत्मा के विशिष्ट गुणों का सम्पादन करती है ।

5. आत्मख्याति में आत्मा को सभी पदार्थों में श्रेष्ठ कहा गया है ।[1] यह आध्यात्मिक तथा दृश्य-अदृश्य जगत् का महान् विभु तथा शीर्षस्थ सत्ता है । चैतन्य जगत् में मात्र जीव ही सत्य तथा अस्तित्ववान् है । जीव से ही चैतन्य जगत् का अस्तित्व है, क्योंकि चेतना आत्मा के अतिरिक्त अन्य सत्ता का गुण हो ही नहीं सकता। इसप्रकार आध्यात्मिक तथा चेतना जगत् के सर्वश्रेष्ठ सत्ता के रूप में "आत्मख्याति" का जीव प्रतिपादित हुआ है । यह तथ्य जैन आत्मवाद के क्षेत्र में आत्मा को सर्वोच्च सत्ता के रूप में स्थापित करता है ।

6. "आत्मख्याति" के आत्म विवेचन की एक विशेषता यह है कि यह विभिन्न नयों के सन्दर्भ में आत्मा का विवेचन करता है। यहाँ मुख्य रूप से व्यवहार नय, निश्चय नय को माध्यम बनाकर आत्मा के विभिन्न पक्षों का वर्णन किया गया है। आत्मा के कर्तृत्व, भोक्तृत्व तथा बन्ध व मोक्ष आदि के होने का विवेचन व्यवहार-नय से की जाती है। अर्थात् व्यवहार नय से आत्मा के वैभाविक रूप परिणमन का विवेचन किया जाता है। दूसरे शब्दों में आत्मा अपने स्वभाव ज्ञान से च्युत होकर जब अज्ञानी बन जाता है, उसे अपने तथा पर के बीच के भेदज्ञान नहीं सूझता तब वह पर-भावों को ही स्वभाव जानकर उसे धारण कर लेता है। इन सारी अवस्थाओं का विवेचन व्यवहार नय से किया जाता है । इसके विपरीत निश्चय नय आत्मा के स्वभाव रूप परिणमन अर्थात् ज्ञानी आत्मा का विवेचन करता है। इसके अनुसार आत्मा पर-द्रव्यों के कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि सभी भावों से रहित शुद्ध सत्ता है। टीका आत्मख्याति में व्यवहार तथा निश्चय नय का प्रतिपाद्य विषय परस्पर सापेक्ष है। यहाँ व्यवहार नय का प्रयोग निश्चयनय द्वारा प्रतिपाद्य शुद्धात्मा तक पहुँचने के लिए ही किया गया है ।[2] इस तथ्य का व्यापक विवेचन मैं "स्याद्वाद का स्वरूप" नाम के अध्याय में किया हूँ ।

1- समयसार कलश, 1.

2- आत्मख्याति, स0सा0गा0 3,8 की टीका, पंचास्तिकाय 159.

इसप्रकार यह सुनिश्चित होता है कि "आत्मख्याति" आत्मा के द्रव्यगम्य गुण पर्यायों की अवहेलना न कर इन पर्यायों का विवेचन व्यवहार नय से करती है तथा शुद्धात्म स्वरूप का विवेचन निश्चय नय से करती है। जैन आत्मवाद में मुख्य रूप से निश्चय तथा व्यवहार नय से आत्मा का विवेचन कुन्दकुन्द की ही देन है जिसे अमृतचन्द्र ने अपनी टीका आत्मख्याति में दार्शनिक शैली में व्यापक रूप में प्रस्तुत किया है। इस तरह जैन परम्परा में अनन्त धर्मों से युक्त आत्मा का वर्णन निश्चय तथा व्यवहार नय से करने का जो श्रेय समयसार एवं इसकी टीका आत्मख्याति को है, वह आत्मवाद के लिए अद्भुत देन है ।

7. समयसार तथा इसकी टीका आत्मख्याति के "सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार" में आत्मा के कर्तृत्व-भोक्तृत्व रूप का बहिष्कार किया गया है । आत्मा को निश्चय-नय से अकर्ता, अभोक्ता तथा व्यवहार नय से शरीरादि कर्मों का कर्ता, उनके फलों का भोक्ता आदि कहा गया है । इस कृति में यह स्पष्ट किया गया है कि शुद्धात्मा समस्त प्रकार के पर-भावों का न कर्ता है न भोक्ता ही है। आत्मा के कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व के सम्बन्ध में व्यवहार तथा निश्चयादि नय के विचारों का विशद विवेचन मैंने पूर्व की शीर्षक "कर्तृत्व व भोक्तृत्व के सन्दर्भ में आत्मा" में किया है। अतः यहाँ हम उसकी व्याख्या नहीं करेंगे ।

वस्तुतः यहाँ आत्मा के शुद्ध अर्थ में उसे स्वभावों से भिन्न समस्त प्रकार के भावों के कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व के निषेध होने से जैन आत्मवाद में भी यह मत स्थापित होता है कि आत्मा शुद्ध अर्थ में सभी प्रकार के कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व भाव से रहित है। इससे जैन आत्मवाद के क्षेत्र में आत्मा के सम्बन्ध में यह मत स्थापित होता है, जिससे जैन आत्मवाद की विशिष्टता प्रतिपादित होती है ।

8. "आत्मख्याति" के आत्म विवेचन की एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है कि यह विभिन्न नयों से आत्म विवेचन को प्रस्तुत करते हुए भी शुद्धात्मा को नय विकल्पों से परे मानती है। अमृतचन्द्र बीस श्लोकों (कलशों) में नय विकल्पों से आत्मा का प्रतिपादन करते हैं ।[1] तत्पश्चात् अमृतचन्द्र ने कहा है कि तत्वज्ञानी

1- समयसार कलश, 69-89.

इन नय विकल्पों से रहित होकर एक ही वीतराग परिणति वाले स्वभाव रूप को प्राप्त होते हैं ।[1] अर्थात् आत्मा जिद जन उक्त नय विकल्पों से प्रतिपादित तथ्यों, उदाहरणार्थ इसके कर्ता, अकर्ता, भोक्ता, अभोक्ता, बन्धन, बन्धनग्रस्त नहीं होने आदि के विकल्प ज्ञान से रहित होकर ही शुद्धात्मत्व भाव को प्राप्त करते हैं । यहाँ "आत्मख्याति" शुद्धात्म तत्व को नय विकल्प ज्ञान से परे बताकर तथा तत्वज्ञानी के लिए ही अनुभव गम्य बताकर जैन अध्यात्मवाद के क्षेत्र में एक नया कीर्तिमान स्थापित करती है। "आत्मख्याति" की उक्त मान्यता से जैन-आत्मवाद के परम् शुद्धता एवं इसके अवर्णनीय होने का संकेत मिलता है ।

इसप्रकार हम देखते हैं कि समयसार तथा इसकी टीका आत्मख्याति का जैन आत्मवाद के क्षेत्र में अमूल्य योगदान है। आत्मा सम्बन्धी आध्यात्मिक कृतियों में "आत्मख्याति"का स्थान विशिष्ट है । "आत्मख्याति" का मुख्य प्रतिपाद्य विषय शुद्धात्मा का कथन ही है ।[2] जैन आत्मवाद का सिद्धान्त सभी तीर्थंकरों तथा जैनाचार्यों के उपदेश का ही परिणाम है। कुन्दकुन्द से पूर्व यद्यपि जीव-अजीव आदि तथ्यों का विवेचन अन्य साहित्य में भी मिलता है, लेकिन इसे आध्यात्मिक सर्वोच्च सत्ता के रूप में विशिष्ट ढंग से प्रस्तुत करने का श्रेय "आत्मख्याति" को ही है। "आत्मख्याति" समयसार की टीका होते हुए भी समयसार से अधिक स्पष्ट एवं कुन्दकुन्द के विचारों को और अधिक स्पष्ट करने वाली है । "आत्मख्याति" के आत्म विवेचन से जैन आत्मवाद को वे सारे तथ्य प्राप्त होते हैं जो कुन्दकुन्द के समयसार में अदृश्य रूप से छिपे हुए थे । वर्तमान समयसार का रूप "आत्मख्याति" के आत्म विवेचन एवं दार्शनिक शैली से युक्त है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि "आत्मख्याति" चैतन्यस्वरूप, ज्ञायकस्वभाव वाला, रागादि भावों के क्षयकर्ता, स्वानुभूति से प्रकाशमान् तथा सभी पदार्थों में श्रेष्ठ है। यहाँ आत्मा का वर्णन मुख्य रूप से निश्चय नय तथा

1- समयसार कलश , 90 ; आत्मख्याति गद्य टीका, 142.

2- समयसार कलश, 3.

व्यवहार नय से प्रस्तुत कर जीवन में जीव की क्रियाओं को स्वीकार करते हुए भी शुद्धात्म तत्त्व का विवेचन किया गया है। शुद्धात्म तत्त्व कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि भावों से रहित है। इस तत्त्व को सभी तरह के नय विकल्पों से अग्राह्य बताकर जैन आत्मवाद में आत्मा के अत्यन्त शुद्ध एवं परिमार्जित रूप को प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय अध्याय

पुण्य पाप का स्वरूप

पुण्य-पाप की धारणा का कतिपय धार्मिक चिन्तनों के सन्दर्भ में अर्थ

सामान्यतया सभी प्रकार के कर्मों का वर्गीकरण पुण्य तथा पाप के वर्गों में किया जाता है। मनुस्मृति में ऐसे कर्म के सम्पादन का अनुमोदन किया गया है, जिससे अन्तरात्मा को परितोष मिलता है ; इसके विपरीत ऐसे कर्मों को करने का निषेध किया गया है, जिससे अन्तरात्मा को परितोष नहीं मिलता है ।[1] इस अर्थ में पुण्य की परिभाषा ऐसे कर्मों से दी जा सकती है, जिससे अन्तरात्मा को परितोष मिलता है। "शिवपुराण" में पापों का वर्गीकरण तीन प्रकार से किया गया है। सनत्कुमार जी व्यास को मानसिक, वाचिक तथा शारीरिक तीन प्रकार के पापों का उपदेश देते हैं। मानसिक पापों में परस्त्री को प्राप्त करने का संकल्प, पराये धन को अपहरण करने की इच्छा, चित्त के द्वारा अनिष्ट चिन्तन तथा न करने योग्य कर्मों में प्रवृत्त होने का दुराग्रह - ये चार तरह के पाप आते हैं। वाचिक पापों में असंगत प्रलाप, असत्य भाषण, अप्रिय बोलना तथा पीठ पीछे चुगली करना आता है। शारीरिक पापों में अभक्ष्य भक्षण, प्राणियों की हिंसा, व्यर्थ के कार्यों में लगना तथा दूसरों के धन को हड़प लेना बताया गया है ।[2]

ऐतिहासिक सर्वेक्षण से यह पता चलता है कि बलि प्रथा तथा मांस भक्षण का प्रारम्भ वैदिक युग से होता है। श्रमण परम्परा के प्रचलन होने पर इस प्रथा को कुठाराघात पहुँचा । वाल्मीकीय रामायण में भरद्वाज ऋषि द्वारा भरत के सत्कार के सन्दर्भ में अयोध्यावासियों के भोजन हेतु मृग, मयूर तथा मुर्गे आदि का मांस एवं शराब की व्यवस्था का प्रमाण मिलता है ।[3] मांस खाने की प्रथा सर्वा

1- मनुस्मृति, अध्याय 4, श्लोक 161.

2- शिवपुराण, अध्याय 4-6.

3- अयोध्या, 91, 67 तथा 70.

चली आयी है। देवताओं को अर्पित किये बिना माँस खाने वाले को पापी कहा गया है ।[1] इसके विपरीत "मनुस्मृति" में यह भी बताया गया है कि माँसादि भक्षण नहीं करने वाले को प्रतिवर्ष सौ वर्ष तक अश्वमेधयज्ञ कराने का पुण्य मिलता है ।[2]

पुण्य तथा पाप कर्मों के फलों के बारे में राजा भर्तृहरि लिखते हैं कि पूर्व जन्म के अर्जित पुण्य विषम स्थिति में रक्षा करते हैं ।[3] पुण्य का फल लौकिक सुखों में परिणत होताहै ।[4] शृंगार शतक में सुन्दर पत्नी तथा लौकिक मनोरथ को पाने हेतु पुण्य करने को कहा गया है ।[5] "मनुस्मृति" में कहा गया है कि जिसका पुण्य पाप की अपेक्षा अधिक होता है, वह पंचभूतों से स्थूल शरीर के रूप में जन्म ग्रहण कर स्वर्ग सुख भोगता है तथा इसके विपरीत होने पर मृत्यु के बाद यम यातनाएँ भोगता है ।[6] यहाँ यह भी बताया गया है कि जीव को इस संसार में आगमन तथा प्रस्थान अकेले ही करना पड़ता है तथा अपने पुण्य-पाप का फल स्वयं भोगना पड़ता है ।[7] पाप का फल पृथ्वी में बोये हुए बीज की भाँति तत्काल नहीं मिलता। पाप कर्ता को कुल पापों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। पाप का संस्कार पुत्रों तथा पौत्रों तक को प्रभावित करता है ।[8]

1- अयोध्या, 75/30 एवं मनुस्मृति, 5/32.

2- मनुस्मृति, 5/53.

3- भर्तृहरिनीतिशतक, श्लोक 95.

4- वही, 103.

5- शृंगारशतक, 17,95.

6- मनुस्मृति, 12/20-21.

7- वही, 4/240.

8- वही, 4/172-173.

इस तरह पुण्य का सम्बन्ध सद्कर्मों से है तथा पाप का सम्बन्ध दुष्कर्मों से है। पुण्य मानवोचित कार्य है तथा पाप दानवी प्रवृत्ति है। परोपकार को श्रेष्ठ पुण्य की कोटि में रखा गया है। कहा गया है कि परोपकार प्राण तथा धन से करना चाहिए। जो पुण्य सहस्त्रों यज्ञ को करने से प्राप्त होता है उसकी अपेक्षा में परोपकार से फलित पुण्य महत्वपूर्ण है ।[1]

उक्त विवेचन से पाप-पुण्य की धारणा स्पष्ट हो जाती है। धर्म-दर्शन में भी पाप-पुण्य का अर्थ दुष्कर्म एवं सुकर्म से ही लिया गया है। धर्म के क्षेत्र में ईश्वर में आस्था, पूजा-पाठ से सम्बन्धित कार्यों का सम्पादन, वेद एवं श्रुतियों में विश्वास तथा कर्मकाण्ड आदि के अनुसरण को पुण्य माना जाता है। इसके विपरीत ईश्वर तथा धर्म में अनास्था आदि को पाप कर्म माना जाता है ।

इस्लाम धर्म में सौम, (रमजान महीने में व्रत करना) सलात, (नमाज) हज्ज तथा कुरान - इन चार कार्यों को धर्म की दृष्टि से महत्वपूर्ण बताया गया है । धार्मिक कर्तव्यों के सम्बन्ध में बताया गया है कि पूरब या पश्चिम की ओर मुँह करने में पुण्य नहीं है। पुण्य परमेश्वर, देवदूतों, पुस्तकों तथा पैगम्बरों पर श्रद्धा रखने में है। पुण्य, धन को दरिद्रों, याचकों, अनाथों तथा सम्बन्धियों को एवं प्राण बचाने हेतु दान करने में है ।[2] निन्दित कर्मों में सूद लेना[3] आता है तथा जुआ खेलने को महापाप बताया गया है ।[4] कृपणता[5], फजूल खर्ची[6], तथा मद्यपान[7] की निन्दा की गई है ।

1- परोपकारः कर्तव्यः प्राणैरपि धनैरपि । परोपकारजं पुण्यं न स्यात क्रतुशतैरपि।।
-सुभाषितानि.

2- श्री सांवलियाबिहारी लाल वर्मा कृत विश्व धर्म दर्शन, पृ0 272-73से उद्धृत ।
कुरान, 2/22/1.

3- वही, 3/14/1.

4- वही, 2/27/3.

5- वही, 4/6/4.

6- वही, 7/3/6.

7- वही, 2/27/3.

पारसी धर्म में भी सुकर्म तथा कुकर्म का वर्णन किया गया है। कर्ज की सुव्यवहार एवं सुविचार से अदायगी, नम्रता, दया, शान्ति भाव, समृद्ध अवस्था में परमात्मा को धन्यवाद अर्पित करना तथा कष्ट में उनकी इच्छा पर अपने को छोड़ देना, माता-पिता को आदर तथा प्रिय को स्नेह, राजभक्ति, उपयोगी जीव की रक्षा तथा हानिकारक जीव का विनाश, सत्यवादिता, सबेरे जगना तथा अपने कर्तव्यों का परिश्रम एवं ईमानदारी से पालन करना, शुद्धता, स्वावलम्बन, योग्य व्यक्तियों को दान देना, सज्जनों की रक्षा तथा दुर्जनों का विनाश, शिक्षा प्रचार, सद्कर्मों में निहित रहना, ईश्वर आदि का कीर्तन तथा योग्य व्यक्तियों का आतिथ्य सत्कार आदि कर्मों को पारसी धर्म में सुकर्म कहा गया है ।

कुकर्मों में बेईमानी, निर्दयता, ईर्ष्या, असत्य, गाली देना, झूठी गवाही, धोखा देना, झगड़ा पैदा करना, आलस्य, भीख माँगना, चोरी, डकैती आदि करना, वेश्यागमन तथा अप्राकृतिक मैथुन, ईमानदारी के साथ कर्ज न अदा करना, फिजूलखर्ची, कृपणता, किसी जुर्म में सहायता देना तथा घमण्ड आदि करना आता है ।[1]

इसी तरह यहूदी धर्म में भी सदाचार से सम्बन्धित बातें तथा ईश्वर आदि में आस्था रखने, व्यर्थ ईश्वर का नाम न लेने, शनिवार को विश्राम लेने आदि से सम्बन्धित आदेश दिये गये हैं ।[2]

इस तरह से पुण्य-पाप का संक्षिप्त विवेचन करने के पश्चात् यही निष्कर्ष निकलता है कि दोनों ही प्रकार के कर्मफल जगत् धारण करने के कारण हैं। पुण्य फल का सम्बन्ध लौकिक सम्पन्नता से है तथा पाप का सम्बन्ध लौकिक विपन्नता से है। पुण्य फल सुखप्रद है तथा पाप फल कष्टप्रद है। विभिन्न धर्म चिन्तनों में जागतिक

---

[1] विश्व धर्म-दर्शन, पृ0 68-69.

[2] वही, पृ0123-24.

जीवों की रक्षा करना, समस्त नैतिक नियमों का पालन करना तथा देवी-देवताओं व धार्मिक ग्रन्थों का आदर एवं उनके द्वारा निर्धारित अनुष्ठान आदि करना पुण्य कर्म है तथा इसके विपरीत कार्य पाप कर्म है, परन्तु दोनों ही तरह के कार्य से मिलने वाले फल जन्म-मरण के ही कारण हैं ।

जैन परम्परा में पुण्य तथा पाप

इस प्रकार पुण्य-पाप के सामान्य विवेचन के उपरान्त यही लगता है कि इन दोनों प्रकार के कर्मों का सम्बन्ध मनुष्य के सत्कर्मों एवं दुष्कर्मों से है । जैन-परम्परा में आचार्य गुणभद्र स्वामी ने कहा है कि पुण्य तथा पाप के कारण जीव के परिणाम हैं। अतएव पाप का नाश करते हुए सम्यक् प्रकार से पुण्य का संचय करना चाहिए।[1] उन्होंने आगे कहा है कि शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप तथा सुख-दुःख इन छः बातों में से आदि के तीन अर्थात् शुभ, पुण्य तथा सुख आदरणीय हैं। शेष तीन अर्थात् अशुभ, पाप तथा दुःख हेय है ।[2] इस तरह गुणभद्राचार्य ने पुण्य को धारण करने योग्य एवं पाप को त्याग करने योग्य बताया है । इन दोनों तथ्यों का अलग-अलग संक्षिप्त रूप से वर्णन निम्नलिखित रूप से किया गया है —

पुण्य

मानवीय चारित्र के उज्ज्वल पक्ष को पुण्य कर्म के नाम से अभिहित किया जाता है। जैन परम्परा में जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा निरूपित धर्म की अभिलाषा, मन की शान्ति, निर्वाण में भक्ति, दान तथा दया करने के फल को पुण्य कहा गया है।[3] यह पुण्य सुख का कारण होता है। आचार्य जिनसेनस्वामी ने कहा है कि इस

1- आत्मानुशासन, 23.

2- वही, 239.

3- वरांगचरित्र, 1-5 [जटासिंह नन्दि].

जगत् में पुण्य से सुख मिलता है। जिस प्रकार बीजादि के अभाव में अंकुर नहीं होते उसी प्रकार बिना पुण्य के सुख नहीं मिलता। दान देना, इन्द्रिय-जय, संयम-परिपालन, सत्यभाषण, निर्लोभवृत्ति, परिग्रह त्याग के भाव तथा क्षमा के परिणाम स्वरूप पुण्य की प्राप्ति होती है ।[1]

स्थानांगसूत्र में नौ प्रकार के कर्मों का उल्लेख किया गया है, जिनके परिणाम पुण्य रूप में प्रतिष्ठित होते हैं। उसमें "अन्न-पुण्य" अर्थात् भोजनादि देकर क्षुधार्त की क्षुधा शान्ति करना, "पान-पुण्य" अर्थात् प्यासे को पानी पिलाना, "लयन-पुण्य" यानी निवास स्थान जैसे धर्मशाला आदि का निर्माण करवाना, "शयन-पुण्य" अर्थात् शय्यादान आदि देना, "वस्त्र-पुण्य" अर्थात् वस्त्र दान देना, "मन-पुण्य" अर्थात् मानसिक स्तर से सबके हित की बात सोचना, "वचन-पुण्य" अर्थात् मंगलदायक वाणी का प्रयोग करना, "काय-पुण्य" अर्थात् रोगी, असहाय तथा वृद्ध जनों की सेवा करना तथा "नमस्कार-पुण्य" अर्थात् गुरुजनों आदि पूज्य के नमस्कार से फलित पुण्य आते हैं ।[2]

वस्तुतः जैन परम्पराके अनुसार यह पुण्य ही मनुष्य का सच्चा साथी है। यह हर समय तथा सभी जगहों पर साथ देता है, अर्थात् पुण्य ही मनुष्य का बन्धु धर्म है ।[3] इसी से मानव लौकिक तथा आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति करता है। यद्यपि पुण्य-पाप मानव द्वारा कृतकर्मों का मात्र वर्गीकरण ही है, जो अन्ततः सुकर्म तथा कुकर्म के नाम से जाने जाते हैं ; फिर भी पुण्य कर्म से सुख प्राप्ति के साथ-साथ इसे मोक्ष दायक भी कहा गया है ।[4] कुन्दकुन्दाचार्य ने भी कहा है कि भव्य जीव पुण्य से मुक्ति पद को प्राप्त करते हैं ।[5]

1- महापुराण, 271, सर्ग 16.

2- स्थानांगसूत्र, 9.

3- रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 148.

4- पंचविंशति, पर्व 6, श्लोक 58.

5- प्रवचनसार गाथा, 45.

पाप

पाप का सम्बन्ध मनुष्य के दुष्कर्मों से है । आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने पाप को जीव का वास्तविक शत्रु बताया है ।[1] जैन आगमों में पाप के फल को बताने वाली कथा का नाम "निर्वेजनी" कहा गया है। "धवलाटीका" में कहा गया है कि "पाप के फल की संकथा "निर्वेजनी" है ।[2] पाप के फल को बताते हुए उन्होंने कहा है कि नरक, तिर्यंच, कुमनुष्य के पर्यायों में जन्म, जरा-मरण, व्याधि, वेदना, दरिद्रता आदि की प्राप्ति पाप का फल है ।

"जैन सिद्धान्त" प्रतिपादक "संग्रह" नामक कृति में पाप कर्मों के अट्ठारह प्रकार बताये गये हैं। उनमें क्रमशः प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, अभ्याख्यान, पिशुनता, परपरिवाद, रति-अरति, माया-मृषा तथा मिथ्यादर्शन शल्य आदि का नाम आता है ।[3] उक्त प्रकार के कर्मों का सम्बन्ध मानवीय सदाचार से ही है ।

इस तरह जैन परम्परा में भी पुण्य-पाप के विवेचन का सम्बन्ध मनुष्य के आचार से ही रहा है। आध्यात्मिक पृष्ठभूमि में पुण्य सुख तथा मोक्ष का कारण तथा पाप दुःख तथा नरक का कारण है। वैसे पुण्य-पाप दोनों ही प्रकार के कर्म से संस्कार ही निर्मित होते हैं, जिसके फल को भुगाने हेतु जन्म धारण करना पड़ता है । लेकिन कहीं-कहीं पुण्य से मोक्षादिक की प्राप्ति भी कह कर इसके आध्यात्मिक मूल्य में वृद्धि कर दी गई है। सामान्यतया दार्शनिक विवेचन के आधार पर पुण्य तथा पाप एक दूसरे से भिन्न मात्र मानवीय आधार को लेकर ही हैं। बन्ध की अपेक्षा से दोनों में कोई अन्तर नहीं है ।

1- रत्नकरण्डश्रावकाचार, 148.

2- धवलाटीका , भाग-1, पृ0 105.

3- जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग-3, पृ0 182.

अमृतचन्द्राचार्य एवं उनकी टीका "आत्मख्याति" सम्मत पुण्य-पाप का स्वरूप

अमृतचन्द्राचार्य ने "समयसार" की टीका "आत्मख्याति" में पुण्य-पाप का विवेचन उन्नीस गद्य तथा तेरह पद्य [कलशों] आख्यानों में किया है। आचार्य पुण्य-पाप के विवेचन में एक विशिष्ट दृष्टिकोण अपनाते हैं। उनके दृष्टिकोण में पुण्य तथा पाप बन्ध की अपेक्षा से समान महत्त्व वाले हैं। आचार्य पुण्य एवं पाप को क्रमशः शुभ एवं अशुभ[1] तथा सुशील तथा कुशील की संज्ञा से अभिहित करते हैं। पुण्य-पाप का उदाहरण देते हुए बताया गया है कि जिस प्रकार एक ही शूद्री के गर्भ से उत्पन्न दो पुत्र परिस्थिति विशेष से ब्राह्मण तथा शूद्र के यहाँ अलग-अलग पलते हैं तथा पहला ब्राह्मण के घर में रहकर ब्राह्मण सदृश्य गर्वपूर्ण आचरण करता है तथा दूसरा शूद्र सदृश्य आचरण करता है, लेकिन वास्तविक रूप से दोनों शूद्र पुत्र हैं, केवल अज्ञान से वे ऐसा समझते हैं, उसी प्रकार कर्म के दो भेद हैं - पहला शुभ तथा दूसरा अशुभ ।[2] अनुभव भेद के आधार पर शुभ को सुखरूप तथा अशुभ को दुःख रूप कहा गया है ।[3]

शुभ तथा अशुभ हेतु के बीच "अज्ञान" की अपेक्षा से कोई भेद नहीं है। क्योंकि दोनों का हेतु अज्ञान एक ही है। शुभ तथा अशुभ के भेद को चार प्रकार की शंकाओं की अपेक्षा से कहा गया है -

1. कारण भेद,
2. स्वभाव भेद,
3. अनुभव भेद, एवं
4. आश्रय भेद ।

---

[1] समयसार कलश, 100; पंचास्तिकाय, 132.

[2] वही, 101.

[3] समयसार टीका आत्मख्याति, 145.

कारण भेद से शुभ बन्ध शुभ परिणाम से होता है, उदाहरणार्थ - अरहंतादि में भक्ति का अनुराग, जीवों में अनुकम्पा परिणाम तथा मंद कषाय से चित्त की उज्ज्वलता आदि। इसी तरह अशुभ के हेतु जीव के अशुभ परिणाम हैं, उदाहरणार्थ- तीव्र क्रोधादिक, अशुभलेश्या, निर्दयता, विषयासक्तता तथा पूज्य गुरूजन आदि के प्रति अविनय भाव आदि।

शुभ तथा अशुभ के बीच पौद्गलिक परिणाम के भेद से स्वभाव भेद बताये गये हैं । शुभ द्रव्य कर्म में सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम तथा शुभ गोत्र तथा अशुभ में घातिया कर्म, असातावेदनीय, अशुभ आयु, अशुभनाम तथा अशुभ गोत्र आता है । ये पुद्गल के स्वभाव हैं । अतएव इनके भेद से कर्म में स्वभाव का भेद बताया गया है। इनके उदय से प्राणी को इष्ट-अनिष्ट सामग्री मिलती है।

अनुभव के भेद से शुभ तथा अशुभ का अर्थ क्रमशः सुख रूप स्वाद तथा दुःख रूप स्वाद है। आश्रय भेद से शुभ को मोक्ष मार्ग तथा अशुभ को बन्ध मार्ग कहा गया है, लेकिन यहाँ मोक्ष मार्ग तो केवल जीव का ही परिणाम है तथा बन्ध मार्ग केवल एक पुद्गल का परिणाम है। आश्रय भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए बन्ध मार्ग के आश्रय से भी शुभ तथा अशुभ कर्म एक ही हैं। यहाँ शुभाशुभ भेद पक्ष को गौण करके अभेद पक्ष को प्रधान किया गया है। इस तरह शुभ तथा अशुभ दोनों आपस में भिन्न नहीं हैं ।[1] यहाँ "शुभाशुभौ मोक्ष बन्ध मार्गौ" कहकर शुभ तथा अशुभ को एक ही कोटि प्रदान की गई है ।

पाप तथा पुण्य एक ही कर्म की विशिष्टताओं के प्रतीक हैं। आचार्य लोहे तथा सोने की जंजीर का उदाहरण देते हुए बताते हैं कि जिस प्रकार कैदी के लिए उक्त दोनों ही तरह की जंजीरें समान हैं, उसी तरह पुण्य हो या पाप - दोनों

1- समयसार टीका [आत्मख्याति], 145 ; कलश, 102.

ही तरह के कर्म बन्ध के कारण हैं।[1] आचार्य शुभ तथा अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्मों को "कुशील" की संज्ञा देते हैं तथा बताते हैं कि उक्त प्रकार के कर्म कर्म-बन्ध के कारण हैं।[2]

टीका "आत्मख्याति" में स्पष्ट रूप से राग को बन्ध का कारण बताया गया है। आचार्य हाथी को पकड़ने वाले, हाथी तथा हथिनी का उदाहरण देते हैं कि हाथी फँसाने वाला, फँसाने योग्य भूमि का निर्माण कर वहाँ हथिनी को खड़ा कर देता है। हाथी कामान्ध होकर उससे राग तथा संसर्ग करने को चलताहै। इस प्रकार वह फँस जाता है।[3] इसी तरह मानव अपनी इच्छाओं के अनुरूप फल पाने की अभिलाषा में पुण्य करता है, सत्कर्मों को धारण करता है। उसका राग सहित वह कर्म ही बन्ध का कारण है। आचार्य पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध तथामोक्ष लक्षण को जीव का विकार कहते हैं।[4]

इस तरह आचार्य पुण्य तथा पाप को लौकिक उन्नति तथा अवनति का कारण माना गया है। अमृतचन्द्राचार्य निश्चयनय से पुण्य तथा पाप को समान रूप से संसार का कारण बताते हैं।[5] इन्हीं विचारों के अनुरूप परमात्म प्रकाश में कहा गया है कि जो जीव निश्चय नय से पुण्य तथा पाप दोनों को समान नहीं मानता वह जीव मोह से मोहित हुआबहुत काल तक दुःख सहन करता हुआ संसार में भटकता रहता है।[6]अर्थात् निश्चय नय से पुण्य तथा पाप दोनों तरह के कर्म एक ही कोटि में रखे जाएँगे। आचार्य श्री की कृति "तत्त्वार्थसार" में पुण्य-

---

1- समयसार टीका [आत्मख्याति], 146.

2- वही, 147.

3- वही, 148.

4- वही, 13.

5- तत्त्वार्थसार, 4/104.

6- परमात्मप्रकाश, 2/55.

पाप की विशेषता का प्रतिपादन हेतु तथा कार्य की अपेक्षा से किया गया है। यहाँ शुभ तथा अशुभ भाव को पुण्य तथा पाप का हेतु कहा गया है तथा सुख एवं दुःख को पुण्य तथा पाप का कार्य कहा गया है ।[1]

बन्ध एवं मोक्ष की अपेक्षा से पुण्य-पाप का विवेचन

आचार्य अमृतचन्द्र की टीका "आत्मख्याति" का विवेच्य वस्तु शुद्धात्मा (समयसार) है। यहाँ बन्धन का मूल कारण "रागादिक" को बताया गया है ।[2] इसी रागादि परिणामों से पुद्गल द्रव्य में कर्म रूप परिणमन होता है। इसी कर्म रूप परिणमन का निमित्त पाकर आत्मा में रागादिक भाव उत्पन्न होता है तथा यह बन्धग्रस्त होता है। इस अवस्था में आत्मा अपने स्वाभाविक गुणों से दिग्भ्रमित होता है। मोक्ष की स्थिति में आत्मा अपने स्वगुणों में ही केवल अधिष्ठित रहता है। यहाँ ज्ञान को (स्व तथा पर के भेद ज्ञान तथा स्वभाव में प्रतिष्ठित होने का ज्ञान) मोक्ष का कारण माना गया है ।[3] इसप्रकार पुण्य-पाप कर्म की मात्र विशिष्टताएँ हैं। दोनों तरह के कर्मों के सम्पादन में रागादि भाव समाविष्ट रहते हैं। अतएव "आत्मख्याति" के अनुसार दोनों तरह के कर्म बन्ध के कारण होते हैं ।[4] अहिंसा, सत्य, दत्त, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह - इन पाँचों में अध्यवसाय से पुण्य-बन्ध तथा इसके विपरीत हिंसा, असत्य, अदत्त, अब्रह्मचर्य तथा परिग्रह में अध्यवसाय से पाप-बन्ध होता है ।[5]

बन्ध की अपेक्षा से पुण्य-पाप

अमृतचन्द्राचार्य ने परमार्थ दृष्टि से पुण्य तथा पाप दोनों को विभाव

1- तत्त्वार्थसार, 2/103.

2- आत्मख्याति टीका, 259.

3- वही, 151.

4- वही, 146.

5- वही, 263-264.

रूप परिणमन होने से संसार बन्ध का कारण कहा है ।[1]आचार्य ने "पंचास्तिकाय" की टीका में भी शुभ परिणाम को पुण्य तथा अशुभ परिणाम को पाप कहकर दोनों को बन्ध का कारण कहा है ।[2] पुण्य तथा पाप से सम्बन्धित आस्रव के पुण्यास्रव तथा पापास्रव - दो भेद बताये गये हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, तथा परिग्रह के त्याग करने वाले व्रतों से पुण्यास्रव तथा इन्हें धारण करने वाले कर्मों से पापास्रव होता है ।[3]पुण्य तथा पाप के अलावा और भी जितने कर्म हैं, जिनसे रागादि भावनाएँ उपस्थित होती हैं - वे सभी आस्रव के ही कारण हैं। इस अर्थ में रत्नत्रय भी बन्ध के कारण हैं। उदाहरणार्थ सम्यग्दर्शन तथा संयम से देवायु का आस्रव[4] तथा सम्यग्दर्शन, ज्ञान तथा तप आदि को तीर्थंकर नाम कर्म का आस्रव कहा गया है ।[5] इस तरह रागादि सहित जो भी कर्म सम्पादित होते हैं वे आस्रव तथा बन्ध के ही कारण हैं। पुण्य तथा पाप - दोनों ही तरह के कर्मों में राग रहता है। "प्रवचनसार" की टीका में शुभ भाव [पुण्य] को अपहृतसंयम तथा सराग चारित्र कहा गया है ।[6]इस तरह पाप कर्म तो बन्ध के कारण हैं ही, साथ-साथ पुण्य [शुभ] कर्म भी बन्ध के कारण हैं ।

मोक्ष की अपेक्षा से पुण्य-पाप

अब तक के पुण्य-पाप सम्बन्धी तथ्यों पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि दोनों तरह के कर्म बन्ध के कारण हैं। लेकिन यहाँ प्रश्न यह उठता है कि यदि पुण्य-पाप - दोनों तरह के कर्म बन्ध के कारण हैं तो मोक्ष के लिए

1- समयसार कलश, 101.

2- पंचास्तिकाय टीका [समयव्याख्या], 132.

3- तत्त्वार्थसार, 4/101-102.

4- वही, 4/42-43.

5- वही, 4/49-52.

6- प्रवचनसार की टीका तत्त्वदीपिका, 230.

कौन सा कर्म उचित है? "आत्मख्याति" टीका में शुभाशुभ को आश्रय भेद से मोक्ष-मार्ग एवं बन्ध मार्ग कहा गया है ।[1] प्रवचनसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है कि यदि धर्म से परिणत आत्मा शुभोपयोग युक्त है, तो उसके पुण्य कर्म का आस्रव होता है तथा यदि वह शुद्धोपयोग युक्त रहता है तो वह निर्वाण सुख पाता है ।[2] यहाँ शुद्धोपयोग का तात्पर्य स्व एवं पर के भेद का वास्तविक ज्ञान तथा शुभोपयोग का तात्पर्य धर्म-ध्यान आदि से समझा जा सकता है । अमृतचन्द्राचार्य ने "प्रवचनसार" की टीका में गृहस्थ के शुभोपयोग को विशिष्ट तरीके से व्याख्यायित किया है। उन्होंने बताया है कि गृहस्थ को राग के संयोग से शुद्धात्मा का अनुभव होता है। जिस प्रकार ईन्धन को स्फटिक के सम्पर्क से सूर्य के तेज का अनुभव होता है उसी तरह गृहस्थ के शुभोपयोग को परम निर्वाण के सौख्य से मोक्ष की अनुभूति होती है ।[3]

आचार्य कुन्दकुन्द जीव के शुभ भाव को मोक्ष मार्ग बताते हुए कहते हैं कि जो भव्य जीव उत्तम भक्ति और अनुराग से जिनेन्द्र भगवान् के चरण कमलों को नमस्कार करते हैं, वे उस भक्तिमयी उत्तम शुभ भाव रूप हथियार के द्वारा संसार रूपी बेल को जड़ से खोद देते हैं, अर्थात् संसार का मूल नाश कर देते हैं ।[4] "प्रवचनसार" की टीका में अमृतचन्द्राचार्य भी कहते हैं कि सर्वज्ञ कथित वस्तुओं में उपयुक्त शुभोपयोग का फल पुण्य संचय-पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति है ।[5]

इस तरह पुण्य से भी मोक्ष प्राप्ति होने की पुष्टि अमृतचन्द्र तथा कुन्दकुन्द आदि की कृतियों द्वारा होती है। पाप कर्म बन्ध की अपेक्षा से बन्ध

1- आत्मख्याति, 145.

2- प्रवचनसार, 11.

3- वही, 45.

4- भावपाहुड, 153.

5- प्रवचनसार टीका, तत्त्वदीपिका, 256.

का कारण तथा मोक्ष की अपेक्षा से भी बन्ध का ही कारण है। पाप कर्म अशुभ कर्मों को कहा जाता है, जो व्यवहार तथा परमार्थ दोनों तरह से दुःख का ही द्योतक है। "आत्मख्याति" में आत्मा का उसके स्वरूप में स्थित होना मोक्ष की अवस्था बतलाया गया है। आत्मा रागादि भावों से पर्यायरूप परिणमित होकर बन्ध अवस्था को प्राप्त होती है। इस अर्थ में पुण्य कर्म का यदि साध्य मोक्ष प्राप्त करना मान लिया जाता है तो भी वहाँ मोक्ष के प्रति राग स्पष्ट होताहै। इस तरह पुण्य मोक्ष का कारण नहीं हो सकता है। मोक्ष तो आत्मा का वास्तविक स्वरूप है। वह अज्ञान के कारण रागादि भावों के चलते पर्याय रूप परिणमित होता है। जब उसे स्वभाव तथा पर्याय के भेद का ज्ञान होता है तब अपनी वास्तविक स्थिति की ओर लौटने का प्रयास करता है।

यहाँ व्यवहार नय से पुण्य को कथंचित् उपादेय बताया गया है। निश्चय नय में हेय-उपादेय का कोई विकल्प नहीं होता है। इस तरह पुण्य सुख का कारण हो सकता है। किसी निश्चित अपेक्षा से इसे मोक्ष का कारण कहा जा सकता है, लेकिन नैश्चयिक दृष्टिकोण से आत्मा तथा उसके कर्तृत्व (पुण्य-पाप) से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। व्यवहार से आत्मा कर्ता है। उसके पुण्य कर्म सुख तथा मोक्ष के कारण हैं। जीव अपने स्वगुण "ज्ञान" की स्थिति से बाहर हटकर पर पर्यायों के रूप में परिणमित होता है, तब वह पौद्गलिक कर्मों का कर्ता होता है। उस स्थिति में वह शुभ कर्म करे या अशुभ कर्म - दोनों का फल मात्र सुख या दुःख ही हो सकता है।

पारमार्थिक दृष्टि से स्वभाव गुण में स्थित जीव का पुण्य-पाप से कोई सम्बन्ध नहीं है। टीका में स्पष्ट किया गया है कि जीव के स्वभाव गुण "ज्ञान" से सम्पन्न होने पर व्रत, नियम, शील तप रूप शुभ कर्म विशेष प्रभावी न होते हुए भी उस ज्ञानी को मोक्ष ही प्राप्त कराता है। तथा इसके विपरीत अज्ञानी में उक्त कर्म के होते हुए भी इसे मोक्ष नहीं प्राप्त होता है।[1] तप, व्रत आदि व्या-

---

[1] आत्मख्याति, टीका, 153.

वहारिक क्रियाएँ मोक्ष का कारण नहीं हो सकती हैं। ये मात्र अशुभ से बचाकर शुभता प्रदान कर सकती हैं। मोक्ष ज्ञानमय अन्तस्तत्व के आश्रय से ही प्राप्त होता है।[1] कर्म स्वभाव रूप द्रव्यान्तर का स्वभाव है, अतएव ये शुभाशुभ कर्म मोक्ष का हेतु नहीं है।[2] इस तरह पुण्य तथा पाप दोनों ही कर्मस्वभाव के शुभ-अशुभ या सुख-दुःख पक्ष के द्योतक हैं। इनसे सर्वथा बन्ध ही होता है। इन कर्मों से मोक्ष का होना मात्र व्यावहारिक कथन है।

पुण्य-पाप का नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यांकन

नैतिक दृष्टिकोण से पुण्य तथा पाप शब्द एक दूसरे से विपरीत प्रकार के कर्मों से उद्भूत फल के प्रतीक हैं। सामान्यतया व्यापक अर्थ में नैतिक शब्द का अर्थ उस कर्म से लिया जाता है, जिस पर उचित-अनुचित का विचार किया जा सके। इस अर्थ में पुण्य तथा पाप - दोनों को नैतिक कहा जा सकता है। नैतिक शब्द के विशिष्ट अर्थ के सन्दर्भ में पुण्य-पाप का अर्थ एक-दूसरे से विपरीत है। यहाँ पुण्य को नैतिक तथा पाप को अनैतिक कहा जाता है। पुण्य से सुख की प्राप्ति होती है तथा पाप से दुःख की प्राप्ति होती है। इस प्रकार "पुण्य" उचित कर्म है तो "पाप" अनुचित कर्म। पुण्य-पाप मानवीय आचरण के दो पक्ष हैं। यदि अहिंसा, सत्य, दत्त, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह को पुण्य की कोटि में रखा जाय तो इसके विपरीत हिंसा, असत्य, अदत्त, अब्रह्मचर्य तथा परिग्रह पाप की कोटि में रखे जायेंगे। उक्त दोनों प्रकार के कर्मों का, जो पुण्य-पाप के रूप में विवेचन किया गया है, उन्हें "उचित कर्म" तथा "अनुचित कर्म" की कोटि में रखा जाता है। समयसार की टीका "आत्मख्याति" में भी "पुण्य" तथा "पाप" को क्रमशः "शुभ" तथा "अशुभ" कहा गया है।[3]

1- आत्मख्याति टीका, 156 ; कलश सं0 106.

2- समयसार कलश, 107.

3- आत्मख्याति, गाथा 146 की टीका तथा कलश सं0 100.

इस प्रकार नैतिकता के सन्दर्भ में "पुण्य" उचित तथा शुभ कर्म है ; साथ-साथ "पाप" अनुचित तथा अशुभ कर्म है ।

आध्यात्मिकता के सन्दर्भ में "पुण्य" तथा "पाप" का विशेष महत्व है। प्रथम आध्यात्मिक शब्द के सामान्य अर्थ के सन्दर्भ में पुण्य-पाप का अर्थ एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। पुण्य कर्म सुख तथा स्वर्ग का मार्ग प्रशस्त करता है और इसके विपरीत पाप कर्म दुःख तथा नरक लोक गमन का कारण बनता है। आध्यात्मिक शब्द का द्वितीय अर्थ दार्शनिक है जो आत्मा से सम्बन्धित है। इस अर्थ में पुण्य तथा पाप कर्म सराग होने के कारण एक ही कोटि के हैं। "आत्मख्याति" में इस तरह की पुण्य-पाप की आध्यात्मिक व्याख्या पायी जाती है। यहाँ मानव के लक्ष्य मोक्ष का अर्थ पूर्णरूपेण आत्म-साक्षात्कार से लिया गया है । इस आत्म-साक्षात्कार का उपादान कारण आत्मा है। यह आत्मा परमार्थ से ज्ञानस्वभाव है ।[1] पुण्य तथा पाप अज्ञानावस्था का जीव भाव है। उक्त दोनों ही प्रकार के कर्म, बन्ध के कारण होते हैं ।[2]

इस प्रकार पुण्य तथा पाप के नैतिक एवं आध्यात्मिक विवेचन के आधार पर पुण्य-पाप के मूल्यांकन के रूप में यह कहा जा सकता है कि पुण्य तथा पाप सर्वथा न एक कोटि के हैं न सर्वथा भिन्न-भिन्न कोटि के हैं। पुण्य सर्वथा उपादेय नहीं है। कथंचित् पुण्य-पाप आपस में भिन्न हैं, कथंचित् वे समान हैं। इस प्रकार कथंचित् पुण्य उपादेय है तथा कथंचित् वह अनुपादेय है ।

आत्मख्याति में व्यवहार नय से पुण्य उपादेय है तथा निश्चय नय से अनुपादेय है। नैतिक अर्थ में पुण्य उपादेय है। बन्ध की अपेक्षा से पुण्य-पाप दोनों अनुपादेय हैं, क्योंकि पुण्य-पाप कर्म संसार प्रवेशक कर्म की कोटि में आते हैं ।

1- आत्मख्याति, गाथा 151 की टीका.

2- वही, गाथा 147 की टीका.

इस प्रकार पुण्य तथा पाप नैतिक विचारणा का विषय होते हुए एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। पुण्य कर्म उपादेय है तथा पाप कर्म अनुपादेय है। आध्यात्मिक दृष्टि से भी पुण्य तथा पाप कर्म एक दूसरे के परस्पर विरोधी होते हुए क्रमशः उपादेय एवं अनुपादेय है। लेकिन जैन परम्परा एवं इस परम्परा की महान् कृति समयसार तथा इसकी टीका "आत्मख्याति" का उद्देश्य आत्मा, इसकी विभिन्न अवस्थाओं एवं बन्ध व मोक्ष के सोपानों क्रमशः आस्रव एवं संवर व निर्जरा का विवेचन करना है । इस स्थिति में बन्ध की अपेक्षा से रागादि से सम्पन्न सभी प्रकार के कर्म बन्ध के ही कारण होते हैं। इस अर्थ में पुण्य तथा पाप की कोटि के वर्गीकरण में समस्त प्रकार के कर्मों के आने के कारण पुण्य तथा पाप दोनों ही बन्ध का कारण है। आत्मा का कर्म मात्र अपने स्वभाव में परिणमन करने का है। वह अपने स्वभाव का कर्ता होता है। इससे भिन्न उससे सम्बन्धित सभी प्रकार के कर्म रागादि से युक्त होते हैं। अतएव वे बन्ध के कारण होते हैं। इस तरह "आत्मख्याति" के सन्दर्भ में पुण्य एवं पाप की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि मात्र व्यावहारिक है। पारमार्थिक अर्थ में वे दोनों समान अर्थात् बन्ध के ही कारण है ।

चतुर्थ अध्याय

आस्रव, संवर एवं निर्जरा की अवधारणा

आस्रव : सामान्य परिचय

जैन दर्शन द्वारा मान्य तत्वों की श्रृंखला में आस्रव का महत्वपूर्ण स्थान है। आस्रव की अवस्था में ही जीव विकृत रूप धारण करता है। यह अवस्था जीव की अज्ञानतावश आती है। जीव जब पौद्गलिक कर्मों के उदय से राग-द्वेष एवं मोहादि रूप परिणमित होने लगता है तब वह आस्रव की स्थिति में आ जाता है। दूसरे अर्थ में जीव में जिन भावों से राग, मोहादि रूप परिणमन होता है, वे भाव आस्रवभाव कहे जाते हैं। आचार्य वसुनन्दि ने लिखा है कि जिस प्रकार समुद्र के भीतर छेद वाली नाव में पानी आता है, उसी प्रकार जीव में मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग - इन चार कारणों के द्वारा कर्म आस्रवित होताहै।[1] अन्यथा जीव की प्राकृतिक अवस्था शुद्ध चैतन्य है। उसमें रागादिक भावों के चलते कर्माणुओं का प्रवेश होने लगता है। इस तरह सर्वप्रथम वह रागादिक भाव परिणमन करता है, तत्पश्चात् उसमें कर्माणुओं को अपनी ओर आकर्षित करने की क्रिया चालू होती है। उक्त दोनों अवस्था के आस्रव को प्रकार एवं अवस्था की दृष्टिकोण से दो भागों में विभक्त किया गया है-

1. भावास्रव,
2. द्रव्यास्रव

भावास्रव की अवस्था में जीव में कर्माणुओं की तरफ आकर्षित होने का भाव उत्पन्न होता है, अर्थात् जिन भावों से जीव कर्माणुओं की ओर उन्मुख होता है, उन्हें भावास्रव कहते हैं तथा भावास्रव के बाद जीव में कर्मद्रव्यों का भरना आरम्भ हो जाता है। इस अवस्था को द्रव्यास्रव कहा जाता है ।

"तत्त्वार्थसूत्र" में कहा गया है कि काय, वाङ् और मन की प्रवृत्तियाँ

---

[1] वसुनन्दि, श्रावकाचार, 39.

ही आस्रव है।[1] ये प्रवृत्तियाँ शुभ तथा अशुभ दो प्रकार की होती हैं। शुभ प्रवृत्तियों से पुण्य कर्मास्रव तथा अशुभ प्रवृत्तियों से पापकर्मास्रव होता है ।[2]उक्त सभी प्रवृत्तियों से आत्मा में जो परिस्पंदन होता है, उसे योग कहा गया है ।[3] यही योग आस्रव का समग्र कारण है, क्योंकि इसके अन्तर्गत अनुभवजन्य आत्माओं तथा अर्हताओं– दोनों का ही समावेश होताहै ।[4] इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र में आस्रव के दो भेद बताये गये हैं[5]––

1. ईर्यापथिक,   2. साम्परायिक

कषायरहित जीव के आस्रव को ईर्यापथिक आस्रव कहा जाता है। दूसरे अर्थों में जैसे मनुष्य जो कषायगत प्रवृत्तियों से ऊपर उठ चुके हैं, उनकी क्रियाओं के द्वारा जो आस्रव होता है, वह ईर्यापथिक आस्रव कहा जाता है ।[6] इसको एक उदाहरण द्वारा बताया गया है कि जिस प्रकार धूल का सूखा कण पहले क्षण में सूखे वस्त्र पर लग जाता है, तथा गति के साथ-साथ वह सूखे वस्त्र से अपने-आप अलग हो जाता है, उसी तरह कषायरहित लोगों की क्रियाओं से पहले क्षण आस्रव होता है, लेकिन वह दूसरे क्षण अपने-आप उस सूखे धूल कण के सदृश्य कषायरहित जीव से विलग हो जाता है । साम्परायिक आस्रव जीव के कषाय सहित क्रियाओं से होताहै ।[7] इसका उदाहरण देते हुए बताया गया है कि जिस प्रकार गीले कपड़े पर धूल जमकर बैठ जाती है, उसी प्रकार कषायसहित जीव की क्रियाओं से होने वाला आस्रव उसकी स्थिति तथा अनुभाग बन्ध का कारण होता है ।

1- तत्त्वार्थसूत्र, 6/1-2.

2- वही, 6/3-4.

3- सर्वार्थसिद्धि, 2/26.

4- प्रो० के०सी० सोगानी : ए डा० इन जैनिज्म, पृ० 47.

5- तत्त्वार्थसूत्र, 6/5.

6- तत्त्वार्थसार, 4/7.

7- वही, 4/6.

इस तरह आस्रव ही एक मात्र ऐसा तत्त्व है जो जीव की स्थिति को विकृत बनाता है। वह अपने स्वभाव रूप परिणमन को छोड़कर विभाव रूप परिणमन करने लगता है । जैन तत्त्वों की परम्परा में आस्रव तत्त्व से ही जीव के बन्ध की कथा प्रारम्भ होती है, जिसकी समाप्ति जीव के मोक्ष प्राप्त करने पर होती है।

अमृतचन्द्राचार्य सम्मत समयसार की टीका "आत्मख्याति" का आस्रव विवेचन

अमृतचन्द्राचार्य समयसार टीका में आस्रव का विवेचन प्रारम्भ करते समय उसे पराजित योद्धा के रूप में नृत्य के मंच पर अधिष्ठित करते हैं। टीका के अनुसार आत्मा स्वतः शुद्ध चैतन्य स्वरूप तत्त्व है । इसका विभाव रूप परिणमन अज्ञान के कारण होता है। पुनः जब उसे अपने स्वभाव तथा विभाव का ज्ञान होता है, तब वह पुनः अपने शुद्ध चैतन्य की अवस्था में लौट जाती है । इस तरह आचार्य आस्रव को आत्मा को विकृत कर डालने वाली अवस्था मानते हैं। आस्रव का वह तभी समाप्त होता है, जब जीव ज्ञान भाव की ओर अग्रसर होने लगता है। आरम्भ में आस्रव द्वारा आत्मा में कर्माणुओं का प्रवेश हो जाता है। उस समय आत्मा अपने ज्ञान भाव से सजग नहीं रहती है। इस स्थिति में आस्रव विजेता के रूप में सिद्ध होता है, लेकिन आत्मा में ज्ञान भाव के जागृत होते ही आस्रव का क्षय उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार कपूर में आग के लगने से कपूर का क्षय हो जाता है । टीका में राग-द्वेष, मोह को आस्रव कहा गया है। जीव का इनमें परिणमन होना ही बन्ध है। इस आस्रव के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय तथा योग कारण हैं । इसके अलावा आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने आस्रव के कई अन्य कारणों का भी तत्त्वार्थसार में उल्लेख किया है। वस्तुतः आस्रव तत्त्व का निरूपण टीका में उसके निरोध के दृष्टिकोण से किया गया है। बताया गया है कि आस्रव अज्ञानी के ही होते हैं।[1] आचार्य के अनुसार जीव अज्ञान से कर्मोदयज भावों को अपना मान कर उसे निजभाव बना लेता है। इस अज्ञान का मूल रागादि है। राग-द्वेष, मोह से रहित ज्ञान से

1- समयसार टीका [आत्मख्याति], 164-165.

आस्रवों का अभाव होता है ।[1]

इस तरह आत्मा की अज्ञानावस्था में आस्रव का प्रभाव होता है । समयसार टीका शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा की सत्ता को अपने चिन्तन का केन्द्र-बिन्दु बनाते हुए अन्य तत्वों का भी वर्णन करती है। आत्मा की शुद्धावस्था ही उसकी मुक्तावस्था है। आस्रव क्षणिक तथा व्यावहारिक क्रिया है। वस्तुतः जब तक आत्मा अपने स्वभाव ज्ञान से च्युत रहता है, तब तक ही आस्रव का व्यापार चलता रहता है, तथा वह बन्धनग्रस्त होता है।

आस्रव के कारण

जीव में कर्माणुओं का आस्रव ही बन्ध का मूल कारण है। आचार्य अमृतचन्द्रसूरि कृत समयसार टीका में बताया गया है कि आत्मा के अज्ञानभाव ही आस्रव के कारण हैं। इस अज्ञान भाव के कारण - मिथ्यात्व, अविरति, कषाय तथा योग हैं । इन्हें ज्ञानी से भिन्न अचेतन पुद्गल द्रव्य के परिणाम होने से पृथ्वी के पिण्ड के समान कहा गया है ।[2] राग-द्वेष, मोह से रहित ज्ञान युक्त जीव सभी द्रव्यास्रवों को रोकता हुआ सभी भावास्रवों का अभाव स्वरूप है। शुद्ध चैतन्यावस्था जीव का स्वभाव है। इस स्थिति में किसी तरह का भावास्रव या द्रव्यास्रव नहीं होता । इस तरह "समयसार" टीका [आत्मख्याति] में सभी जगह यही स्पष्ट किया गया है कि आस्रवभाव जीव के अज्ञानावस्था की ही देन है। अज्ञानी जीव अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप स्वभाव को भूलकर राग-द्वेष-मोह रूपी अचेतन भावों को ग्रहण करता है, जो आस्रव के कारण होते हैं । आचार्य अमृतचन्द्रसूरि अपनी एक स्वतन्त्र कृति "तत्त्वार्थसार" के चतुर्थ अधिकार में आस्रव तत्त्व का विवेचन करते हैं। इसमें आस्रव के भेदों तथा कारणों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है । इसके अनुसार आस्रव के दो भेद बताये गये हैं - ईर्यापथिक तथा साम्परायिक ।

1- समयसार कलश, 114.

2- समयसारटीका आत्मख्याति, 196.

3- समयसार कलश, 14.

साम्परायिक आस्रव के कारण स्वरूप चार कषाय, पाँच इन्द्रिय, पाँच अव्रत तथा पच्चीस क्रियाओं का उल्लेख है ।[1] अर्थात् क्रोध, मान, माया तथा लोभ - ये चार कषाय, पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच अव्रत - हिंसा, असत्य-भाषण, चोरी, मैथुन तथा संग्रह के साथ-साथ पच्चीस क्रियाएँ साम्परायिक आस्रव के कारण हैं । ये पच्चीस क्रियाएँ निम्नलिखित हैं —

सम्यक्त्व क्रिया - यह क्रिया चैत्य, गुरु तथा शास्त्र की पूजा आदि रूप सम्यक्त्व बढ़ाती है। मिथ्यात्व क्रिया - यह क्रिया अन्य देवताओं को नमस्कारादि मिथ्यात्व का भाव बढ़ाती है। प्रयोग क्रिया - यह क्रिया शरीर आदि के माध्यम से गमनागमनादि रूप प्रवृत्ति करती है । समादान क्रिया - संयमी जीव का फिर से असंयम की ओर सम्मुख होना समादान क्रिया है । ईर्यापथ क्रिया - ईर्यापथ की कारण भूत क्रिया ईर्यापथ क्रिया है । प्रादोषिकी क्रिया - क्रोध के आवेश में होने वाली क्रिया प्रादोषिकी क्रिया है । कायिक क्रिया - दुष्टभावयुक्त होकर उद्यम करना कायिक क्रिया है । आधिकरणिकी क्रिया - हिंसा के उपकरण आदि को उठाना आधिकरणिकी क्रिया है । पारितापिकी क्रिया - किसी को ऐसा शब्द कह देना जिससे दूसरे को संताप हो, वह पारितापिकी क्रिया है । प्राणातिपातिकी क्रिया - प्राण घात रूप प्रवृत्ति करना प्राणातिपातिकी क्रिया है । दर्शन क्रिया - राग से प्रवृत्त होकर किसी स्त्री आदि के रमणीयरूप का दर्शन करना दर्शन क्रिया है। स्पर्शन क्रिया - प्रमाद से प्रेरित होकर स्त्री आदि के स्पर्श करने का भाव होना स्पर्शन क्रिया है । प्रात्ययिकी क्रिया - किसी स्त्री आदि के विश्वासपात्र बनना या नये-नये अधिकरणों से उसके हृदय में अपनी जगह बनाना प्रात्ययिकी क्रिया है । समन्तानुपात क्रिया - स्त्री-पुरुषों के आने-जाने आदि के स्थान में मलोत्सर्ग करना समन्तानुपात क्रिया है । अनाभोग क्रिया - अनजाने भूमि पर उठना-बैठना अनाभोग क्रिया है । स्वहस्त क्रिया - दूसरे द्वारा किये जाने योग्य कार्य को लोभवश स्वयं कर डालना स्वहस्त क्रिया है । निसर्ग क्रिया - पापादि में प्रवृत्त करने के लिए सलाह देना निसर्ग क्रिया है । विदारण क्रिया - दूसरे के

1- तत्त्वार्थसार, 4/8.

दाय कार्य को प्रकाशित करना विदारण क्रिया है। **आज्ञाव्यापादिकी क्रिया**- अपनी अक्षमता के कारण आगम की आज्ञा का अन्यथा निरूपण करना आज्ञाव्यापादिकी क्रिया है। **अनाकांक्षा क्रिया** - धूर्तता एवं आलस्य के चलते आगम प्रतिपादित क्रियाओं के प्रति अनादर करना अनाकांक्षा क्रिया है। **प्रारम्भ क्रिया** - छेदना, भेदना तथा क्रियाओं में स्वयं तत्पर होना तथा दूसरे को करने हेतु प्रोत्साहित करना प्रारम्भ क्रिया है। **पारिग्राहिकी क्रिया** - ऐसी क्रियाएँ जो परिग्रह की रक्षा हेतु की जाती हैं, वह पारिग्राहिकी क्रिया कहलाती है। **माया क्रिया** - ज्ञान, दर्शन आदि के विषय में छल रूप प्रवृत्ति करना माया क्रिया है। **मिथ्यादर्शन क्रिया** - किसी मिथ्यादर्शन के साधनों से युक्त पुरुष की प्रशंसा कर उसे मिथ्यात्व में दृढ़ करना मिथ्यादर्शन क्रिया है। **अप्रत्याख्यान-क्रिया** - संयमघाती कर्म का उदय होने से त्याग रूप परिणाम नहीं होना अप्रत्याख्यान क्रिया है।

इसके अलावा जैन परम्परा में कर्मप्रकृति के आठ प्रकार तथा एक सौ अठावन् [158] उपप्रकार का विवरण है। आठ प्रकार के कर्मों में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र तथा अन्तराय आते हैं।[1] "तत्त्वार्थसार" में सभी प्रकार के कर्मों के आस्रव के कारण बताये गये हैं, जो इस प्रकार हैं--

1. ज्ञानावरण कर्म के आस्रव हेतु

मात्सर्य, अन्तराय, प्रदोष, निह्नव, ज्ञान का आसादन, उपघात, आगम विरुद्ध बोलना, अनादर पूर्वक अर्थ का सुनना, आलस्य, शास्त्र बेचना, अपने को बहुज्ञानी मानकर मिथ्या उपदेश देना, अकाल में अध्ययन करना, आचार्य एवं उपाध्याय के प्रतिकूल चलना, धर्म के आम्नाय में रुकावट डालना, बहुज्ञानी जीवों का तिरस्कार करना और ज्ञानाध्ययन की कुशलता से धूर्तता का व्यवहार करना -

---

[1] एस0 गोपालन : हिन्दी अनुवाद गुणाकरमुले : जैन दर्शन की रूपरेखा, पृ0 153.

ये सब ज्ञानावरण कर्म के आस्रव के हेतु हैं ।[1] यहाँ मात्सर्य का अर्थ ईर्ष्यावश किसी विज्ञान को दूसरों तक नहीं देना है ; यद्यपि उस ज्ञान को देने की क्षमता तथा उस ज्ञान में दिए जाने की योग्यता वर्तमान है। अन्तराय का अर्थ ज्ञान का विच्छेद करना है । प्रदोष का तात्पर्य मोक्ष के साधन रूप तत्त्वज्ञान के उपदेश के प्रति बहिरङ्ग [मुख से] विरोध न करते हुए अन्तरङ्ग में उसके प्रति दुष्टभाव रखना है। निह्नव का अर्थ ज्ञान को छिपाना है। किसी ज्ञान को नहीं जानने अथवा निषेधात्मक शैली से बताने को, जिसका उद्देश्य ज्ञान को नहीं बताना हो - यह निह्नव है । आसादन का तात्पर्य दूसरे के द्वारा प्रकाश में आने वाले ज्ञान का शरीर तथा वचन से निषेध करना है। उपघात का अर्थ निर्दोष ज्ञान में दूषण लगाना है ।

2. दर्शनावरण कर्म के आस्रव हेतु

इस आस्रव के हेतु में दर्शन के विषय में अन्तराय, प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, उपघात तथा आसादन करना, नेत्रों को उखाड़ना, बहुत काल तक सोना, दिन में सोना, नास्तिकता का भाव रखना, सम्यग्दृष्टि जीव में दूषण लगाना, कुगुरुओं की प्रशंसा करना और समीचीन तपस्वी - गुरुओं से ग्लानि करना आता है ।[2]

3. वेदनीय कर्म के आस्रव हेतु

वेदनीय कर्म के दो भेद हैं - असातावेदनीय कर्म तथा सातावेदनीय कर्म । दोनों प्रकार के कर्मों के आस्रव के हेतु अलग-अलग हैं । असातावेदनीय कर्म के आस्रव के हेतु में पराये, अपने तथा दोनों में स्थित दुःख, शोक, बन्ध, ताप, क्रन्दन, और परिदेवन तथा दूसरों की चुगली, छेदना, भेदना, ताड़ना, दमन करना,

---

[1] तत्त्वार्थसार, 4/13-16.

[2] वही, 4/17-19.

डाँटना, झिड़कना, शोकना (अपराध का विचार किए बिना), घात करना, पाप कार्यों से जीविका करना, कुटिल स्वभाव रखना, शस्त्र देना, विश्वासघात करना, विष मिलाना, साँकल, जाल, पाश, रस्सी तथा जाल आदि का बनाना, धर्म का विध्वंस करना, धर्म के कार्यों में विघ्न डालना, तपस्वी जनों की निन्दा करना और शील व्रत से च्युत करना आता है ।[1]

सातावेदनीय कर्म के आस्रव के हेतु में दया, दान, तप, शील, सत्य, इन्द्रिय दमन, क्षमा, वैयावृत्य, विनय, जिनपूजा, सरलता, सराग संयम, संयमासंयम, भूतानुकम्पा और व्रत्यनुकम्पा आता है ।[2]

4. मोहनीय कर्म के आस्रव हेतु

मोहनीय कर्म के मुख्य रूप से दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय दो भेद हैं। दर्शन मोहनीय कर्म के आस्रव हेतु में केवली, श्रुत, संघ, धर्म, देव तथा तीर्थंकरों का भी अवर्णवाद करना, मार्ग में दोष लगाना तथा उन्मार्ग मिथ्यामार्ग का उपदेश देना आता है ।[3] चारित्रमोहनीय कर्म के आस्रव हेतु में कषायों के उदय से उदित जो तीव्र परिणाम होता है, वही आता है ।[4] जैसे क्रोध से किसी को मार देना आदि ।

5. आयु कर्म के आस्रव हेतु

आयु कर्म के चार भेद हैं। इसके अनुसार नरकायु, तिर्यन्चआयु, मनुष्यायु, तथा देवायु कर्म के आस्रव के हेतु अलग-अलग बताये गये हैं। नरकायु के आस्रव के कारणों में तीव्र मान करना, पाषाण रेखा के समान, तीव्र क्रोध करना, मिथ्यात्व-धारण करना, तीव्र लोभ करना, निरन्तर निर्दयता का भाव रखना, सदा जीव

1- तत्त्वार्थसार, 4/20-24.

2- वही, 4/25-26.

3- वही, 4/27-28.

4- वही, 4/29.

घात करना, निरन्तर झूठ बोलना, सदा परधन हरण करना, निरन्तर मैथुन सेवन करना, हमेशा काम-भोग सम्बन्धी अभिलाषाओं को अधिक बढ़ाना, जिनेन्द्र भगवान् में दोष लगाना, जिनागम का खण्डन करना, बिलाव-मुर्गा आदि पापी जीवों का पोषण करना, शीलरहित होना, बहुत आरम्भ और परिग्रह रखना, कृष्णलेश्यारूप परिणति करना तथा चार प्रकार का [हिंसानन्द, मृषानन्द, स्तेयानन्द, परिग्रहानन्द] रौद्र ध्यान करना आता है ।[1]

तिर्यञ्चआयु के आस्रव के कारणों में शीलरहित होना, व्रतरहित होना, मिथ्यात्व धारण करना, दूसरों को ठगना, मिथ्यात्व से युक्त धर्मों का उपदेश देना, कृत्रिम अगुरु, कपूर और केशर का बनाना, झूठे नाप-तौल के बाँट-तराजू तथा कूट आदि का चलाना, नकली सुवर्ण तथा मोती आदि का बनाना, वर्ण, गन्ध, रस आदि को बदलकर अन्य रूप देना, छाँछ, दूध तथा घी आदि में अन्य पदार्थों का मिलाना, वाणी तथा क्रिया द्वारा दूसरों की विषयाभिलाषा को उत्पन्न करना, कापोत तथा लेश्या से युक्त होना, तीव्र आर्तध्यान करना और मायाचार करना आता है ।[2] मनुष्यायु के आस्रव के कारणों में अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह के साथ परिणामों में सरलता रखना, स्वभाव से कोमल होना, गुरुपूजन का स्वभाव होना, अल्पसंक्लेश का होना, दान देना और प्राणिघात से दूर रहना आता है ।[3]

देवायु कर्म के आस्रव के हेतु के रूप में अकाम निर्जरा, बालतप, मन्दकषायता, समीचीन धर्म का सुनना, दान देना, देव-गुरु धर्म तथा इनके सेवक इन छः आयतनों की सेवा करना, सरागसंयम, सम्यक्त्व और देशसंयम आता है ।[4]

1- तत्त्वार्थसार, 4/30-34.

2- वही, 4/35-39.

3- वही, 4/40-41.

4- वही, 4/42-43.

6. नाम कर्म के आस्रव हेतु

नाम कर्म में अशुभ, शुभ तथा तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव के कारणों का वर्णन मिलता है। अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारणों में मन, वचन, काय की कुटिलता, विसंवाद करने का स्वभाव, मिथ्यात्व, झूठी गवाही देना, चुगली करना, चित् को अस्थिर रखना, विष के प्रयोग, ईंट पकाना तथा दावाग्नि-वन में आग लगाने की प्रवृत्ति चलाना, मन्दिर सम्बन्धी उद्यान के भवन का विनाश करना, प्रतिमा को चढ़ाने योग गन्ध, माला तथा धूप आदि की चोरी करना, अत्यन्त तीव्र कषाय करना, पाप कार्यों से जीविका करना, कठोर और असह्य वचन बोलना तथा सौभाग्य वृद्धि के लिए वशीकरण आदि उपायों को मिलाना आता है ।[1] अशुभ नाम कर्म में आस्रव के कारणों में निरन्तर संसार से भयभीत रहना, सहधर्मी जनों के साथ विसंवाद विरोध नहीं करना और योगों की सरलता रखना आता है ।[2] तीर्थंकरनाम कर्म के आस्रव के सोलह कारण बताये गये हैं। वे हैं - सम्यग्दर्शन की उत्कृष्ट विशुद्धता, शक्ति के अनुसार किए हुए तप और त्याग, मार्ग प्रभावना, विनयसंपन्नता, शील एवं व्रतों में अतिचार नहीं लगाना, निरन्तर संसार सम्बन्धी दुःखों से भयभीत रहना, निरन्तर ज्ञानमय उपयोग रखना, साधु-समाधि-मुनियों के तपश्चरण में बाधा आने पर उसे दूर करना, वैयावृत्य, छः आवश्यकों के करने में न्यूनता नहीं करना, प्रवचनभक्ति, आचार्य भक्ति, अर्हद्भक्ति, बहुश्रुत भक्ति और प्रवचन वात्सल्य, सहधर्मीजनों के साथ स्नेह भाव रखना ।[3]

7. गोत्र कर्म के आस्रव हेतु

गोत्र कर्म में नीच तथा उच्च गोत्र के आस्रव के कारण बताये गये हैं। नीच गोत्र के आस्रवों में अपने अविद्यमान गुणों का कथन करना, दूसरे के विद्यमान गुणों को छिपाना, अपनी प्रशंसा करना तथा दूसरों की निन्दा करना आता है।[4]

1- तत्त्वार्थसार, 4/44-47.

2- वही, 4/48.

3- वही, 4/49-52.

4- वही, 4/53.

उच्च गोत्र कर्म के आस्रवों में नम्रवृत्ति, अहंकार का अभाव तथा पूर्व वर्णन किए गए भिन्न-भिन्न कर्मास्रवों के हेतु के विपरीत कारण हैं, जो सर्वज्ञ भगवान् द्वारा बताए गए हैं।[1]

8. अन्तराय कर्म के आस्रव हेतु

अन्तराय कर्म के आस्रव के कारणों में तपस्वी, गुरु तथा प्रतिमाओं की पूजा न करने की प्रवृत्ति चलाना, अनाथ, दीन तथा कृपण मनुष्यों को भिक्षा आदि देने का निषेध करना, वध-बन्धन तथा अन्य प्रकार की रुकावटों के साथ पशुओं की नासिका आदि का छेद करना, देवताओं को चढ़ाये हुए नैवेद्य को प्रमाद से ग्रहण करना, निर्दोष उपकरणों का परित्याग करना, (जिन पीछी या कमण्डल आदि उपकरणों में कोई खराबी नहीं आई है उन्हें छोड़कर नये ग्रहण करना), जीवों का घात करना, दान-भोग-उपभोग आदि में विघ्न करना, ज्ञान का प्रतिषेध करना - स्वाध्याय या पठन-पाठन का निषेध करना तथा धर्मकार्यों में विघ्न डालना आता है।[2]

इस तरह तत्त्वार्थसार में आचार्य अमृतचन्द्र ने विभिन्न प्रकार के कर्मों से होने वाले आस्रवों के कारणों का वर्णन किया है। अमृतचन्द्र के टीका ग्रन्थ "आत्मख्याति" में सभी प्रकार के कर्मों के आस्रव के कारण के रूप में "भेद ज्ञान का अभाव" या "अज्ञान" का विवेचन किया गया है।

आस्रव : बन्ध का मूल कारण

जैन परम्परा में आस्रव को बन्ध का मूल कारण माना गया है। आस्रव से निवृत्त होते ही आत्मा विज्ञानघन स्वभाव हो जाता है।[3] आस्रव प्रवृत्तियों का ज्यों-ज्यों आत्मा में समावेश होने लगता है, वैसे-वैसे आत्मा बन्ध की ओर

---

[1] तत्त्वार्थसार, 4/54.
[2] तत्त्वार्थसार, 4/55-58.
[3] समयसार टीका आत्मख्याति, 74.

आस्रव होता है। अमृतचन्द्राचार्य कृत "समयसार" टीका में "ज्ञान" शब्द पर सदैव बल दिया गया है। यहाँ ज्ञान स्वभाव उपयोग के विपरीत अज्ञानमय भाव ही आस्रवभाव है । समयसार टीका (आत्मख्याति) में राग-द्वेष एवं मोह को आस्रव कहा गया है। ये आस्रव प्रवृत्तियाँ मिथ्यात्व, अविरति, कषाय तथा योग के कारण उत्पन्न होती हैं ।[1] टीका में बन्ध के कारणों में राग-द्वेष मोहादि का जीव में अज्ञानभाव से प्रविष्ट होना बताया गया है । बन्ध का यथार्थ कारण मिथ्यादृष्टि पुरुष का राग-द्वेष, मोहादि को उपयोग में करना है । इस तरह उक्त भाव आस्रव हैं जो बन्ध के कारण होते हैं ।[2] इन्हीं राग, द्वेष तथा मोह की समष्टि से आत्मा में कर्म करने की प्रेरणा मिलती है। अतएव यहाँ राग, द्वेष तथा मोह आस्रव के निमित्त जो अज्ञानमय भाव हैं, वही कर्म बन्ध का कारण है।[3]

अमृतचन्द्राचार्य बताते हैं कि ज्ञानी जीव में राग, द्वेष तथा मोह का अभाव रहता है। यही कारण है कि ज्ञानी जीव को कभी बन्ध नहीं होता है। इस तरह बताया गया है कि वास्तव में राग-द्वेष तथा मोह ही बन्ध का कारण है ।[4] आस्रव ही ऐसा कारण है, जिसके द्वारा आत्मा के सन्दर्भ में कर्माणुओं का आगमन होता है। जिन भाव कारकों से कर्माणुओं का आत्मा की ओर खिंचाव होता है, वह भावास्रव हैं तथा जिन द्रव्य कारकों से कर्माणुओं का आत्मा में प्रवेश होता है, वह द्रव्यास्रव है। पहले आत्मा में भावास्रव होता है, तत्पश्चात् द्रव्यास्रव। द्रव्यास्रव से आत्मा को पूर्ण बन्ध होता है। इसप्रकार "समयसार" टीका "आत्मख्याति" में बन्ध का कारण अज्ञान ही बताया गया है ।

संवर: सामान्य परिचय

"संवर" जैन दर्शन का चौथा तत्व है। संवर तत्व से ही जीव की मोक्ष यात्रा की शुरुआत होती है। संवर शब्द आस्रव शब्द का ठीक विपरीत शब्द है ।

1- समयसार टीका आत्मख्याति, 164.

2- वही, 237-241.

3- वही, 167.

4- समयसार कलश, 119.

उमास्वामी ने आस्रव निरोध को संवर कहा है ।[1] जीव की विकृत अवस्था को समाप्त करने हेतु आत्मा की ओर से कर्माणुओं के बहाव को रोकना ही संवर है। संवर के सम्बन्ध में आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने कहा है कि जिस तरह तालाब में आने वाले जल के सभी दरवाजों को बन्द कर देने पर तालाब में जल का आना बन्द हो जाता है, उसी प्रकार योगादि आस्रवों को सर्वतः अवरुद्ध कर देने से संवृत आत्मा के प्रदेशों में कर्म द्रव्य का प्रवेश नहीं होता है ।[2] अमृतचन्द्राचार्य ने बताया है कि संवर के हेतु के सम्भव होने से आत्मा में जो आस्रव का निरोध होता है, वही जिनेन्द्र भगवान् द्वारा संवर कहा गया है ।[3] आचार्य वसुनन्दि ने लिखा है कि सम्यग्दर्शन, व्रत और क्रोधादि कषायों के निग्रह रूप गुणों के द्वारा तथा योग निरोध से कर्मों का रुकना संवर है ।[4]

द्रव्यसंग्रह में संवर के दो भेद बताये गये हैं[5]- {1} द्रव्य संवर, {2} भाव-संवर । आस्रव की भाँति संवर भेदों के क्रम में भाव संवर का स्थान प्रथम होता है। सर्वप्रथम आत्मा में कर्मास्रवों को रोकने हेतु जो स्वभावगत ज्ञानात्मक भाव होते हैं वे भाव संवर कहे जाते हैं। इस स्थिति में आत्मबोध के परिणाम स्वरूप आत्मा के अज्ञानजनित भावों का क्षय होता है। यही भाव संवर द्रव्य संवर का मार्ग प्रशस्त करता है। इस स्थिति में आत्मा की विकृत मनोदशाओं के अभाव में कर्मास्रव का बहना बिल्कुल बन्द हो जाता है ।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत समयसार की टीका "आत्मख्याति" का संवर विवेचन

समयसार टीका में अमृतचन्द्राचार्य ने आस्रव को अनादिकालीन माना

1- तत्त्वार्थसूत्र, 9/1.

2- डॉ0 लाल चन्द्र जैन : जैन दर्शन में आत्म-विचार, पृ0 244.

3- तत्त्वार्थसार, 6/2.

4- वसुनन्दि श्रावकाचार, 42.

5- द्रव्यसंग्रह, 34.

है। संवर तत्त्व आस्रव का विरोधी तत्त्व है। आस्रव का विनाश भेदज्ञान से सम्भव है। भेदज्ञान रूपी चिन्मय ज्योति ही कर्म-नोकर्म रूप पुद्गल द्रव्य से तथा उनके निमित्त से जायमान रागादिक विभावों से आत्मा को पृथक् करती है। इस तरह आत्मा के स्वभाव में होने से संवर होता है।[1] इस तरह आत्मा के स्वभाव रूप परिणमन की स्थिति में आस्रव का होना रुक जाता है, तथा संवर की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। आस्रव अनादिकालीन है, तथा इसे ध्वस्त करने वाला संवर है, जो अनादिकालीन नहीं है। अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं कि जो पुरुष धारावाही ज्ञान से आत्मा का अनुभव करता है, उसके आस्रव का निरोध हो जाता है। इसके विपरीत जो अज्ञान से अशुद्ध आत्मा का अनुभव करते हैं वे कलुषित हैं, उनका आस्रव कभी नहीं रुकता।[2]

इस तरह आचार्य ने स्पष्ट किया है कि आत्मा अपने अशुद्धावस्था में कर्म के साथ एकत्व का आभास करने लगती है। इस एकत्व के आभास से जीव अपने को मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति तथा योग रूप मानने लगता है, जिससे अध्यवसान होता है। अध्यवसान से ही राग, द्वेष, मोह रूप आस्रव भाव होते हैं। ज्ञान से ये अध्यवसान नहीं होते हैं तथा जीव के आस्रव भाव समाप्त हो जाते हैं। आस्रव के रुकने से संवर होताहै। इस तरह आचार्य अमृतचन्द्र कृत समयसार टीका की संवर की अवधारणा पर विचार करने से ऐसा दृष्टिगत होता है कि यहाँ अन्य टीकाओं एवं कृतियों की तरह संवर का अर्थ तो किया गया है, लेकिन संवर हेतु उपाय के सम्बन्ध में जैन परम्परा की अन्य कृतियों से भिन्न विचार प्रकट किया गया है। संवर हेतु जिन साधनों का प्राविधान जैन कृतियों में किया गया है, उसका केन्द्रीय लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति ही है। समयसार टीका के अनुसार निश्चयनय से आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप ही है। व्यवहार से इसका बन्ध तथा मोक्ष होता है। इस मोक्ष के सन्दर्भ में संवर एवं निर्जरा तत्त्व का विवेचन होताहै। आत्मा की स्वभाव स्थिति में संवर एवं निर्जरा का स्थान है तथा यह मोक्ष रूप स्थिति की ओर अग्रसर होता है।

1- समयसार कलश, 125.

2- समयसार गद्य टीका (आत्मख्याति), 186.

संवर हेतु उपाय

आस्रव के बहाव के बन्द होने की क्रिया संवर कही जाती है। "आत्मख्याति" में भी संवर को आस्रव का विरोधी तत्व माना गया है ।[1] संवर के उपाय के निमित्त ज्ञान या आत्मस्वभाव को ग्रहण किया गया है । जीव सम्यग्दृष्टि से अपने शुद्धावस्था को प्राप्त होता है। इस स्थिति में तत्वज्ञान, स्वभाव में रहने के कारण उसमें ज्ञानमय भाव ही रहते हैं। इस ज्ञानमय भाव के कारण नवीन कर्मास्रव के निमित्तभूत, राग-द्वेष, मोह का क्षय हो जाता है। इस तरह जीव संवर को प्राप्त होता है। आचार्य कलश में यह बताते हैं कि शुद्धात्म तत्व की प्राप्ति से साक्षात् संवर होता है ।[2] शुद्ध आत्मा के कर्म न तो आस्रव हैं न उनसे कोई फल ही मिलता है। यहाँ कहा भी गया है कि ज्ञानी मनुष्य क्रियाओं का सेवन करने पर भी उसके फल को प्राप्त नहीं होता है ।[3] क्योंकि राग-द्वेष भाव से किसी कर्म का सम्पादन ज्ञानी पुरुष द्वारा नहीं होता। इस तरह समयसार टीका में संवर हेतु भी ज्ञान अर्थात् तत्व ज्ञान का वर्णन किया गया है ।

अमृतचन्द्राचार्य अपनी अलग कृति "तत्वार्थसार" में संवर के विभिन्न उपायों का वर्णन करते हैं। "तत्वार्थसार" के अनुसार आस्रव रोकने वाले कारकों को संवर हेतु उपाय के नाम से जाना जाता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने संवर के हेतु सात क्रियाओं का वर्णन किया है। ये हैं - गुप्ति, समिति, धर्म, परीषहजय, तप, अनुप्रेक्षा तथा चारित्र[4] इन सातों का वर्णन निम्नलिखित है --

1. गुप्ति

योगों को अच्छी तरह निग्रह करना गुप्ति है।[5] मन, वचन एवं काय की क्रियाओं के आत्मा से संयोग को योग कहा जाता है। अतः मन, वचन तथा

---

[1] समयसार कलश, 125.

[2] वही, 129.

[3] वही, 135.

[4] तत्वार्थसार, 6/3.

[5] वही, 6/4.

काय की क्रियाओं का निरोध करना गुप्ति है । गुप्ति का तात्पर्य आत्मा को मन, वचन तथा काय की कुप्रवृत्तियों से रक्षा करना है। गुप्ति से संवर का सम्भव होना माना जाता है। "सर्वार्थसिद्धि" में भी कहा गया है कि संक्लेशरहित योगों के निरोध से कर्मास्रव रुक जाता है। अतएव गुप्ति से संवर होना सिद्ध है ।[1]आचार्य अमृतचन्द्र ने बताया है कि गुप्ति से मुनि के योगों का निग्रह हो जाता है। ऐसा होने पर योगनिमित्तक आस्रव का अभाव हो जाता है, जिसके कारण शीघ्र ही संवर होता है ।[2] अमृतचन्द्राचार्य ने गुप्ति के तीन भेदों का उल्लेख किया है - मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, तथा कायगुप्ति।[3] इस भेद का वर्णन जैन परम्परा की अन्य कृतियों में भी उपलब्ध है ।[4]

2. समिति

गुप्ति के बाद समिति का नाम आता है। गुप्ति का सदैव पालन होना सम्भव नहीं होताहै। इस स्थिति में कर्मास्रव को रोकने हेतु समिति का पालन करना चाहिए। समिति का तात्पर्य पीड़ा के परिहार हेतु सम्यक् प्रकार से प्रवृत्त होना है ।[5] आगमों द्वारा मान्य क्रियाओं में सम्यक् रूप से प्रवृत्ति होना समिति है । इसके पाँच भेद बताये गये हैं[6] - ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण तथा उत्सर्ग।

(क) ईर्यासमिति - मार्ग, प्रकाश, उपयोग तथा उद्देश्य की शुद्धिपूर्वक आगमोक्त विधि से गमन करने वाले मुनि, की ईर्यासमिति मानी गई है ।[7] इसमें मुनि को अपने पथ में चार हाथ आगे देखकर चलने की आगमोक्त आज्ञा आदि आता है।

1- सर्वार्थसिद्धि, 9/4.

2- तत्त्वार्थसार, 6/5.

3- वही, 6/4.

4- तत्त्वार्थवार्तिक, 9/4/4.

5- वही, 9/2/2 ; सर्वार्थसिद्धि, 9/2.

6- तत्त्वार्थसार, 6/6.

7- वही, 6/7.

{ख} भाषा समिति - भाषा समिति में हित-मित-प्रिय वचन बोलना आता है। मुनि के आगमोक्त असत्यादि से रहित, सत्य तथा अनुभय वचनों का बोलना भाषा समिति है ।[1]

{ग} एषणासमिति - तत्वार्थसार में बताया गया है कि जो उद्गम तथा उत्पादन आदि दोषों का बचाव करते हुए, भोजन, पीछी, कमण्डलु आदि उपकरणों और शय्या की शुद्धि रखते हैं, ऐसे मुनि को निर्दोष एषणासमिति होती है ।[2] इस तरह विधि पूर्वक निर्दोष आहार आदि लेना एषणासमिति है ।

{घ} आदाननिक्षेपणसमिति - इसमें सहसा दृष्टि यानी अचानक तथा जल्द देखना, दुर्मृष्ट यानी बुरी तरह परिमार्जन करना तथा अप्रत्यवेक्षण - देखना ही नहीं, इन दोषों से रहित क्रियाएँ मुनि के आदाननिक्षेपण समिति कही जाती है।[3]

{ङ.} उत्सर्ग समिति

इसमें उक्त सहसा दृष्टि, दुर्मृष्ट तथा अप्रत्यवेक्षण दोषों से रहित होकर प्रासुक भूमि पर छोड़ने योग्य मलमूत्र का विसर्जन करना आदि आता है ।[4] इस समिति में देख-शोधकर, योग्य स्थान पर मलमूत्रादि का विसर्जन करना आता है।

इस तरह बताया गया है कि उक्त प्रकार के समितियों के पालन से मुनि के असंयम के निमित्त से आने वाले कर्मों का आस्रव नहीं होता। इस तरह उनका संवर हो जाता है ।[5]

धर्म - जैन परम्परा में धर्म शब्द व्यापक अर्थ रखता है। धर्म-अधर्म का अर्थ स्वभाव-विभाव से भी लिया जाता है। संवर के प्रकरण में धर्म का तात्पर्य

1- तत्वार्थसार, 6/8.

2- वही, 6/9.

3- वही, 6/10.

4- वही, 6/11.

5- वही, 6/12.

मुनि धर्म से है। इस धर्म के दस भेद बताये गये हैं – क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चनता और ब्रह्मचर्य ।[1]

क्षमा धर्म – क्रोधोत्पत्ति के उद्दीपन होने पर भी हृदय को क्रोध से रहित रखना क्षमा धर्म है ।[2]

मार्दव धर्म – मुनि का अपने तिरस्कार की स्थिति में अपने ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप तथा शरीर पर आधारित अहंकार पर संयम करना मार्दव धर्म है ।[3]

आर्जव धर्म – मन, वचन तथा काय द्वारा सम्पादित क्रियाओं में एकरूपता का होना आर्जव धर्म है ।[4]

शौचधर्म – प्राणी तथा इन्द्रिय सम्बन्धी परिभोग एवं उपभोग के भेद से लोभ चार प्रकार के होते हैं। इन्हीं चार प्रकार के लोभों का अभाव शौच धर्म है।[5]

सत्यधर्म – ज्ञान और चारित्र की शिक्षा आदि के विषय में धर्मबुद्धि के अभिप्राय से जो निर्दोष वचन कहे जाते हैं, वे सत्य धर्म कहलाते हैं ।[6]

संयम धर्म – संयम धर्म के अन्तर्गत समितियों को पालन करने वाले इन्द्रिय विषयों से विरक्त तथा जीवों के वध आदि पर संयम रखने वाली मुनि की क्रियाएँ आती हैं।[7]

तपधर्म – कर्मों के क्षय हेतु तपाये जाने को तप धर्म कहते हैं ।[8]

1- तत्त्वार्थसार, 6/13.

2- वही, 6/14.

3- वही, 6/15.

4- वही, 6/15 से आगे तथा 16 के पहले का श्लोक – वाङ्.मनः काययोगानामवक्रत्वं तदार्जवम्.

5- वही, 6/16.

6- वही, 6/17.

7- वही, 6/18.

8- वही, 6/18 तथा 19 के बीच की एक पंक्ति का श्लोक – परं कर्मक्षयार्थं यत्तप्यते तत्तपः स्मृतम्.

त्याग धर्म - धर्मशास्त्र आदि का देना त्याग धर्म है ।[1]

आकिञ्चन्यधर्म - मुनि के ग्रहण किए गए किन्हीं पदार्थों में ममत्व का अभाव होना आकिञ्चन्य धर्म है ।[2]

ब्रह्मचर्य धर्म - ब्रह्मचर्य धर्म के अन्तर्गत मुनि के स्त्री से सम्बन्ध नहीं रखने, पूर्वकाल में भोगी गई स्त्री का स्मरण नहीं करने तथा स्त्री सम्बन्ध क्रियाओं से रहित क्रियाएँ आती हैं ।[3]

इस तरह अमृतचन्द्राचार्य मुनि धर्म के दस प्रकार बताये हैं। उक्त धर्मों के पालन से मुनि के अधर्म निमित्तक कर्मों का आस्रव रुक जाता है। इस तरह उनका संवर होता है ।[4]

परीषहजय - आचार्य उमास्वामी ने बताया है कि मार्ग से च्युत न होने के लिए तथा कर्मों की निर्जरा के लिए सहने योग्य को सहन करना परीषह है ।[5] इसके बाईस भेद बताये गये हैं ।[6] ये हैं - क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमत्कुण, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शयन, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मलधारण, असत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन । आचार्य अमृतचन्द्र बताते हैं कि इन परिषहजयों को संक्लेश रहित चित् से सहन करने वाले मुनि के रागादिक के निमित्त से होने वाला आस्रव रुक जाता है। इस तरह संवर होता है ।[7]

तप - तप से आस्रव रुकता है तथा कर्मों की निर्जरा भी होती है ।[8] अमृतचन्द्राचार्य तप को संवर तथा निर्जरा का कारण बताते हैं। इनके अनुसार एक

1- तत्त्वार्थसार, 6/19.

2- वही, 6/20.

3- वही, 6/21.

4- वही, 6/22.

5- तत्त्वार्थसूत्र, 9/8.

6- वही, 9/2/6 ; तत्त्वार्थसार, 6/23-25

7- तत्त्वार्थसार, 6/26.

8- तत्त्वार्थसूत्र, 9/3.

वस्तु अनेक कार्य को करने वाली हो सकती है। जैसे अग्नि से ताप भी मिलता है तथा खाना भी तैयार किया जाता है ।[1]

अनुप्रेक्षा – तात्त्विक विचार, उत्तम भावनाएँ तथा आत्मचिन्तन को अनुप्रेक्षा कहा जाता है । उमास्वामी ने तत्त्वों के बार-बार चिन्तन करने को अनुप्रेक्षा कहा है ।[2] उक्त भावनाएँ चित्त को आस्रव के तरफ से हटाकर संवर एवं निर्जरा की ओर उन्मुख करती हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने इनके बारह नाम बताये हैं। उनके अनुसार अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मस्वाख्यातत्त्व – इन बारहों का बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षाएँ हैं ।[3] आचार्य इन बारह प्रकार के अनुप्रेक्षाओं का वर्णन अलग-अलग करते हैं ।[4]

चारित्र – सर्वार्थसिद्धि में बताया गया है कि चारित्र, कर्मास्रव के निरोध परम् संवर एवं मोक्ष मार्ग का साक्षात् एवं प्रधान कारण है ।[5] चारित्र के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह का पालन करना आता है । इस चारित्र के पाँच भेद बताये गये हैं – सामयिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय तथा यथाख्यात ।[6]

सदा के लिए या किसी निश्चित काल के लिए अभेद रूप समस्त पाप कार्यों का त्याग करना सामयिक चारित्र है ।[7] छेदोपस्थापना चारित्र में हिंसा आदि के भेद पूर्वक पाप कार्यों का त्याग तथा व्रत में बाधा आने पर उसकी शुद्धि करने की क्रिया आती है ।[8] परिहार विशुद्धि चारित्र में विशिष्ट प्रकार से प्राणि-

---

1- तत्त्वार्थसार, 6/27-28.

2- तत्त्वार्थसूत्र, 9/7.

3- तत्त्वार्थसार, 6/29.

4- वही, 6/30-32.

5- सर्वार्थसिद्धि, 9/18.

6- तत्त्वार्थसार, 6/44 ; तत्त्वार्थसूत्र, 9/18.

7- वही, 6/45.

8- वही, 6/46.

वस्तु अनेक कार्य को करने वाली हो सकती है। जैसे अग्नि से ताप भी मिलता है तथा खाना भी तैयार किया जाता है ।[1]

अनुप्रेक्षा – तात्त्विक विचार, उत्तम भावनाएँ तथा आत्मचिन्तन को अनुप्रेक्षा कहा जाता है । उमास्वामी ने तत्त्वों के बार-बार चिन्तन करने को अनुप्रेक्षा कहा है ।[2] उक्त भावनाएँ चित्त को आस्रव के तरफ से हटाकर संवर एवं निर्जरा की ओर उन्मुख करती हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने इनके बारह नाम बताये हैं। उनके अनुसार अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मस्वाख्यातत्व – इन बारहों का बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षाएँ हैं ।[3]आचार्य इन बारह प्रकार के अनुप्रेक्षाओं का वर्णन अलग-अलग करते हैं ।[4]

चारित्र – सर्वार्थसिद्धि में बताया गया है कि चारित्र, कर्मास्रव के निरोध परम् संवर एवं मोक्ष मार्ग का साक्षात् एवं प्रधान कारण है ।[5] चारित्र के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह का पालन करना आता है । इस चारित्र के पाँच भेद बताये गये हैं – सामयिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय तथा यथाख्यात ।[6]

सदा के लिए या किसी निश्चित काल के लिए अभेद रूप समस्त पाप कार्यों का त्याग करना सामयिक चारित्र है ।[7] छेदोपस्थापना चारित्र में हिंसा आदि के भेद पूर्वक पाप कार्यों का त्याग तथा व्रत में बाधा आने पर उसकी शुद्धि करने की क्रिया आती है ।[8] परिहार विशुद्धि चारित्र में विशिष्ट प्रकार से प्राणि-

---

1- तत्त्वार्थसार, 6/27-28.

2- तत्त्वार्थसूत्र, 9/7.

3- तत्त्वार्थसार, 6/29.

4- वही, 6/30-32.

5- सर्वार्थसिद्धि, 9/18.

6- तत्त्वार्थसार, 6/44 ; तत्त्वार्थसूत्र, 9/18.

7- वही, 6/45.

8- वही, 6/46.

घात का त्याग होता है। परिणामों में निर्मलता आती है ।[1] सूक्ष्मसाम्पराय में समस्त कषायों के क्षीण होजाने पर जिस मुनि को मात्र सूक्ष्म लोभ का सद्भाव रह जाता है, उसको सूक्ष्म साम्पराय नाम का संयम होता है ।[2]चारित्र मोहनीय कर्म के सम्पूर्ण रूप से क्षय हो जाने पर जो चारित्र प्रकट होताहै वह जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कहा गया यथाख्यात् पन्चम चारित्र है ।[3]

इस तरह आचार्य अमृतचन्द्र ने बताया है कि इस सम्यक्चारित्र के आचरण करने से मुनियों के समस्त आस्रवों का क्षय हो जाता है। और समस्त आस्रवों के क्षय से संवर होता है ।[4]

निर्जरा की अवधारणा एवं इसके उपाय

मोक्ष रूपी साध्य के लिए संवर के बाद निर्जरा का क्रम आता है। आत्मा में पुद्गल कर्माणुओं के बहाव बन्द होने की क्रिया संवर है। मोक्ष प्राप्ति के क्रम में संवर के बाद आत्मा में प्रविष्ट कर्माणुओं का जो क्षय किया जाता है, वही क्रिया निर्जरा है । आचार्य अमृतचन्द्र अपनी टीका में सम्यग्दृष्टि का विवेचन करते हुए बताते हैं कि जिसमें राग द्वेष का अभाव है, उसके कर्मों की निर्जरा अर्थात् निर्जरण हो जाता है ।[5] जीव नाना प्रकार के कर्म करता है। उस कर्म में वह सुख-दुःख, राग-द्वेष का अनुभव करता है। ठीक इसके विपरीत जो सम्यग्दृष्टि सम्पन्न जीव हैं, उनको राग-द्वेषादि नहीं होते हैं। उनकी दृष्टि यथार्थ होती है। वे क्षुधादि कष्टों में उद्विग्नता तथा विष्टा आदि मलिन द्रव्यों में ग्लानि नहीं करते हैं। इस तरह वे बन्ध की चपेट में नहीं आते हैं तथा उनके कर्मफलों की निर्जरा होती

1- तत्त्वार्थसार, 6/47.

2- वही, 6/48.

3- वही, 6/49.

4- वही, 6/50.

5- समयसार टीका आत्मख्याति, 193.

है ।[1] कहा गया है कि जो अपने स्वरूपमय मोक्षमार्ग से च्युत हुए स्व को उसी स्वरूप मोक्ष मार्ग में पुनः स्थापन करता है वह स्थितिकरण गुणयुक्त सम्यग्दृष्टि है। उसके लिए मार्ग से छूट जाने का बन्ध नहीं होता, मात्र उदय में आये हुए उसके कर्म-रस खिराकर निर्वीर्य होते हैं ।[2] जो जीव अपने मोक्ष मार्ग रूप स्वरूप में अनुरक्त रहते हैं, उनके लिए मार्गानुपलम्भकृत बन्ध नहीं होते । उनके कर्मफल मात्र प्रतिफलित होकर समाप्त हो जाते हैं ।[3]

इस तरह अमृतचन्द्राचार्य के अनुसार राग-द्वेष के निमित्त किए गए कर्म ही बन्ध के कारण हैं। इसके विपरीत जब जीव ज्ञान से युक्त होता है तब वह स्वभाव रूप परिणमन करता है। इस स्थिति में वह अपने को कर्ता नहीं समझता तथा पुद्गल कर्मों की उदयावस्था में राग-द्वेष का अनुभवन नहीं करता है। जब जीव ज्ञानाभाव के चलते नाना प्रकार के कर्मों में राग-द्वेष के निमित्त सुख-दुःख का अनुभव नहीं करता, तब उसके कर्म बन्ध के कारण नहीं बनते तथा उसके समस्त कर्मों के निर्जरण के फलस्वरूप वह मोक्ष की ओर अग्रसर होता है । इस तरह मोक्ष के सन्दर्भ में ज्ञान ही प्रमुख है। आचार्य ने बताया है कि ज्ञान से ही मोक्ष होता है, कर्म करने से मोक्ष नहीं होता है ।[4] अमृतचन्द्र ने "तत्त्वार्थसार" में निर्जरा तत्त्व का वर्णन जैन परम्परा के सदृश किया है। यहाँ निर्जरा के दो भेद बताये गये हैं - विपाकजा तथा अविपाकजा और स्पष्ट किया गया है कि ग्रहण किये हुए कर्मों का क्षय होना निर्जरा है ।[5] अनादि बन्ध रूप उपाधि के उदयवश जीव का कर्म जिसमें अपना फल देता हुआ खिरता अर्थात् समाप्त हो जाता है। वह विपाकजा निर्जरा है।[6] इसे सविपाकजा निर्जरा भी कहते हैं, जो समस्त संसारी

1- समयसार टीका आत्मख्याति, 231

2- वही, 233.

3- वही, 235.

4- वही, 205.

5- तत्त्वार्थसार, 7/2.

6- वही, 7/3.

जीवों को होती है ।[1] दूसरी अविपाकजा निर्जरा है, जिसमें तप के द्वारा कर्मों का निर्जरण किया जाता है। यह निर्जरा तपस्वी मुनियों की होती है ।[2]

जैन परम्परा में निर्जरा के उपाय हेतु तप को बताया गया है। "समयसारटीका" में तपादि, जो भी क्रियाएँ हैं, उनका मूल कारण ज्ञानमय आत्मा की सम्यग्दृष्टि है। अमृतचन्द्राचार्य अपनी दूसरी कृति तत्त्वार्थसार में निर्जरा का कारण "तप" बताकर उसके बाह्य एवं आभ्यन्तर के भेद से इसके छः भेद बताये हैं।[3] बाह्य तप के छः भेद - अवमौदर्य, उपवास, रसपरित्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, कायक्लेश तथा विविक्तशय्यासन हैं[4] तथा आभ्यन्तर तप के छः भेद - स्वाध्याय, प्रायश्चित्त, वैयावृत्य, व्युत्सर्ग, विनय तथा ध्यान हैं ।[5] इसमें आभ्यन्तर तप के पहले भेद स्वाध्याय के पाँच प्रभेद - वाचना, पृच्छना, आम्नाय, धर्मोपदेश तथा अनुप्रेक्षा बताया गया है।[6] प्रायश्चित् के नव प्रभेद - आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, तप, व्युत्सर्ग, विवेक, उपस्थापना, परिहार तथा छेद बताये गये हैं ।[7] पुनः आभ्यन्तर तप के भेद व्युत्सर्ग के दो भेद बताये गये हैं - बाह्य परिग्रह तथा आभ्यन्तर परिग्रह।[8] विनय तप के चार भेद बताये गये हैं - दर्शन विनय, ज्ञानविनय, चारित्र विनय, तथा उपचार विनय। ध्यान तप के भी चार भेद किए गये हैं - आर्त, रौद्र, धर्म्य तथा शुक्ल ।[10] संक्षिप्तः इन भेद-प्रभेदों का सविस्तार वर्णन "तत्त्वार्थसार" के सप्तम् अध्याय में हुआ है ।

1- वसुनन्दि श्रावकाचार, 44.

2- तत्त्वार्थसार, 7/4-6.

3- वही, 7/7.　　4- वही, 7/8.

5- वही, 7/15.

6- वही, 7/16.

3- वही, 7/21.

8- वही, 7/29.

9- वही, 7/30.

10- वही, 7/35

संवर एवं निर्जरा मोक्ष मार्ग का साधक

जैन परम्परा के अनुसार जिस तरह आस्रव बन्ध का कारण है, उसी तरह संवर व निर्जरा मोक्ष का कारण है। सर्वप्रथम जीव में कर्माणुओं का प्रवेश होना [आस्रव] रुकता है, जिसे संवर कहा जाता है। तत्पश्चात् जीव में प्रविष्ट हुए कर्मवर्गणाओं का क्षय निर्जरा कहलाता है। इस तरह मोक्ष हेतु संवर तथा निर्जरा - इन दो प्रकरणों को पूरा करना पड़ता है ।

"आत्मख्याति" के अनुसार जीव में आस्रव का कारण "भेदज्ञान" का अभाव है। जीव अपने से भिन्न भावों के साथ अपना सम्बन्ध बना लेता है। जीव का स्वभाव शुद्ध चैतन्य मात्र है तथा पुद्गलादि कर्म रूप परिणमन भाव अचेतन हैं। जीव अपने तथा अपने से भिन्न पुद्गलादि भावों के बीच भेदज्ञान के अभाव में राग-द्वेष भाव को निज भाव समझकर कर्म सम्पादन करता है। इसके फलस्वरूप जीव में कर्मास्रव होना प्रारम्भ हो जाता है। वस्तुतः भेदज्ञान का तात्पर्य आत्मा के शुद्ध चैतन्य स्वभाव की उपलब्धि है । जीव के शुद्ध स्वभाव की उपलब्धि से अध्यवसानाभाव, अध्यवसानाभाव से मोहाभाव, मोहाभाव से राग-द्वेषाभाव, राग-द्वेषाभाव से कर्मास्रवाभाव, कर्मास्रवाभाव से सदा के लिए शरीराभाव तथा शरीराभाव से संसाराभाव होता है। यह संसार ही बन्ध है और इस बन्ध का अभाव भेदज्ञान से होता है। ये भेदज्ञानी कर्म करते हुए भी फल को प्राप्त नहीं होते हैं, अर्थात् उनके कर्मों का अकिंचन भावी जीवन के बन्ध के रूप में नहीं होता है। इस ज्ञान का सामर्थ्य ही ऐसा है कि कर्म विपाक को भोगता हुआ भी जीव कर्मों से बँधता नहीं है, जैसे विषवैद्य पुरुष विष को खाता हुआ भी मृत्यु के चपेट में नहीं आता है ।[1]

निर्जरा के दो सोपान हैं - भाव निर्जरा[2] तथा द्रव्य निर्जरा[3]। वस्तुतः जीव के विभावरूप उदित सुख-दुःख, राग-द्वेषादि यदि बन्ध का कारण न बनें तो-

---

[1] समयसार टीका आत्मख्याति, 195.

[2] वही, 194.

[3] वही, 193.

यह "भाव निर्जरा" है । इस स्थिति में जीव के विभाव रूप राग-द्वेष भाव को भावनात्मक स्तर पर बन्ध से बचने हेतु त्याग करने की बात सोचना भाव निर्जरा है। द्रव्य निर्जरा में जीव अपने स्वभाव में स्थित रहता है। इस तरह उसके विभाव रूप राग-द्वेषादि से विरक्त रहने पर पूर्वकृत कर्म के साथ-साथ वर्तमान कर्म के कर्म-फल भी निर्जरित हो जाते हैं । भेदज्ञानी सम्यग्दृष्टि सम्पन्न होता है। सम्यग्दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति को सुख-दुःख भोगने पर भी रागादि भाव नहीं रहते । इस तरह उनका बन्ध नहीं होता, अपितु निर्जरा ही होती है ।

आचार्य कुन्दकुन्द ने इस टीका की मूल कृति "समयपाहुड़" में सम्यग्दृष्टि के आठ अंगों का विवेचन किया है ।[1] इस विवेचन की चर्चा अमृतचन्द्राचार्य भी करते हैं। इन आठों अंगों से युक्त पुरुष अपने नवीन कर्म को रोकता है, जिससे निर्जरा की वृद्धि एवं पूर्व बद्ध कर्मों का क्षय होता है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि के समय आठ अंग निम्न हैं —

{1} **निःशंकित** – स्वभाव में स्थित जीव सभी प्रकार के भयों से मुक्त होता है। वह सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, जीवन-मृत्यु तथा अन्य प्रकार के भयों से रहित होता है। इसका स्वभाव ही ज्ञान है। उसे बन्ध आदि का भय नहीं होता है। जब वह स्वभाव में रहता है, तब वह पूर्ण रहता है। इस तरह अपने स्वभाव में रहकर जीव निःशंक होता है। ऐसा होने से निर्जरा होती है ।

{2} **निःकांक्षित** – ज्ञानी निष्कांक्ष होता है। उसे कर्मों तथा कर्मफलों के भोग में वांछा नहीं रहती । इस तरह उसे कांक्षाकृत बन्ध नहीं होता तथा निर्जरा होती है।

{3} **निर्विचिकित्सित** – सम्यग्दृष्टि सम्पन्न जीव निर्विचिकित्सित होता है । उसमें सम्पूर्ण वस्तुधर्मों के प्रति कोई जुगुप्सा या ग्लानि नहीं होती है। इस तरह उसे विचिकित्साकृत बन्ध नहीं होता तथा पूर्व कृत कर्मों की निर्जरा होती है ।

{4} **अमूढ़दृष्टि** – सम्यग्दृष्टि सम्पन्न जीव अमूढ़दृष्टि यानी यथार्थ दृष्टि का

---

[1] समयसार, 229-36.

धारक होता है। उसे धर्म विरुद्ध किसी भी कुभावों में व कुभाव वालों में सम्मोह नहीं होता। अतएव वह मूढ़दृष्टिकृत बन्ध से मुक्त होता है ।

[5] उपगूहन - सम्यग्दृष्टि अपने उपयोग को अन्यत्र से उपगूहन कर सिद्ध भगवान् के गुणों में तल्लीन कर देता है। इससे उसको शक्ति की दुर्बलता प्रयुक्त बन्ध नहीं होता तथा निर्जरा होती है ।

[6] स्थितिकरण - इसका सम्बन्ध जीव की स्वधर्म स्थिरता से है। अपने मार्ग से विमुख हुए आत्मा को उसके स्वरूप में स्थित करना तथा परभावों को उसके धर्म में स्थित करने को जीव का स्थितीकरण कहा जाता है। इससे मार्ग पतन-कृत बन्ध नहीं होता तथा कृत कर्मों की निर्जरा होती है ।

[7] वात्सल्य - सम्यग्दृष्टि सम्पन्न जीव में त्रिविध साधना मार्ग [रत्नत्रय] को अपने में अभेदरूप से देखने की वत्सलता होती है, तथा इस तरह वह व्यवहार में धर्मात्माओं के प्रति वात्सल्य भाव रखता है। सम्यग्दृष्टि के इस वात्सल्य भाव से अवात्सल्यकृत बन्ध नहीं होता तथा कर्मों की निर्जरा होती है ।

[8] प्रभावना - सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने स्वभाव के ज्ञान के विकास द्वारा ज्ञान की प्रभावना का जनक होताहै। इस तरह उसको अप्रभावना कृत बन्ध नहीं होता तथा कर्मों की निर्जरा होती है ।

इस प्रकार जीव उक्त आठ अंगों से सहित होता हुआ नवीन बन्ध को रोकता है तथा निर्जरा की वृद्धि से पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करता है। ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव स्वयं स्वाभाविक रूप से आदि, मध्य और अन्त से रहित ज्ञानरूप होकर अनन्त आकाशरूपी रंगभूमि में प्रवेश कर अर्थात् लोकालोकगत ज्ञेयों को अपना विषय बनाकर परमानन्द में निमग्न रहता है । जीव के स्वभाव "ज्ञान" से ही संवर तथा निर्जरा होती है, जिसके परिणाम के रूप में मोक्ष ही होता है। जीव के ज्ञान के अभाव में कर्मों के निर्जरा हेतु तप भी अप्रभावी है ।

आचार्य अमृतचन्द्र के आस्रव, संवर व निर्जरा विवेचन की विशिष्टता

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि कृत समयसार टीका में आस्रव, संवर तथा निर्जरा का विवेचन अलग-अलग अधिकारों में हुआ है । आस्रव तत्त्व का विवेचन सतरह गद्य टीकाओं तथा बारह कलशों में हुआ है। संवर तत्त्व का विवेचन बारह गद्य टीकाओं एवं आठ कलशों में तथा निर्जरा तत्त्व का विवेचन चौवालिस गद्य टीकाओं एवं तीस कलशों के माध्यम से हुआ है ।

आस्रव तत्त्व के विवेचन में बताया गया है कि राग-द्वेष व मोह ही आस्रव है। कर्मों में राग-द्वेष के कारण जीव सुख-दुःख का अनुभव करता है। टीका में बताया गया है कि सम्यग्दृष्टि सम्पन्न जीव को आस्रव नहीं होता है। सम्यग्दृष्टि सम्पन्न जीव के कर्म सम्पादन में राग-द्वेष भाव नहीं रहते हैं। अतएव उसके कर्म आस्रव के कारण नहीं बनते । जीव को जब अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, तब वह राग-द्वेष व मोह भाव से रहित हो जाता है, क्योंकि ये सब उसके विभाव हैं। इस तरह ज्ञानी जीव के आस्रव नहीं होते हैं। वस्तुतः आस्रव का कारण तो जीव का विभाव रूप परिणमन है, जो अज्ञान के कारण होता है ।

संवर विवेचन में कहा गया है कि संवर आस्रव का विरोधी तत्त्व एवं मोक्ष मार्ग को प्रशस्त करने वाला है। आस्रव का रुक जाना संवर है । इस अधिकार में भी जीव के भेदज्ञान की प्रमुखता स्थापित की गई है। यहाँ बताया गया है कि शुद्ध आत्म तत्त्व के उपलम्भ से साक्षात् संवर होता है तथा शुद्धात्म तत्त्व का उपलम्भ भेदज्ञान से होता है ।[1] भेदज्ञान का तात्पर्य है जीव-अजीव आदि सभी तत्त्वों का अलग-अलग स्वरूप ज्ञान। मुख्य रूप से आत्मा का अनात्मा से भिन्न स्वभाव ज्ञान भेद ज्ञान है। आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि सभी जीवों के सिद्ध पद प्राप्ति का कारण भेदज्ञान ही रहा है तथा जो कोई इस संसार से बद्ध है वह भेदज्ञान रहित है।[2]

1- समयसार कलश, 129.

2- वही, 131.

इस तरह संवर अधिकार में यही बताया गया है कि भेदज्ञान से युक्त का संवर होता है । निर्जरा विवेचन का सम्बन्ध कृत कर्मों के क्षय से है। इस अधिकार में भी आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने यही बताया है कि जो जीव राग-द्वेष मोहभाव से रहित होकर कर्म करता है, जिसे कर्मों में सुख-दुःख भोगने पर भी रागादिक भाव नहीं होते हैं वह बन्ध के चपेट में नहीं आता है। केवल उसकी निर्जरा होती है ।[1] ज्ञानी जीव के कृत कर्म आप से आप निर्जरित होने लगते हैं। ज्ञानी जीव का व्यवहार ही ऐसा होता है कि वह अपने से भिन्न भावों के प्रति आसक्ति नहीं रखता । इस स्थिति में उसके लिए बन्ध नहीं होता है। निर्जरा हेतु तप आदि भी जीव के स्वभाव ज्ञान के अभाव में बन्ध के ही कारण हो जाते हैं ।

इस तरह हम देखते हैं कि समयसार टीका में बाह्य क्रिया-कलापों को छोड़कर मोक्ष हेतु वास्तविक कारण पर विचार किया गया है। जैन परम्परा में अन्य ग्रन्थकारों ने संवर हेतु गुप्ति, समिति तथा धर्म आदि के प्रयोजन का वर्णन किया है लेकिन टीका में आत्मस्वभाव के ज्ञान को ही संवर कहा गया है। निर्जरा में तप आदि का प्रावधान किया गया है, ताकि पूर्व कृत कर्मों को तपाकर उन्हें निर्जरित किया जा सके । आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार जब जीव अपने स्वभाव में रत हो जाता है, अर्थात् राग-द्वेष भाव से विरक्त हो जाता है, तो उसके पूर्व-कृत कर्मों का निर्जरण हो जाता है। इस तरह समयसार टीका में शुद्ध समयसार का ही वर्णन है। अज्ञानी जीव के लिए ही आस्रव तथा बन्ध है । टीका में यह स्पष्ट किया गया है कि ज्ञान से जीव के आस्रव रुकते हैं, तथा उसके कृत कर्मों का निर्जरण होता है। इस तरह संवर एवं निर्जरा हेतु जितने क्रियाकलाप हैं, उनके मूल में आत्मज्ञान ही है ।

1- समयसार टीका आत्मख्याति, 194.

पंचम अध्याय

बन्ध एवं मोक्ष

बन्ध : एक सामान्य परिचय

बन्ध की समस्या दार्शनिक समस्याओं में से एक महत्वपूर्ण समस्या है। भारतीय दर्शन के करीब-करीब सभी सम्प्रदाय [चार्वाक को छोड़कर] बन्ध की स्थिति को स्वीकार करते हैं। बन्ध भाव का अस्तित्व आत्म चिन्तन पर आधारित होता है। प्रायः भारतीय दार्शनिकों का दृष्टिकोण यही है कि बंधन आत्मा पर आवरण है, जिससे उसका यथार्थ स्वरूप दृष्टिगत नहीं होता है। आत्मा अपने वास्तविक रूप से सर्वथा मुक्त है। जब इसकी माया, मान, लोभ आदि की तरफ प्रवृत्ति होती है तब इसकी मुक्तावस्था का लोप हो जाता है तथा यह बन्धग्रस्त हो जाता है।

बन्ध में आत्मा का अनात्मा से सम्बन्ध स्थापित होता है। इस सम्बन्ध के सन्दर्भ में आत्मा शरीर के साथ अपना तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित कर लेता है तथा शरीर द्वारा सम्पादित हुए सभी कर्मों में अपने को लिप्त समझने लगता है। लिप्त होने के बाद शरीर द्वारा सम्पादित हुए कर्मों से सुख-दुःख का फल का फल रूप परिणमन करने लगता है। इस तरह यह अपने को कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व से सम्बद्ध समझने लगता है। जैन परम्परा में भी कर्मों से जकड़े हुए आत्मा को परतन्त्र कहा गया है और यही परतन्त्रता बन्धन है।[1] कर्मों से जकड़ना, फलों में सुख-दुख का अनुभव करना - यह सब आत्मा का स्वाभाविक लक्षण नहीं है। आत्मा अज्ञान या अविद्या से आच्छादित होकर अपने से भिन्न जड़ पदार्थों को अपने शरीरादि रूप में ग्रहण करना आरम्भ कर देता है। इस तरह आत्मा सुख-दुःख भाव से कर्मों को ग्रहण कर बन्धावस्था को प्राप्त करता है। बन्धावस्था की स्थिति में शरीर से मुक्त होने पर पुनः कोई दूसरा शरीर धारण करना पड़ता है क्योंकि एक जन्म में

1- तत्त्वार्थवार्तिक, 1/4/10, पृ० 26.

उम्र भर किये हुए कर्मों का फल उसी योनि में भोग लेना सम्भव नहीं होता है। इसलिए उसे पुनः शरीर धारण करना पड़ता है। पुनः इस शरीर से भी कर्म सम्पादित होते रहते हैं, जिसके फल को भोगने हेतु पुनः शरीर धारण करना पड़ता है। इस तरह बन्धावस्था में जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है। मोक्ष में श्रद्धा रखने वाली आत्मा जब अपने को राग-द्वेष, माया, मोहादि से अलग अपने शुद्ध स्वभाव में आसन्न हो जाती है, तब वह मोक्ष की अवस्था में आ जाती है। इस स्थिति में आत्मा शरीर के रहते हुए भी मुक्त हो कर रहता है। शरीर तो संचित प्रारब्ध कर्म के फल को भोगने के लिए रहता ही है। जब वह अपने प्रारब्ध को भोग लेता है, तब उसे पुनः शरीर नहीं धारण करना पड़ता है । आत्मा मुमुक्षावस्था में जो कर्म सम्पादित करती है, वह फलरहित होता है। इसलिए उसके वर्तमान कर्म भावी जन्म ग्रहण करने का कारण नहीं होते ।

न्याय-वैशेषिकों ने आत्मा के नव गुण बताये हैं, जो उसकी मुक्तावस्था में नहीं रह जाते हैं। वे हैं - इच्छा, प्रयत्न, सुख, दुःख, द्वेष भावना या संस्कार, धर्म तथा अधर्म । ये गुण आत्मा की बंधावस्था के हैं। आत्मा की मुक्तावस्था के अलग से पाँच गुण कहे गये हैं। सांख्य मत में भी बन्ध की सत्ता का विवेचन हुआ है। ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका की प्रथम कारिका इस बात की सूचक है कि मानव आध्यात्मिक [रोग, व्याधि, शारीरिक या मानसिक कष्ट, भय, क्रोध आदि], आधिभौतिक [जानवर, आँधी-तूफान, बाढ़ आदि से] तथा आधिदैविक [भूत-प्रेत, ग्रह, नक्षत्र आदि के चलते दुष्परिणमित फल] - इन तीन प्रकार के दुःखों से आक्रान्त है। सांख्य मत में पुरुष तथा प्रकृति के संयोग को ही बन्ध कहा गया है। यह बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है। प्रकृति निष्पन्न लिङ्ग शरीर अनादि है और यह अनादि काल से ही पुरुष से सम्बद्ध है ।[1]

सांख्य दर्शन में पुरुष बन्धन व मोक्ष के विकल्प से परे है। पुरुष का बन्ध तथा मोक्ष नहीं होता। इस मत में बन्ध एवं मोक्ष को एक घटना मात्र समझा गया

1- ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका, 52.

है, जिसका सम्बन्ध प्रकृति मात्र से है। पुरुष का बन्धनग्रस्त होना मात्र स्वप्नवत् ही है। ईश्वरकृष्ण ने स्पष्ट कहा है कि पुरुष न तो बन्धनग्रस्त होता है न मोक्ष प्राप्त करता है और न ही जन्म-मरण के चक्र में पड़ता है। अपितु प्रकृति ही स्वयं को सात रूपों में आबद्ध करती है ।[1] योग दर्शन में भी पुरुष तथा दृश्य प्रकृति के संयोग को अनादि माना गया है ।[2] यह संयोग ही बन्ध का कारण है ।

वेदान्त मत में भी बन्धन की सत्ता मानी गई है। यहाँ भी आत्मा अपने स्वभाव को भूलकर शरीर के साथ अपने को तद्रूप कर देता है। परिणामस्वरूप शरीर के साथ होकर सुख-दुःख का अनुभव करने लगता है। आत्मा अज्ञान से उपाधियुक्त होकर ऐसा अनुभव करने लगता है । शंकराचार्य ने ब्रह्म एवं माया के सम्बन्ध को अनादि मानकर बन्धन को अनादि सिद्ध किया है। भेदाभेद मत के भास्कराचार्य ने भी सत्य रूप उपाधि का ब्रह्म के साथ अनादि सम्बन्ध कहा है। विशिष्टाद्वैत मत के रामानुज ने बद्ध जीवों को अनादि काल से ही बद्ध स्वीकार किया है। द्वैताद्वैत एवं द्वैत मत के निम्बार्क एवं माध्वाचार्य ने अविद्या तथा कर्म को संसार का कारण मानकर इसे अनादि कहा है। शुद्धाद्वैत मत के वल्लभाचार्य ने भी ब्रह्म के समान कार्य को अनादि कहकर जीव तथा अविद्या के सम्बन्ध को अनादि की ही कोटि में रखा है । इस तरह वेदान्त दर्शन में भी बन्धन जीव की अनादि अवस्था है ।

बौद्ध दर्शन मे भी ; यद्यपि इसने आत्मा के स्थायी एवं शाश्वत् सत्ता का निषेध किया है तथापि अन्य दर्शनों की भाँति बन्ध की सत्ता को स्वीकार किया है। इनके प्रथम आर्य सत्य में यह बताया गया है कि यह जगत् दुःखमय है जहाँ जन्म, रोग, शोक, बुढ़ापा, क्लेश, नैराश्य, मृत्यु आदि के चक्कर से कोई मुक्त नहीं है। बौद्ध दर्शन में दुःखों का मूल कारण "जरा-मरण" बताया गया है । यह "जरा-मरण" ही बन्ध है ।

1- ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका, 53.

2- योगदर्शन, 2/17 ; योगभाष्य, 2/17.

जैन दर्शन भी बन्ध की व्याख्या व्यापक रूप से प्रस्तुत करता है। जैन का आत्म तत्त्व अपने शुद्ध चैतन्य स्वभाव में रत कहा गया है। यह अनन्त शक्तियों से परिपूर्ण है। जब इसका संयोग पुद्गलादि कर्मों से होताहै, तब यह बन्धावस्था को प्राप्त होती है। यहाँ भी आत्मा या जीव तथा पुद्गल के सम्बन्ध को अनादि कहा गया है। जब जीव अपने स्वभाव से च्युत होकर विभाव रूप परिणमन करता है, तब इसमें दर्शनावरणीय, ज्ञानावरणीय, वेदनीय तथा मोहनीय कर्मों का उदय होता है, जो उसके स्वाभाविक लक्षण – सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक् चारित्र, तथा जीव के आनन्द स्वरूप तथा जीव के धर्म एवं सदाचार के प्रति सम्यक् प्रवृत्ति पर आवरण लगा देते हैं। इस स्थिति में बन्धनग्रस्त जीव के सभी कर्मों का आकलन विभिन्न स्तरों में होने लगता है, जिससे उसके जन्म, जाति, गोत्र आदि का निर्धारण होता है। इस तरह जीव अपने विभाव रूप प्रवृत्तियों में रत होकर इस भवाटवी में भ्रमण करता रहता है। उमास्वामी ने कहा है कि कषाय युक्त जीव के द्वारा कर्मयोग्य पुद्गलों का ग्रहण करना बन्ध है ।[1] कषाय चार प्रवृत्तियों का नाम है – क्रोध, लोभ, मोह तथा गर्व । पूज्यपादाचार्य ने बताया है कि कर्म प्रदेशों तथा आत्म प्रदेशों का दूध तथा पानी की तरह घुल मिल जाना बन्ध है ।[2] इसी तरह के विचार आचार्य अकलंकदेव भी व्यक्त करते हैं ।[3]

भारतीय दर्शन में भौतिकवाद का प्रतिनिधित्व करने वाला नास्तिक-शिरोमणि चार्वाक तो अपने दर्शन की ऐसी व्याख्या ही प्रस्तुत करता है, जिसमें आध्यात्मिक एवं दार्शनिक दृष्टि से न तो बन्धन की व्याख्या देखने को मिलती है, न ही मोक्ष की । चार्वाक दर्शन सुखवाद का पोषक है। इसके मत में जब तक शरीर है, तब तक सुख के साथ-साथ दुःख भी झेलना ही होगा। इसके अनुसार मृत्यु ही मोक्ष है । यह न तो आत्मा की आध्यात्मिक एवं शाश्वत् सत्ता स्वीकार करता है और न ही इसके बन्ध एवं मोक्ष की । इस तरह इतना स्पष्ट है कि

1- तत्त्वार्थसूत्र, 8/2.

2- सर्वार्थसिद्धि, 1/4.

3- तत्त्वार्थवार्तिक, 1/4/17.

भारतीय दर्शन के करीब-करीब सभी संप्रदायों ने बन्धन की स्थिति को स्वीकार किया है। जन्म-मरण के चक्र को प्रायः सभी मतों ने बन्धावस्था का द्योतक माना है।

जैन दर्शन में कर्म-बन्ध के कारण

जैन दर्शन की कृतियों में कर्म बन्ध के कारणों का उल्लेख हुआ है। इस परम्परा की अनेक कृतियों के विचार बिल्कुल एक से प्रतीत नहीं होते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द की कृति समयसार तथा इसकी टीका आत्मख्याति में बन्ध के प्रमुख कारण के रूप में अज्ञान को ही बताया जाता है।[1] आचार्य रामसेन बन्ध का कारण मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान तथा मिथ्या चारित्र को बताते हैं।[2] तत्त्वार्थसूत्र में कर्मबन्ध के पाँच कारण बताये गये हैं- मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग।[3] जैन दर्शन की अन्य कृतियों में भी इन पाँचों कारणों का उल्लेख मिलता है।[4] "मूलाचार" में भी बन्ध के पाँच कारणों का उल्लेख है, लेकिन उसमें प्रमाद की जगह पर "आयु" को बन्ध का कारण बताया गया है।[5] जैन परम्परा की अन्य कृतियों में बन्ध के कारण के रूप में "आयु" का उल्लेख नहीं मिलता है। अस्तु यहाँ बन्ध के कारण के रूप में "तत्त्वार्थसूत्र" में वर्णित पाँच कारणों का अलग-अलग संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है --

(1) मिथ्या दर्शन - मिथ्या दर्शन का अर्थ - जीव का अपने आत्म स्वरूप को भुलाकर शरीरादि परद्रव्यों में आत्मबुद्धि व्यक्त करना है। इसमें आत्म स्वरूप का कोई श्रद्धान न होकर बिल्कुल विपरीत श्रद्धान होता है। "सर्वार्थसिद्धि" में कहा गया है कि जीवादि का श्रद्धान न करना मिथ्यादर्शन है।[6] कारण विपर्यास, भेदाभेद-

---

[1] समयसार, 259 ; आत्मख्याति, 153.

[2] तत्त्वानुशासन, 8.

[3] तत्त्वार्थसूत्र, 9/1.

[4] गोम्मटसार गाथा, 257 ; द्रव्य संग्रह गाथा, 33.

[5] मूलाचार, गाथा 1219.

[6] सर्वार्थसिद्धि, 2/6.

विपर्यास और स्वरूप विपर्यास की अपेक्षा से मिथ्या दर्शन के तीन प्रकार बताये गये हैं।[1] आत्म स्वरूप के प्रति विपरीत श्रद्धान् ही मिथ्यादर्शन है, जो बाह्य पदार्थों की ओर आकर्षित रहता है। अतः यह बन्ध का महत्त्वपूर्ण कारण है।

(2) अविरति – अविरति का तात्पर्य सदाचार या चारित्र धारण करने की ओर रुचि या प्रवृत्ति के नहीं होने से है। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपनी एक कृति में अविरति के पाँच भेदों का उल्लेख किया है। ये हैं – हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, तथा परिग्रह।[2] इन पापों से आसक्त रहना अविरति है।

(3) प्रमाद – कुशल कर्तव्य मार्ग में आलस्य करना प्रमाद है। जीव, क्रोध, मान, माया तथा लोभ – इन चार कषायों से कलुषित होने के कारण निद्रा, प्रणय आदि कार्यों में मग्न होने के कारण अहिंसा आदि अच्छे कार्य के प्रति आदरभाव नहीं रहता है। ऐसा होने से अच्छे कार्यों के प्रति अनास्था होती है। इसी को प्रमाद कहा गया है। इस तथ्य का वर्णन जैन दर्शन की अनेक कृतियों में मिलता है।[3]

(4) कषाय – आत्मा के स्वरूप को च्युत कराने में जिन दुष्प्रवृत्तियों का हाथ होता है, वे कषाय हैं। क्रोध, मान, माया तथा लोभ आत्मा को जकड़ लेते हैं। "सर्वार्थसिद्धि" एवं "तत्त्वार्थवार्तिक" में कहा गया है कि आत्मा के अन्दर के वे कलुष परिणाम, जो कर्मों के श्लेष के कारण होते हैं, कषाय कहलाते हैं।[4]

(5) योग – योग का सीधा अर्थ जोड़ना होता है। जहाँ मन, वचन तथा काय से होने वाली आत्मा की क्रिया कर्मपरमाणुओं से योग या सम्बन्ध कराती है, उसे योग कहा जाता है। "सर्वार्थसिद्धि" में बताया गया है कि मन, वचन तथा

1- सर्वार्थसिद्धि, 1/32.

2- बारस – अणुवेक्खा, गाथा 48.

3- सर्वार्थसिद्धि, 7/13, 8/1 ; तत्त्वार्थवार्तिक, 8/1/3.

4- वही, 6/4 ; वही, 6/4/2.

काय के द्वारा होने वाले आत्म प्रदेशों के परिस्पन्दन को योग कहते हैं।[1] इन तीनों के माध्यम से आत्मा का कर्मों के साथ संयोग होता है। इस तरह योग भी बन्ध का महत्वपूर्ण कारण सिद्ध होता है ।

बन्धन के भेद

जैन परम्परा की अन्यान्य कृतियों में बन्ध के विभिन्न भेद बताये गये हैं। सामान्य की अपेक्षा से बन्ध के भेद नहीं किये जा सकते हैं, लेकिन विशेष की अपेक्षा से अकलंक देव ने बन्ध के दो भेद बताये हैं - द्रव्य बन्ध तथा भाव बन्ध ।[2] क्रम की दृष्टिकोण से पहले भाव बन्ध होता है। तत्पश्चात् द्रव्य बन्ध । जीव में पुद्गलों के प्रवेश होने के पहले भावास्रव होता है। यहाँ जीव में कषायों से प्रभावित होकर कायिक, वाचिक या मानसिक स्पन्दनों के द्वारा भावात्मक क्रिया की उत्पत्ति होती है, जिसके द्वारा वह कर्म पुद्गलों को अपनी ओर आकर्षित करने में सक्षम होता है। ऐसा होना ही भाव बन्ध है। इस भावनात्मक पक्ष पर जोर देते हुए "कुन्दकुन्दाचार्य" कहते हैं कि यह जीव जो उपयोग स्वरूप विविध विषयों को प्राप्त कर मोह, राग तथा द्वेषादि करता है, वही उनसे बँधता है।[3] नेमिचन्द्राचार्य के अनुसार जिस चेतन परिणाम से कर्म बँधता है, वह भाव बन्ध है।[4] इसका दूसरा एवं अन्तिम स्तर द्रव्य बन्ध का है। भाव बन्ध के पश्चात् कर्म पुद्गलों का आत्मा में प्रवेश आरम्भ हो जाता है। इस तरह ज्ञानावरणादि कर्म पुद्गलों के प्रदेशों का जीव के साथ मिलना द्रव्य बन्ध है ।[5]

इन दो प्रकार के कर्मबन्धनों में भाव बन्ध ही मूल है, क्योंकि बन्ध का आरम्भ इसी स्तर से होता है। समयसार" एवं इसकी टीका आत्मख्याति में भी इस तथ्य पर अधिक बल दिया गया है। कुन्दकुन्दाचार्य के अनुसार अज्ञान, मिथ्या-

---

1- सर्वार्थसिद्धि, 2/26.

2- तत्त्वार्थवार्तिक, 2/26.

3- प्रवचनसार, 2/83.

4- द्रव्यसंग्रह, गाथा 32.

5- सर्वार्थसिद्धि, 1/4.

दर्शन तथा मिथ्या चारित्र आदि भाव जिनके नहीं होते हैं, वे मुनि अशुभ या शुभ कर्मों से लिप्त नहीं होते हैं ।[1] कलश में भी अमृतचन्द्राचार्य इस तथ्य को व्यक्त करते हैं कि रागादि रहित विरागी को कर्मबन्ध नहीं होता।[2] यहाँ भावबन्ध ही प्रधान है ।

आचार्य उमास्वामी ने अपनी कृति तत्वार्थसूत्र में बन्ध के चार भेदों का उल्लेख किया है। वे हैं -- §1§ प्रकृति बन्ध, §2§ स्थिति बन्ध, §3§ अनुभाग बन्ध, §4§ प्रदेश बन्ध ।[3]

प्रकृति बन्ध - राग-द्वेषादि विभिन्न तरह के भावों के अनुसार भिन्न-भिन्न तरह के पौद्गलिक कर्मों का जीव में प्रवेश होता है। उन भिन्न-भिन्न कर्मों के अलग-अलग प्रकृत होने के कारण अलग-अलग फल देने की शक्ति भी उनमें होती है । पुनः उन कर्मों द्वारा प्रदत्त भिन्न-भिन्न परिणामों से भिन्न-भिन्न प्रकार के बन्ध होते हैं । उसे ही प्रकृति बन्ध कहा जाता है। "सर्वार्थसिद्धि" में कहा भी गया है कि "प्रकृति स्वभाव" यानी स्वभाव ही प्रकृति है ।[4] आचार्य वीरसेन ने भी बताया है "जिसके द्वारा आत्मा को अज्ञानादि रूप फल दिया जाता है वह प्रकृति है। जो कर्म स्कन्ध वर्तमान काल में फल देता है, और भविष्य में फल देगा - इन दोनों ही कर्मस्कन्धों को प्रकृति कहते हैं ।[5]मूलाचार में प्रकृति बन्ध के दो प्रकार बताये गये हैं -- §1§ मूल प्रकृति बन्ध, §2§ उत्तर प्रकृति बन्ध ।[6]

ज्ञानावरणादि आठ कर्म मूल प्रकृति बन्ध हैं तथा कर्मों के भेद-प्रभेद उत्तर-

---

1- समयसार, गाथा 270.

2- समयसार, कलश 165.

3- तत्त्वार्थसूत्र, 8/3.

4- सर्वार्थसिद्धि, 8/3.

5- धवला पु0 12, खण्ड 4, भाग-2, पृ0 304.

6- मूलाचार, गाथा 1221.

प्रकृति बन्ध कहलाते हैं। जैन परम्परा की अन्य कृतियों में भी प्रकृति बन्ध के अन्य भेद बताये गये हैं।

स्थिति बन्ध - स्थिति का तात्पर्य स्वभाव से लिया जाता है।[1] प्रत्येक ज्ञानावरणादि कर्म का स्वभाव वस्तु के वास्तविक ज्ञान को न होने देना है। इन कर्मों का स्वभाव बना रहना ही स्थिति है तथा आत्मा के प्रदेशों में इन कर्म रूप पुद्गलों के निवास होने की काल की मर्यादा को स्थिति बन्ध कहा गया है।[2] इसके भिन्न-भिन्न भेदों का उल्लेख मिलता है।

अनुभाग बन्ध - सभी कर्म पुद्गलों को अलग-अलग फल देने की भिन्न-भिन्न शक्ति होती है, जिसके कारण भिन्न-भिन्न तरह के बन्ध के रूप होते हैं, उसे ही अनुभागबन्ध कहते हैं। अनुभाग का तात्पर्य कर्मों में विविध प्रकार से फल देने की शक्ति[3] तथा कर्म की इस विशेष शक्ति का नाम अनुभव भी बताया गया है।[4] इस अनुभाग बन्ध के भी भिन्न-भिन्न भेद कहे गये हैं।

प्रदेश बन्ध - प्रदेश का तात्पर्य एक पुद्गल परमाणु द्वारा विस्थापित जगह से है। पुद्गल कर्मों के प्रदेशों का जीव के प्रदेशों से सम्बद्ध होना ही प्रदेश बन्ध है। तत्त्वार्थसूत्र में प्रदेश बन्ध का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि कर्म प्रकृतियों के कारण भूत प्रतिसमयोग विशेष के कारण सूक्ष्म एक क्षेत्रावगाही तथा स्थित अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु सब आत्मप्रदेशों में चिपक कर रहते हैं, इसी को प्रदेश बन्ध कहते हैं।[5] इस तरह जैन परम्परा के विभिन्न कृतियों के आधार पर बन्ध के प्रकारों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है।

1- सर्वार्थसिद्धि, 8/3.

2- कषायपाहुड, 3/358.

3- तत्त्वार्थसूत्र, 8/21.

4- सर्वार्थसिद्धि, 8/3.

5- तत्त्वार्थसूत्र, 8/24.

समयसार की टीकाआत्मख्याति में बन्ध विवेचन

जीव के वैभाविक परिणमन का नाम बंध है । समयसार की टीका आत्मख्याति के बन्धाधिकार के आरम्भ में कहा गया है कि जीव की रंगभूमि में बन्ध तत्त्व प्रवेश करता है। जीव की रंगभूमि में बन्ध तत्त्व के प्रवेश करने का तात्पर्य जीव के स्वभावगत गुणों के क्षेत्र में उससे भिन्न गुणभाव [विभाव] का पदार्पण होना है। आत्मा तथा पौद्गलिक – दोनों पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप से अस्तित्ववान् द्रव्य हैं। इन दोनों का एक दूसरे से तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करना [एक क्षेत्रागाह होना] ही बन्ध है। इसी से आत्मा अशुद्ध होता है।

अमृतचन्द्राचार्य के अनुसार रागादिकों के साथ उपयोग की एकभूमिकता ही बन्ध का कारण है। व्याप्त जगत् में बन्ध का कारण इसके सिवाय न तो कर्म की प्रचुरता है, न परिस्पन्दात्मक कर्म अर्थात् योग और न चित् अचित् वस्तु का घात ।[1] यहाँ बन्ध का मूल कारण रागादिक भाव है। इसे एक उदाहरण द्वारा कहा गया है – तैलादिक का लेप कर योद्धा अपने स्वभाव वश धूल युक्त भूमि में नाना प्रकार का व्यायाम करता है। इस कार्य में धूल का सम्बन्ध उसके शरीर से तैलादिक पदार्थ के कारण हो जाता है। इसी प्रकार जीव का पुद्गल द्रव्यों से सम्बन्ध का कारण उसका रागादिक भाव है। यहाँ आचार्य तैलादिक तरल पदार्थों में धूल को चिपकाने की क्षमता से रागादिक भावों में पौद्गलिक कर्माणुओं को चिपकाने की क्षमता का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। यहाँ बन्ध के अन्य कारणों का निषेध करके इसी रागादिक भाव को मुख्य कारण के रूप में प्रस्तुत किया गया है ।[2]

समस्त लोक को कर्मों से भरने, मन वचन – काय के निमित्त से आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द होने, पाँचों इन्द्रियों तथा मन व तत्साधन बाह्य पदार्थों से, चेतना-चेतन पदार्थ के घात होने से , बन्ध तब तक नहीं हो सकता है, जब तक कि जीव स्वयं अपने उपयोग में रागादिक रूप परिणमन नहीं करता ।[3] इस

1- समयसार, कलश 164.

2- समयसार टीका आत्मख्याति, 237-241.

3- समयसार, कलश 165.

तरह जीव के रागादिक भाव से युक्त स्थिति ही बन्ध की स्थिति है। अज्ञानी जीव का ही बन्ध होता है। उसमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व की भावना व्याप्त होती है। किसी को मारने, जीवित करने आदि का मिथ्या अहंकार करना, उक्त कर्मों के कारण स्वरूप किसी दूसरे को मानना अज्ञान रूप अध्यवसान है। ऐसे अज्ञानी को अमृतचन्द्राचार्य मिथ्यादृष्टि, आत्मघाती आदि शब्दों द्वारा इंगित करते हैं।[1] आत्मख्याति में सभी प्रकार के रागादिक भावों से युक्त कर्म को बन्ध का कारण कहा गया है। कर्म, वह शुभ हो या अशुभ, पुण्य से सम्बन्धित हो या पाप से - सभी बन्ध के कारण हैं।[2] अध्यवसाय को बन्ध का कारण कहा गया है। जिस प्रकार हिंसा में अध्यवसाय पाप बन्ध का कारण है वैसे ही असत्य, अदत्त, अब्रह्म, परिग्रह इनमें भी अध्यवसाय पाप बन्ध का कारण है तथा जिस प्रकार अहिंसा में अध्यवसाय पुण्य बन्ध का कारण है वैसे ही सत्य, दत्त, ब्रह्मचर्यतथा अपरिग्रह में किया गया अध्यवसाय पुण्य बन्ध का कारण है।[3]

इस तरह टीका आत्मख्याति में बताये गये बन्ध के सभी कारणों में जीव का अज्ञान से आच्छादित होना प्रथम महत्त्वपूर्ण कारण है। जीव के अज्ञान से आच्छादित होने कारण रागादिक भाव रूप परिणमता है। यह रागादिक भाव शुद्ध चैतन्य आत्म स्वभाव से सर्वथा भिन्न है। यहाँ यह प्रश्न सहज ही उठता है कि इस रागादिक का निमित्त क्या है? इस तथ्य का निरूपण करते हुए अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि आत्मा स्वयं ही कभी रागादिक रूप परिणमन में निमित्त भाव को प्राप्त नहीं होता, जिस प्रकार की स्फटिकमणि स्वयं लाल, पीले आदि विविध रंग रूप परिणमन में निमित्त को प्राप्त नहीं होता। रागादिक रूप परिणमन में तो पर द्रव्य का संग ही निमित्त कारण है। अर्थात् मोहादिक पुद्गल कर्म के विपाक को निमित्त पाकर आत्मा रागादिक रूप में वैसे ही परिणमित हो

1- समयसार टीका आत्मख्याति, 247-261.

2- वही, 146.

3- वही, 263-64.

जाता है, जिस प्रकार स्फटिकमणि लाल, पीले आदि पदार्थों के संसर्ग से तद् तद्रूप परिणम जाता है।[1] अस्तु बन्ध का विवेचन व्यवहारिक है। जीव शुद्ध चैतन्य ज्ञायक मात्र है। यह जीव का अपना स्वरूप है। अपने स्वरूप ज्ञान से च्युत होने पर यह अपने से भिन्न भावों को अपना जानकर उसमें परिणमने लगता है। जीव के बन्ध की स्थिति का विवेचन उसके अज्ञान के विवेचन के सन्दर्भ में किया गया है। जीव की प्रकृति, स्थिति, अनुभाग तथा प्रदेश बन्ध का कारण उसमें रागादिक भावों का उदय है। इन रागादिक भावों के कारण जीव कर्मों की ओर आकृष्ट होता है, कर्तृत्व का अहंकार करता है तथा इसी को अपना स्वभाव समझकर हानि-लाभ की अपेक्षा से लाभ की ओर अग्रसर होता है। इस रागादिक भाव के उदय को निर्दयतापूर्वक विदारण करने वाली तथा अज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट करने वाली शक्ति ज्ञान रूप ज्योति है। ज्ञान रूप ज्योति के प्रज्वलित होने से तत्क्षण ही रागादिक तथा अज्ञान भाव का अभाव हो जाता है।[2] इस तरह आत्मख्याति में बन्ध का विवेचन अज्ञानी जीव के सन्दर्भ में किया गया है। यहाँ रागादिक भाव को बन्ध का मूल कारण कहा गया है। सम्पूर्ण लोक को कर्मवर्गणाओं से भरे होने मात्र से जीव बन्ध की चपेट में नहीं आता। उपयोग में जब तक रागादिक भावों का प्रवेश नहीं होता है तब तक जीव बन्धग्रस्त नहीं होता।

मोक्ष की अवधारणा एवं भारतीय दर्शन में इसका स्वरूप

मोक्ष मानव जीवन के चार पुरुषार्थों में शीर्षस्थ है। मोक्ष की धारणा भारतीय दर्शन की सर्वोच्च उपलब्धि मानी जाती है। इस भवाटवी का प्रत्येक विवेकशील जीव अपने को सांसारिक उलझनों, प्राकृतिक तथा कई तरह की समस्याओं

1- समयसार कलश, 175.
2- वही, 179.

के बीच पाता है। जीवन में कभी भी कोई ऐसा क्षण नहीं मिलता जब मनुष्य अपने को सभी तरह के बन्धनों से मुक्त समझे। इसी स्थिति को बन्धावस्था कहा गया है। इस बन्धावस्था से परे होने की स्थिति को मुक्ति कहा गया है।

मोक्ष शब्द का अभिप्राय मुक्ति, निर्वाण, कैवल्य, अपवर्ग आदि से समझा जाता है। इसका शाब्दिक अर्थ "छुटकारा होना" या "स्वतन्त्र होना" कहा जा सकता है। दार्शनिक क्षेत्र में जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा पाना मोक्ष है। मोक्ष की इस आध्यात्मिक धारणा का प्रयोग लगभग भारतीय दर्शन के सभी संप्रदायों [चार्वाक को छोड़कर] में हुआ है। प्रायः सभी भारतीय दार्शनिकों का मोक्ष के सम्बन्ध में भावात्मक विचार ही है। सभी दार्शनिक संप्रदायों का यह मानना है कि हमारे दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है। लेकिन मोक्ष के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में इन दार्शनिक संप्रदायों के बीच आपसी मतभेद है। वस्तुतः मोक्ष या मुक्तात्मा का स्वरूप एक अवर्णनीय तथ्य है। इसका ज्ञान इन्द्रिय, मन, वचन तथा तर्कादि ज्ञान साधनों से सम्भव नहीं है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि वाणी, मन अथवा चक्षु से इसकी प्राप्ति सम्भव नहीं, केवल सूक्ष्म बुद्धि से इसे ग्रहण किया जा सकता है।[1] निर्वाण की सत्ता पर भावात्मक प्रकाश डालते हुए बौद्ध मत के आचार्य नागसेन ने बताया है कि यह न तो चक्षुर्विज्ञान का विषय है, न कान का, न नासिका का, न जिह्वा का और न ही स्पर्श का विषय है। इतना होते हुए भी निर्वाण की सत्ता का निषेध नहीं किया जा सकता है। यह विशुद्ध मनोविज्ञान का विषय है।[2] इस विशुद्ध आत्मा के बारे में भगवान महावीर ने भी बताया है कि वहाँ वाणी की पहुँच नहीं, तर्क की गति नहीं, बुद्धि तथा मति की भी पहुँच नहीं, वह दीर्घ नहीं, ह्रस्व नहीं, त्रिकोण नहीं, कृष्ण नहीं,

---

1- कठोपनि०, 2/6/12, 1/3/12.

2- मिलिन्दप्रश्न, 4/7/15, पृ० 265, उदान 71.

नील नहीं, स्त्री तथा पुरुष भी नहीं। यह उपमारहित तथा अनिर्वचनीय है।[1] इस तरह मोक्षावस्था की अनुभूति मन व वाणी की सीमा से परे है, फिर भी भारतीय दार्शनिकों ने इस तत्त्व के सम्बन्ध में स्वतन्त्र विचार करने का यत्न किया है जिसका अत्यन्त संक्षिप्त रूप प्रस्तुत है--

चार्वाक दर्शन में मोक्ष

चार्वाक दर्शन भौतिक वादी विचारधारा का प्रवर्तक है। इनके अनुसार यदि जीवन में सभी प्रकार के दुःखों से छुटकारा मिल जाय तो उसी मुक्ति में विश्वास किया जा सकता है, लेकिन दुःखों से मुक्त होना जीवन से मुक्त होने के बाद ही सम्भव है। अतएव ये लोग "मरणम् एवं अपवर्गः" में विश्वास करते हैं। चार्वाक वेदान्तियों की निन्दा करते हुए बताते हैं कि आत्मा तथा ब्रह्म की सत्ता में आत्मा रूपी "स्व" को मिटाना तथा मोक्षावस्था में उसे ब्रह्म में स्थित मानना चातुर्य यानी मूर्खता है।[2] न्याय दर्शन के गौतम के सम्बन्ध में चार्वाक का विचार है कि जो चेतनशील प्राणियों को पाषाणवत् जड़ हो जाने को मुक्ति की संज्ञा देता है वह वास्तव में गौतम है यानी गायों (पशुओं) में ही उत्तम है।[3] इनके अनुसार पूजा-पाठ तथा सेवादि से भी मोक्ष प्राप्ति नहीं होती है। ये कहते हैं कि लक्ष्मी, पार्वती आदि अपने पति विष्णु, शिव आदि की सेवा करती हैं तो क्या उन्हें मोक्ष की प्राप्ति हो गई है ? नहीं। वे बिल्कुल कामदेव के कारागार में बन्द हैं। इस तरह विष्णु, शिव जैसे काल्पनिक देव की सेवादि से भी मोक्ष सम्भव नहीं है।[4] इस तरह चार्वाक भौतिकवादी तथा प्रत्यक्षवादी दर्शन है। इसकी विचारधारा में न तो शाश्वत आत्मा है, न कोई ईश्वर या ब्रह्म और न आत्मा तथा ब्रह्म के समागम से मोक्ष को ही स्वीकारा गया है।

1- आचरांग सूत्र, 170.

2- चार्वाक षष्ठी, 38.

3- वही, 39.

4- वही, 40.

बौद्ध दर्शन में निर्वाण

बौद्ध दर्शन निर्वाण की सत्ता में अटूट विश्वास करता है। बौद्ध दर्शन की विचार व्यापकता एवं अस्पष्टता के कारण इसके विभिन्न निकायों का प्रादुर्भाव हुआ है। उनमें से वैभाषिक, सौत्रान्तिक, माध्यमिक तथा योगाचार सम्प्रदाय प्रमुख हैं। इन चारों निकायों ने निर्वाण को मानव जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य बताया है। लेकिन निर्वाण के स्वरूप के सम्बन्ध में चारों का भिन्न-भिन्न विचार है। वैभाषिक निर्वाण को द्रव्य सत् या भाव मानते हैं, सौत्रान्तिक निर्वाण को अभाव मानते हैं। दोनों सम्प्रदाय निर्वाण के स्वरूप को लेकर आपस में बिल्कुल विपरीत हैं। उक्त दोनों सम्प्रदाय में निर्वाण को भाव मानने से शाश्वतवाद तथा अभाव मानने से उच्छेदवाद का दोष उपस्थित हो जाता है। इन दोनों निकायों के विचारों के प्रति समन्वयात्मक प्रस्तुति योगाचार करता है जिसके अनुसार निर्वाण भाव एवं अभाव दोनों है। बौद्ध दर्शन का चौथा निकाय माध्यमिक निर्वाण को शून्य से स्पष्ट करता है। इसके अनुसार निर्वाण भाव, अभाव, उभय तथा अनुभय आदि चतुष्कोटियों से परे का तत्व है। इसके अनुसार विश्व तथा निर्वाण दोनों अनादि तथा अनन्त है। संवृति दृष्टि से जो संसार है वही परमार्थ दृष्टि से निर्वाण है। निर्वाण या मोक्ष के सम्बन्ध में भावात्मक विचार प्रस्तुत किया जाता है कि यह अवस्था मात्र दुःखों का अन्त ही नहीं बल्कि आध्यात्मिक आनन्द की अवस्था है। बौद्ध परम्परा में भी निर्वाण को असंस्कृत, ध्रुव, शुभ तथा सुखरूप बताया गया है।[1] निर्वाण को आनन्द की पराकाष्ठा कहा गया है।[2] इस तरह बौद्ध का निर्वाण भी उपनिषद् के मोक्ष की अवधारणा के सदृश हो जाता है।

1- विसुद्धि मग्ग, 16/71, 16/90.

2- मज्झिम निकाय, 57.

न्याय-वैशेषिक में मोक्ष

न्याय-वैशेषिक ने भी मानव का परम् लक्ष्य मोक्ष ही बताया है । न्याय-दर्शन के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति तत्त्व-ज्ञान से होती है। अन्य दर्शन संप्रदायों की भाँति यहाँ भी जन्म के चक्र की समाप्ति को ही मोक्ष कहा गया है ।[1] जन्म के चक्र को रोकने हेतु प्रवृत्ति को नष्ट करना आवश्यक है तथा प्रवृत्ति को नष्ट करने हेतु राग, द्वेष व मोहादि दोषों को नष्ट करना आवश्यक है। इन दोषों का क्षय मिथ्याज्ञान की समाप्ति से सम्भव है । मिथ्याज्ञान तत्त्वज्ञान की प्राप्ति से नष्ट होता है ।[2] इस तरह मोक्ष को तत्त्वज्ञान कहा गया है। मोक्षावस्था में न्याय का आत्मा शान्त, निर्विकार, जड़ एवं संज्ञाशून्य हो जाता है । न्याय दर्शन में इक्कीस प्रकार के दुःखों की चर्चा है, जिसका पूर्णतः क्षय मोक्षावस्था में होता है। मोक्षावस्था इन सभी प्रकार के दुःखों की विनाश की स्थिति है। न्याय दर्शन ने भी सांख्य के समान मोक्षावस्था को परमानन्द की अवस्था होना अस्वीकार किया है ।

सांख्य-योग दर्शन में मोक्ष

अन्य भारतीय दार्शनिक संप्रदायों की भाँति सांख्य-योग दर्शन में भी संसार में व्याप्त दुःखों के निरोध हेतु मोक्ष की कल्पना की गई है । सांख्य के अनुसार तीन प्रकार के दुःखों[3] (आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक) का पूर्णतः विनाश होना मोक्ष है। योग-दर्शन में विभिन्न यौगिक अभ्यासों के द्वारा आत्मा का वास्तविक स्वरूप जान लेना मोक्ष है । ईश्वरकृष्ण ने बताया है कि ज्ञान से अपवर्ग तथा अज्ञान से बन्ध होता है ।[4] यह ज्ञान सांख्य के पच्चीस तत्त्वों को भली-भाँति समझकर पुरुष, प्रकृति के भावों से अपने को भिन्न समझकर प्राप्त करता है । सांख्य का पुरुष स्वतः त्रिगुणातीत, निर्लिप्त तथा उदासीन है। वह बन्ध एवं मोक्ष

1- न्यायसूत्र, 1/1/22.

2- वही, 1/1/2.

3- ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका, 1.

4- वही, 44.

को स्वतः प्राप्त नहीं होता है। प्रकृति नानारूपों का आश्रय लेकर पुरुष में राग का सम्पादन कर उसमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि की बुद्धि उत्पन्न करती है। इस तरह वास्तविक रूप से बन्ध मोक्ष की प्रक्रिया प्रकृति की ही कही गई है ।[1] इसप्रकार जहाँ जैन, बौद्ध तथा वेदान्त दर्शन में मोक्ष की अवस्था को दुःखों के पूर्णतः विनाश के साथ-साथ परमानन्द की भी अवस्था मानी गई है, वहाँ सांख्य-दर्शन इस विचारधारा के विरुद्ध है । यह मोक्ष की अवस्था में दुःखत्रय का पूर्ण विनाश मानता है, लेकिन वेदान्त आदि के समान मोक्ष को आनन्द की अवस्था नहीं मानता है ।

मीमांसा एवं अद्वैत वेदान्त में मोक्ष

मीमांसा एवं वेदान्त दर्शन में भी मोक्ष को मानव जीवन का परम पुरुषार्थ माना गया है। मीमांसा के अनुसार जागतिक प्रपंचों से आत्मा का सम्बन्ध विच्छेद होना मोक्ष है ।[2] इस सम्बन्ध के तीन प्रकार हैं - शरीर (भोगायतन) इन्द्रियाँ (भोग साधन) तथा विषय (भोग्य)। इसी त्रिकालपाश से जकड़ा हुआ जीव बंधनग्रस्त कहलाता है तथा इन्हीं तीनों का आत्यन्तिक विनाश ही मुक्ति है।

अद्वैत वेदान्त मोक्ष को जीवन का अन्तिम महत्वपूर्ण परम् पुरुषार्थ मानता है। मोक्ष के सम्बन्ध में शंकर का मत है - "यह जो परम अर्थों में यथार्थ है, निर्विकार है, नित्य है, आकाश के सदृश सर्वान्तर्यामी है, हर प्रकार के परिवर्तन से मुक्त, सर्वसन्तोषप्रद, अविभक्त, जिसका स्वरूप ही उसका अपना प्रकाश है और जिसके अन्दर न तो भला है न बुरा, न कोई प्रभाव है, न भूत न वर्तमान और न भविष्यत् को कोई स्थान है - इस अलौकिक को मोक्ष कहा गया है ।[3] इस तरह यहाँ भी मात्र अपने स्वरूप में प्रकाशित होने वाले आत्मा को मुक्त माना गया है।

1- सांख्यकारिका, 62.

2- प्रपंच सम्बन्ध विलयो मोक्षः .

3- शांकर भाष्य, 1/1/4.

जैन दर्शन में मोक्ष एवं उसका स्वरूप

जैन दर्शन में वर्णित सात तत्त्वों में मोक्ष को भी एक तत्त्व बतलाया गया है तथा इस पर गम्भीरता से विचार किया गया है। जैन दर्शन में आत्मा का अपने वास्तविक रूप यानी स्वभाव में आ जाना ही मोक्ष की प्राप्ति का सूचक है। आत्मा भावकर्म, [राग द्वेषादि], द्रव्य कर्म [ज्ञानावरणादि] तथा नोकर्मों [शरीरादि कर्मों] से जब विरक्त होती है तब अपने आत्मिक गुणों [अनन्तज्ञान अनन्त दर्शनादि] को प्राप्त होती है । उसकी इसी अवस्था को मोक्ष की अवस्था कहा गया है । जैन दर्शन में आत्मा तथा कर्मपुद्गलों के प्रवाह से कर्मास्रव होता है। यही कर्मास्रव बन्धन का मूल कारण है। इसी कर्मास्रव के रुकने तथा संचित कर्मों का क्षय होने से मोक्ष होता है । "सर्वार्थसिद्धि" में कहा गया है कि समस्त कर्मों का आत्यन्तिक उच्छेद होना मोक्ष है ।[1] आचार्य अमितगति ने भी बताया है कि मोक्ष में आत्मा से समस्त कर्मों का पूर्णतः सम्बन्धाभाव होता है । इसे "विश्लेष" एवं "विमोक्ष" भी कहा जाता है तथा यह तभी सम्भव है, जब बन्ध के मिथ्या दर्शनादि सभी हेतु नष्ट हो जायें । इसका दूसरा नाम "अपुनर्भव" बताया गया है । "अपुनर्भव" का अर्थ है - पुनः उद्भव [जन्म] से रहित यानी भुने हुए बीज, जो पुनः अंकुरित न हो सके, के समान ।[2]

बौद्धों के सौत्रांतिक मत के समान जैन दर्शन में मोक्ष को अभाव रूप नहीं स्वीकारा गया है । आचार्य कुन्दकुन्द ने बताया है कि मोक्ष में जीवों का असद्भाव मानने से जीव के शाश्वत्-उच्छेद, भव्य-अभव्य, शून्य-अशून्य, विज्ञान-अविज्ञान रूप भावों का अभाव हो जायगा - जो अनुचित है । इस तरह मोक्ष में जीव का अभाव नहीं हो सकता ।[3]

जैन दर्शन वेदान्त सम्मत विचारों की भाँति मोक्ष को आनन्द की अवस्था मानता है। आनन्द या सुख दो प्रकार के बताये गये हैं - इन्द्रिय तथा आत्मिक । मोक्षावस्था में इन्द्रिय सुख का उच्छेद भी दुःख उच्छेद की ही भाँति हो जाता है

1- कृत्स्नकर्मविप्रयोगलक्षणो मोक्षः । -सर्वार्थसिद्धि, 1/4.

2- योगसारप्राभृत, मोक्षाधिकार, श्लोक 1.

3- पञ्चास्तिकाय, गाथा 46.

लेकिन मोक्षावस्था को आत्मिक सुख से परे नहीं बताया गया है, क्योंकि मोक्ष में आत्मा अपने स्वाभाविक गुणों के तहत होती है। अतएव उसे अपने स्वाभाविक अर्थात् आत्मिक सुख की प्राप्ति होती है। आचार्य अकलंकदेव ने मोक्ष को उदाहरण द्वारा बताते हुए कहा है कि जिस प्रकार मानव जंजीर आदि बन्धन से छूटकर अपने स्वेच्छा से कार्यरत होने में सुख का अनुभव करता है, उसी प्रकार समस्त कर्म बन्धन के नष्ट हो जाने पर आत्मा स्वाधीन होकर अत्यधिक ज्ञान दर्शन रूप अनुपम सुख का अनुभव करती है ।[1] इस मोक्ष के सुख को अनन्त, अपूर्व, अव्याबाध, अनुपम तथा अविनाशी बताया गया है ।[2] परन्तु जैन एवं वेदान्त सम्मत मोक्ष में आनन्दावस्था की विचारणा में मतभेद है। वेदान्त की धारणा के अनुसार मोक्ष की अवस्था केवल अनन्त सुख स्वरूप है, ज्ञानादि स्वरूप नहीं । लेकिन जैनियों ने इस अवस्था को अनन्त सुख के साथ-साथ ज्ञानादि स्वरूप भी कहा है । आचार्य विद्यानन्दी ने अपनी कृति "अष्टसहस्री" में काफी तर्क-वितर्क द्वारा यह बताया है कि मोक्ष में आनन्दावस्था की धारणा स्थापित करने के लिए उसे ज्ञानादि स्वरूप का होना-मानना आवश्यक है ।[3]

इस तरह जैन दर्शन में मोक्ष को भावात्मक सत्ता के रूप में कहा गया है। यह आत्मा की नितान्त शुद्ध एवं वास्तविक स्थिति है। इस अवस्था में आत्मा अपने स्वाभावादि गुणों से सुसम्पन्न होता है। आत्मा का अनात्मा से भेदज्ञान होने, सभी पौद्गलिक कर्मों का क्षय, अनात्म वस्तुओं से भिन्नता स्थापित होने का नाम मोक्ष है। एतदर्थ यह ज्ञानादि स्वरूप है ।

आत्मख्याति सम्मत मोक्ष विचार

मोक्ष दर्शन जगत् का अन्तिम सोपान है। इस सोपान से गुजरने के पश्चात् समस्त क्लेशों की निवृत्ति के साथ-साथ जन्म-मृत्यु शृंखला का भी अन्त हो जाता है। दर्शन मार्ग का चाहे कोई भी पथिक हो, उसने अपनी विचारणा का विषय

1- तत्त्वार्थवार्तिक, 1/4/27.

2- धर्मशर्माभ्युदय, 21/165.

3- अष्टसहस्री, पृ0 69.

मोक्ष को अव्यय बनाया है। मोक्ष तत्त्व पर करीब-करीब सभी भारतीय दार्शनिक निकायों ने अपना विवेचन विशिष्टता से सम्पन्न किया है ।

आचार्य कुन्दकुन्द की आध्यात्मिक कृति समयपाहुड़ के प्रथम समर्थ टीकाकार अमृतचन्द्राचार्य जी हैं। यह कृति जैन अध्यात्म ग्रन्थों में सर्वोत्कृष्ट महत्त्व वाली मानी जाती है, साथ-साथ इस पर अमृतचन्द्राचार्य की की गई टीका आत्मख्याति को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है । इस कृति में पर से सर्वथा भिन्न अपने निज के गुण पर्याय समवेत-एकत्व को प्राप्त सुविशुद्ध आत्मा का वर्णन है, जिसे "स्वसमय" भी कहा गया है। यह स्वसमय जब अपने स्वभाव में स्थित रहता है, तब वह बिल्कुल शुद्ध रहता है, लेकिन जब यह आत्मा पौद्गलिक कर्म भावों को अपना स्वभाव समझने की भूल करता है तब वह बन्धनग्रस्त होता है। ऐसी भूल में वह नाना प्रकार के कर्म सम्पादित करता है, जो उसके भविष्य के लिए भी बन्धन की प्रगाढ़ता बढ़ाते रहते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार आत्मा एवं बन्ध को पृथक् करना ही मोक्ष है ।[1] उन्होंने अपनी कृति "तत्त्वार्थसार" में मोक्ष की परिभाषा में बताया है कि बन्ध के कारणों का अभाव तथा पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा से समस्त कर्मों का सदा के लिए छूट जाना ही मोक्ष है ।[2] अमृतचन्द्राचार्य ने यह स्पष्ट किया है कि यह समझना कि बन्ध का स्वरूप या इसके कारणों को जान लेने से या इसकी सदैव चिन्ता करने से मोक्ष की प्राप्ति हो जाएगी - अनुचित है। इसे एक उदाहरण द्वारा समझाते हुए आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार बेड़ी आदि से बँधे हुए पुरुष को बेड़ी आदि बन्धन के स्वरूप को जानना ही बेड़ी आदि कटने का कारण नहीं होता, उसी तरह कर्म से बन्धे हुए पुरुष को कर्म के बन्ध का स्वरूप जानना मात्र ही कर्म बन्ध से छूटने का कारण नहीं है। इसी प्रकार नाना प्रकार के धर्मध्यान रूप शुभ परिणाम भी मोक्ष के कारण नहीं हैं ।[3]

इस तरह "समयसार" के अनुसार मोक्ष प्राप्त करने हेतु आत्मा तथा बन्ध को पृथक् करने हेतु बन्ध को जानना या उसकी चिन्ता कर धर्मध्यान संयत शुभ

1- समयसार टीका, 288-90. ·

2- तत्त्वार्थसार, 8/2.

3- समयसार टीका, आत्मख्याति, 288-291.

परिणाम प्राप्त करना मात्र ही यथोचित् नहीं है। आत्मा तथा बन्ध को पृथक्-पृथक् करने हेतु प्रज्ञा रूप छैनी यानी ज्ञान स्वरूप बुद्धि का प्रयोग किया गया है। प्रज्ञा से आत्मा तथा बन्ध दोनों भिन्न-भिन्न दृष्टिगत होंगे । आत्मा का लक्षण चैतन्य है तथा बन्ध का स्वरूप रागादि भाव है, जो चैतन्य रूप से अत्यन्त विलक्षण है। जब प्रज्ञा से दोनों की भिन्नता स्पष्ट हो जाती है, तब आत्मा को अपने स्वभाव का ज्ञान हो जाता है। ऐसी स्थिति में बन्ध अपने स्वभाव रागादि भाव से विरत रहता है तथा आत्मा अपने शुद्ध चैतन्य भाव में ।[1] इस तरह आत्मा का अपने स्वभाव में रहना उसकी परम् शुद्धावस्था है, जो पूर्णतया मुक्तावस्था ही कहला सकता है । पर द्रव्य को अपनाने वाला ही बन्ध की चपेट में आता है । जो जीव अपने स्वरूप में रहता है, वह बन्धरहित होता है। मोह-राग-द्वेषादि भाव में फँसने वालों के लिए बन्ध है ।[2]

ऐसी आत्मा जो परभावों को स्वभाव समझने लगती है वह अपराधी है । उसे दण्ड में पुद्गल परमाणु रूप कर्मों से बँधना पड़ता है, इसके विपरीत निरपराधी आत्मा कभी बन्धनग्रस्त नहीं होती है ।[3] आचार्य अमृतचन्द्र ने बताया है कि बिना कारण बन्ध नहीं होता है, तथा मुक्ति प्राप्त होने के बाद उस जीव को पुनः बन्धनग्रस्त होने की सम्भावना नहीं होती है ।[4] मुक्त आत्मा का कोई कर्म बन्ध का कारण नहीं होता, क्योंकि वह रागादि भावों से किसी कार्य का सम्पादन नहीं करता। उसमें आस्रव तत्त्व का पूर्णतः अभाव हो चुका रहता है, इसलिए उसके पतन का प्रश्न ही नहीं उठता।[5] अमृतचन्द्रकृत समयसार टीका, एवं इनके अन्य ग्रन्थों के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि मोक्ष एक भावात्मक सत्ता है । यहाँ आत्मा अपने स्व लक्षण चैतन्य में जब स्थित रहती है, वही उसकी मुक्तावस्था है।

1- समयसार टीका, 292-294 ; कलश सं0 181-182.

2- समयसार टीका, आत्मख्याति, 301-303.

3- समयसार कलश, 187.

4- तत्त्वार्थसार, 8/10.

5- वही, 8/11.

आचार्य अमृतचन्द्र ने मुक्तावस्था को परम् सुख की अवस्था माना है ।[1] सुख आत्मा का स्वाभाविक गुण है। यह जब अपने स्वभाव में रहता है, तो परम् सुख का अनुभव करता है, लेकिन जब मोहादि कर्मों के उदयकाल में आत्मा के जो वैभाविक परिणमन होने लगते हैं, उसी से नाना प्रकार के सांसारिक क्लेश होते हैं ।[2] मुक्तावस्था के सुख को अनुपम बताया गया है। मुक्त जीवों का सुख हेतु रहित तथा अप्रसिद्ध होता है। अतएव यह अनुमान तथा उपमान प्रमाण का विषय न होकर बिल्कुल "निरुपम" होता है ।[3] इस तरह अमृतचन्द्राचार्य यह स्वीकार करते हैं कि मुक्तावस्था परमानन्द की अवस्था है। यहाँ स्पष्ट है कि स्वतः अर्हत भगवान् ने प्रत्यक्ष अनुभव कर मुक्त जीवों के सुख का निरूपण किया है ।[4]

इसप्रकार समयसार की टीका आत्मख्याति का उद्देश्य ही शुद्धात्मा का विवेचन करना है। शुद्ध आत्मा का तात्पर्य मुक्त आत्मा से है। आत्मा के मुक्ति की स्थिति तब तक नहीं होती जब तक कर्मोदय होता रहता है तथा रागादिक के अभाव में ज्ञान की निर्विकल्प परिणति नहीं होती । इस कर्मोदय तथा ज्ञान की निर्विकल्प परिणति नहीं होने तक जो भी शुभाशुभ कर्म सम्पादित होता है, वह सब बन्ध का ही कारण होता है ।[5]आचार्य ने बताया है कि जो ज्ञान को जाने बिना कर्मनय के अवलम्बन में तत्पर रहते हैं, साथ-साथ वे जो ज्ञान नय के इच्छुक होकर भी धर्माचरण के विषय में अत्यन्त स्वच्छन्द तथा मन्दोत्साही रहते हैं - वे सब डूबते हैं, अर्थात् बन्ध के गर्त में समाये रहते हैं। वह जो निरन्तर स्वयं ज्ञान रूप होते हुए न तो कर्म करता है, और न कभी प्रमाद के वशीभूत होता है, वही इस संसार को पार करता है, यानी मोक्ष प्राप्त करता है ।[6]

1- तत्त्वार्थसार, 8/45.

2- वही, 8/46-49.

3- वही, 8/52-53.

4- वही, 8/54.

5- समयसार कलश, 110.

6- वही, 111.

इस तरह समयसार के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि आत्मा को बन्ध से पृथक् करना मोक्ष है। आत्मा स्वभाव रूप है तथा बन्ध विभाव रूप। मोक्ष में स्वभाव परिणमन रहता है। इसके विपरीत स्वभाव का विभाव परिणमन ही बन्ध है। बन्धोच्छेद का मूल उपाय "प्रज्ञा" को बताया गया है। प्रज्ञा को ऐसे विज्ञान से सम्बोधित किया गया है, जो नियत स्वलक्षण का अवलम्बन करने को उपदेश देता है । प्रज्ञा ही आत्मा तथा बन्ध के भेद को निरूपित करता है, पुनः आत्मा को उसके अनादि अनन्त रूप स्वलक्षण चैतन्य का ज्ञान कराता है, तथा उसे बन्ध के स्वलक्षण रागादि का ज्ञान कराकर उससे विरक्त होने का उपदेश देता है। आत्मा प्रज्ञा से अपने को अद्वैत समझकर अपने इस स्वरूप को ध्यान में रखकर अपने लक्ष्य प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील होता है, तत्पश्चात् मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

मोक्ष मार्ग

समयसार की टीका "आत्मख्याति" के अनुसार मोक्ष, जीव की भावात्मक एवं वास्तविक सत्ता का नाम है। जीव की वास्तविक स्थिति उसके स्वभाव की स्थिति के अनुकूल है। जीव का स्वभाव शुद्ध चेतन ज्ञायक मात्र है। इससे भिन्न जीव के समस्त भाव उसके विभाव रूप परिणमन के द्योतक हैं। इस तरह जीव का अपने वास्तविक गुणों में अधिष्ठित होना ही मोक्ष है। और इस मोक्ष रूपी साध्य को प्राप्त करने हेतु कुछ उपायों या मार्गों का उल्लेख करना भारतीय दर्शन की पुरातन परम्परा है। भारतीय दर्शन में इस दृष्टिकोण से जैन दर्शन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रहा है। जैन दर्शन में मोक्ष मार्ग के रूप में रत्नत्रय का वर्णन किया गया है। इसे त्रिविध साधना मार्ग या त्रिरत्न के नाम से भी जाना जाता है ।

आचार्य अमृतचन्द्र सूरि भी कुन्दकुन्दाचार्य की गाथाओं के आधार पर जैन दर्शन की परम्परा के अनुकूल मोक्ष मार्ग के रूप में रत्नत्रय का विवेचन करते हैं । निश्चय नय से मोक्ष का कारण सम्यग्दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र है ।[1] यही त्रिरत्न

1- समयसार टीका, आत्मख्याति, 155.

मोक्ष के स्वभाव तथा कारण है ।[1] इन त्रिरत्नों से भिन्न अन्य जैसे – देहलिंग को मोक्ष मार्ग के रूप में निषेध किया गया है ।[2] द्रव्यलिंग को निश्चय मोक्ष मार्ग का निषेध करते हुए अमृतचन्द्राचार्य ने बताया है कि शरीर के आश्रित होने से वह परद्रव्य है ।[3] अतएव सभी द्रव्यलिंगों को छोड़कर दर्शन-ज्ञान तथा चारित्र में आत्मा को युक्त करना चाहिए।[4] परमार्थ रूप से आत्मा के परिणाम हैं – दर्शन, ज्ञान, तथा चारित्र । यही मोक्ष मार्ग है। आत्मा को इसी में प्रतिष्ठित रहना चाहिए। इस तरह इतना स्पष्ट है कि जैन विचारणा के अनुकूल आचार्य अमृतचन्द्र ने भी इन तीनों साधनों को मोक्ष मार्ग माना है। अब इन तीनों साधनों को संक्षिप्त में वर्णन कर इन्हें स्पष्ट किया जा रहा है —

सम्यग्दर्शन

सम्यग्दर्शन मोक्ष मार्ग का प्रथम सोपान है। यह शब्द "सम्यक्" तथा "दर्शन" दो शब्दों के संयोग से बना है । मोक्ष मार्ग के रूप में वर्णित दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र के पहले सम्यक् शब्द लगे रहने से ऐसा प्रतीत होता है कि यह शब्द दर्शन या ज्ञान या चारित्र के किसी विशिष्ट प्रकार का उल्लेख करता है। समयसार टीकातथा जैन परम्परा में आत्मा अपने से भिन्न भावों को ग्रहण कर बन्धन ग्रस्त हो जाती है, किन्तु इन भावों का अपने स्वभाव में परिणत करने की क्रिया को मोक्ष कहा गया है ।

समयसार टीका प्रज्ञा से मोक्ष की प्राप्ति मानती है । यहाँ प्रज्ञा जीव तथा अजीव को स्वभावगत ज्ञान कराकर जीव को अपने स्वभाव में रहने का दृष्टिकोण देती है । यहाँ जीव या आत्मा के स्वभाव रूप परिणमन हेतु सम्यग्दर्शन - ज्ञान तथा चारित्र का निर्धारण किया गया है। इस तरह यहाँ सम्यक् का अर्थ

1- समयसार टीका, आत्मख्याति, 161-163.

2- वही, 408-410

3- वही, 410.

4- वही, 411.

5- वही, 412.

तत्वज्ञान ही है। इसी तत्वज्ञान को अमृतचन्द्राचार्य त्रिविध साधनों में अन्तर्निहित मानते हैं। उनके अनुसार जीवादि तत्वों के यथार्थ श्रद्धान् रूप से जो ज्ञान है, वही सम्यग्दर्शन है, इसका ज्ञान "स्वभाव" से होना सम्यग्ज्ञान है तथा पुद्गलादि रागादि भाव के त्याग-स्वभाव से ज्ञान का होना सम्यक्चारित्र है। इस तरह ज्ञान ही मोक्ष का कारण है।[1] इस तरह समयसार टीका का सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तात्त्विक ज्ञान से सिंचित दर्शन-ज्ञान-चारित्र का मोक्ष मार्ग कहलाता है।

इसी प्रकार सम्यक् तथा दर्शन शब्द पर जैन विचारणा की एक लम्बी परम्परा है। सामान्यतः दर्शन शब्द का अर्थ देखना है। यह शब्द दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में व्यापक अर्थ रखता है। यहाँ दर्शन का अभिप्राय श्रद्धान् से लिया जा सकता है। अमृतचन्द्राचार्य अपनी मौलिक कृति पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में लिखते हैं कि विपरीत अभिनिवेश रहित जीवादि तत्वों का श्रद्धान् ही सम्यग्दर्शन है।[2] यहाँ सम्यक् का प्रयोग विपरीताभिनिवेश के निषेध हेतु तथा दर्शन शब्द का प्रयोग श्रद्धान हेतु किया गया है। अमृतचन्द्राचार्य ने सम्यग्दर्शन की परिभाषा में कहा है कि आत्म श्रद्धान् ही सम्यग्दर्शन है।[3] त्रिविध साधना मार्ग में सम्यग्दर्शन का महत्व सर्वाधिक है। अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है कि इसके बिना ज्ञान तथा चारित्र का सम्यक् होना असम्भव है।[4] इस तरह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र की नींव है।

सम्यग्ज्ञान

जैन दर्शन तथा समयसार टीका की त्रिविध साधना मार्ग में सम्यग्ज्ञान का स्थान सम्यग्दर्शन के बाद आता है। सम्यग्ज्ञान की परिभाषा करते हुए अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है - "जीवादि सप्त पदार्थों का संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय

1- समयसार टीका आत्मख्याति, 155.
2- पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक 22.
3- वही, श्लोक 216.
4- वही, श्लोक 21.

से रहित ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।[1] अर्थात् जीवादि सातों पदार्थों को उनके स्वभाव से बिल्कुल उचित रूप से जानना ही सम्यग्ज्ञान है। जैसे आत्मा के सम्बन्ध में यह कहा जाय कि यह चैतन्यस्वरूप है या चैतन्यवान् - तो यह ज्ञान संशययुक्त है। पुनः यदि उसे रागादिक भाव स्वरूप सम्पन्न मान लिया जाय तो यह विपर्यय युक्त ज्ञान कहा जायगा। अनध्यवसाय के अन्तर्गत ऐसा ज्ञान आता है, जो कुछ स्पष्ट नहीं कर सकता है। उदाहरणस्वरूप आत्मा के मुक्तावस्था के सम्बन्ध में यह कह कर टाल दिया जाय कि वह स्थिति किसी तरह की होगी। यह ज्ञान अरुचि पूर्वक एवं अस्पष्ट होता है। उक्त तीनों प्रकार से रहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है। यह बिल्कुल निश्चित तथा तत्त्वों के प्रति ज्ञान होता है। इसी तथ्य को आचार्य नेमिचन्द ने भी कहा है कि सम्यग्ज्ञान आत्मा तथा अनात्मा के संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय से रहित ज्ञान को कहा जाता है।[2] आचार्य पूज्यपाद भी लिखते हैं कि जीवादि पदार्थों की स्थिति जिस-जिस प्रकार से अलग-अलग है उसे उसी प्रकार से अलग-अलग जानना सम्यग्ज्ञान है।[3] आचार्य समन्तभद्र इस भाव को पूर्णतः स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वह ज्ञान जो वस्तु के स्वरूप को न्यूनता रहित, अधिकता रहित, विपरीतता रहित तथा वस्तु के स्वरूप के अनुकूल संशय रहित जानता है, वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।[4]

इस तरह सम्यग्ज्ञान ही आत्मा को अनात्मा से सम्बन्धित होने का ज्ञान कराता है। सम्यक् शब्द का जो अर्थ अमृतचन्द्राचार्य ने अपनी कृति पुरुषार्थसिद्ध्युपाय[5] में किया है, उसके अनुसार सम्यग्ज्ञान का अर्थ ऐसे ज्ञान से है जो विपरीत अभिनिवेश रहित हो। इस तरह सब मिला-जुला कर सम्यग्ज्ञान का

1- पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक 35.

2- द्रव्यसंग्रह, गा0 42.

3- सर्वार्थसिद्धि, 1/1.

4- रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक 42.

5- पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक 22.

तात्पर्य ऐसे ज्ञान से है, जो तत्वों को स्वभाव रूप परिणमन करने का ज्ञान देता है। अर्थात् आत्मा को उसके स्वभाव रूप शुद्ध चैतन्य स्थिति में रहने का ज्ञान तथा पौद्गलादि रूप द्रव्यों को अपने रागादि स्वभाव रूप परिणमन करने का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है । आचार्य अमृतचन्द्र पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में सम्यग्ज्ञान के पाँच भेद बताये हैं - मतिज्ञान, श्रुत ज्ञान, अवधि ज्ञान, मनः पर्ययज्ञान तथा केवल ज्ञान ।[1] इन भेदों का लक्षण एवं प्रभेद सहित सविस्तार वर्णन अमृतचन्द्र ने तत्वार्थसार में किया है ।*

मोक्ष मार्ग में सम्यग्दर्शन के पश्चात् सम्यग्ज्ञान का प्राविधान है। इतना स्पष्ट है कि मोक्ष की प्राप्ति आत्मज्ञान से ही होती है। अमृतचन्द्राचार्य ने इस ज्ञान को मोक्ष प्राप्ति हेतु अत्यावश्यक माना है ।[2] मोक्ष मार्ग की कड़ी में सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन को रखा गया है, उसके बाद सम्यग्ज्ञान को । पहले आत्मा सहित सभी तत्वों के प्रति उनके स्वभाव के अनुकूल श्रद्धान् होता है। तत्पश्चात् उसके सम्बन्ध में ठोस ज्ञान प्राप्त किया जाता है । इस तरह सम्यग्ज्ञान त्रिविध साधना मार्ग में सर्वाधिक महत्व वाला है ।

सम्यक्चारित्र

त्रिविध साधना मार्ग की अन्तिम कड़ी के रूप में सम्यक्चारित्र का स्थान निरूपित है। सम्यक्चारित्र मोक्ष के प्राप्ति में व्यावहारिकताके प्रति उन्मुख करता है । सम्यग्ज्ञान होने पर आत्म स्वरूप में प्रविष्ट होने का नाम सम्यक्चारित्र है । आत्म स्वरूप में स्थित होने हेतु आत्मा को समस्त वासनाओं, रागादिक भावों - जो उसके वैभाविक परिणमन हैं ; को समाप्त करना होता है । आचार्य कुन्दकुन्द ने समभाव को चारित्र कहा है[3] तथा इस चारित्र को वास्तविक धर्म कहा है । यही समत्व धर्म है। आत्मा का मोह तथा क्षोभ से रहित शुद्धावस्था में प्राप्त करना समत्व है। आचार्य अमृतचन्द्र ने भी चारित्र को वस्तु का स्वभाव होने से धर्म कहा है ।[4] इस तरह चारित्र ही वास्तविक धर्म है जो आत्मा के उसके विभाव

1- तत्वार्थसार, 1/18.

* तत्वार्थसार, 1/19-34.

2- समयसार टीका, आत्मख्याति, 155.

3- पंचास्तिकाय, 107.

4- प्रवचनसार टीका तत्वदीपिका, 7.

से रहित अवस्था का द्योतक है । आचार्य अमृतचन्द्र ने सभी प्रकार के काषायों से रहित, समस्त पाप युक्त मन, वचन तथा काय के योग के त्याग को चारित्र कहा है ।[1] अमृतचन्द्राचार्य ने सम्यक्चारित्र का तात्पर्य ऐसे चारित्र से लिया जो अज्ञान पूर्वक आचरण के विपरीत हो ।[2] अज्ञान पूर्ण आचरण सम्यक्चारित्र की संज्ञा से अभिहित नहीं किया जा सकता ।

इस तरह सम्यक् चारित्र आत्मा की शुद्धावस्था का संकेत है। मोक्ष प्राप्ति के क्रम में सर्वप्रथम मोक्ष के प्रति श्रद्धान् होता है। उसके बाद आत्म तत्त्व को प्राप्त करने रूपी श्रद्धान् हेतु आत्म ज्ञान आवश्यक होता है । आत्म ज्ञान अर्थात् आत्मा के स्वभाव का ज्ञान तथा उसे स्वभाव से भिन्न समस्त विभावों का ज्ञान होना ही आत्म ज्ञान है। इस तरह सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान होता है। इसके बाद उक्त दोनों मार्ग को प्रशस्त करने के बाद इसका सार सम्यक्चारित्र है । "यशस्तिलक" में कहा गया है कि जिस प्रकार सुयश सुन्दरता पर, यौवन सुख भोग पर, राजशक्ति विजय पर, संस्कृति श्रेष्ठता पर और शासन राजनीति पर आधारित है, उसी प्रकार सम्यग्मोक्ष सम्यक् दर्शन पर आधारित है।[3] इस प्रकार इससे सम्यग्ज्ञान होता है तथा दोनों का फलित परिणाम सम्यक् चारित्र है। इसी सम्यक् चारित्र से मोक्ष की उपलब्धि होती है। यह सम्यक्चारित्र सम्यक्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान से युक्त होता है। अमृतचन्द्राचार्य ने बतायाहै किसम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र प्रभाव हीन है ।[4] अर्थात् सम्यक्चारित्र बिना सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान के सम्भव नहीं है ।

उपरोक्त तरीके से अमृतचन्द्राचार्य "समयसार" टीका एवं अपनी अन्य कृतियों में मोक्ष मार्ग के रूप में सम्यग्दर्शन-ज्ञान तथा चारित्र का उल्लेख करते हैं । अमृतचन्द्राचार्य मोक्ष मार्ग का निरूपण दो तरह से करते हैं। प्रथम - निश्चय मोक्ष मार्ग तथा द्वितीय - व्यवहार मोक्ष मार्ग ।[5] उन्होंने बताया है कि अपने शुद्ध -

---

1- पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 39.

2- वही, 38.

3- के०सी० सोगानी : एथिकल डॉक्ट्रिन्स इन जैनिज्म, पृ० 60-61.

4- पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 21.

5- तत्त्वार्थसार, उपसंहार 2.

आत्मा का जो श्रद्धान्, ज्ञान तथा उपेक्षा भाव है, वही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही निश्चय मोक्ष मार्ग है। व्यवहार मोक्ष मार्ग के सम्बन्ध में आचार्य कहते हैं कि जो पर पदार्थों का श्रद्धान् ज्ञान तथा उनके प्रति उपेक्षा भाव है वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र व्यवहार मोक्ष मार्ग है ।[1] इन तीनों मार्गों का स्वरूप बताते हुए अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि तत्त्वों के अपने-अपने यथार्थ स्वरूप से सहित जीव, अजीव आदि पदार्थों का श्रद्धान् करना सम्यग्दर्शन, उनका ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान तथा रागादिक भावों की निवृत्ति रूप उपेक्षा होना सम्यक्चारित्र है ।[2] इस तरह आचार्य जैन परम्परा में मोक्ष मार्ग के रूप में मान्य त्रिविध साधना मार्ग का अनुमोदन कर इसका विवेचन प्रस्तुत करते हैं। आचार्य के अनुसार आत्मा की मूल अवस्था सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप है, जो उसके मुक्तावस्था का प्रतीक है ।

बन्ध व मोक्ष का विषय

हमने अभी तक भारतीय दर्शन विशेषतः जैन दर्शन एवं "समयसार" टीका "आत्मख्याति" के विशेष सन्दर्भ में बन्ध एवं मोक्ष विचार का उल्लेख किया है। अब यह एक प्रश्न विचारणीय है कि बन्ध व मोक्ष का विषय क्या है? अर्थात बन्ध किसे कहते हैं? तथा मोक्ष कौन प्राप्त करता है? इस सम्बन्ध में कहा जाता है कि जीव के मिथ्याज्ञान बन्ध के कारण हैं, तथा मिथ्या ज्ञान- अनात्मा में आत्माभिमान का आरोप करना है । ठीक इसके विपरीत अनात्मा में आत्माभिमान का दूर होना मोक्ष है ।

"समयसार" तथा "आत्मख्याति" टीका में जीव, अजीव, पाप-पुण्य, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्धन तथा मोक्ष पर विचार किया गया है । जीव की स्थिति पर दो तरह से विचार किया गया है - व्यवहार नय तथा निश्चय नय।

1- तत्त्वार्थसार, उपसंहार 4.

2- वही, 1/4.

सामान्यतः जैन कृतियों में आत्मा के कर्तृत्व-भोक्तृत्व को स्वीकार किया गया है, तथा कर्म के अनुसार फल प्राप्त करा कर उसके बन्धनग्रस्त होने की बात कही गई है। "समयसार" तथा "आत्मख्याति" में निश्चयनय के दृष्टिकोण से जीव एवं अजीव को विपरीत स्वभाव वाला तत्त्व स्वीकार किया गया है। अतएव दोनों में संयोग होना असम्भव है। जीव को स्वानुभूति से स्वयं प्रकाशमान चैतन्य स्वभाव वाला, शुद्ध सत्ता रूप तथा समस्त पदार्थों को जानने वाला कहा गया है।[1] अजीव तत्त्व का अर्थ केवल निर्जीव पदार्थों से ही नहीं वरन् वैसे तत्त्व से है जो जीव की निज परिणति नहीं है। रागादि भाव, गुणस्थान, मार्गणा आदि अजीव की कोटि में ही हैं। मूल कृति के साथ-साथ टीका में भी अमृतचन्द्राचार्य ने भी बन्ध दशा का प्रमुख कारण रागादि भाव ही कहा है।[2] जब जीव के रागादि भावों से पौद्गलिक कर्मों का संयोग होताहै तब बन्ध दशा होती है। जीव के ये रागादिक भाव स्वभाव नहीं, अपितु विभाव हैं। ये रागादिक भाव द्रव्यकर्म की उदयावस्था के कारण उत्पन्न होते हैं। आत्मा को परसंग रहित एकाकी शुद्ध कहते हुए परिणामी स्वभाव वाला कहा गयाहै। इस तरह जीव कर्म प्रकृति विपाक के निमित्त से रागादिक रूप परिणमन करता है।[3] कलश में भी कहा गया है कि जिस प्रकार सूर्यकान्त मणि सूर्यबिम्ब का सान्निध्य पाकर अग्नि रूप परिणमन करता है, उसी तरह आत्मा राग प्रकृति कर्म विपाकोदय होने पर रागादिक रूप परिणमन करता है।[4] उपादान-उपादेय भाव से विचार करने पर कर्म रूप परिणमन् पुद्गलरूप उपादान में होने के कारण रागादिक भाव का कर्ता पुद्गल ही हो सकता है, जीव नहीं। निमित्त-नैमित्तिक भाव से विचार करने पर द्रव्य कर्म की उदयावस्था का निमित्त पाकर जीव में रागादिक की परिणति होने के कारण निमित्त कारण द्रव्य कर्म की उदयावस्था है। टीका में बताया गया है कि "निश्चय-

---

1- समयसार कलश, 1.

2- समयसार टीका, आत्मख्याति, 237-241, पृ0 134.

3- वही, 278-79.

4- समयसार कलश, 176.

नय" से आत्मा अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष तथा असंयुक्त है ।[1] "व्यवहार नय" से जीव तथा पुद्गल कर्म बन्ध पर्याय रूप प्रतीत होते हैं, दोनों में भिन्नता दृष्टिगत नहीं होती, लेकिन निश्चय से जीव में कर्मबद्धस्पृष्ट नहीं है। जीव का यह कर्म बन्ध होना तथा नहीं होना । यह दोनों ही नय पक्ष कहे गये हैं। इन विकल्पों से परे होकर ही शुद्ध आत्मा अर्थात् "समयसार" को प्राप्त किया जा सकता है ।[2]

इस तरह व्यवहार नय से बन्ध एवं मोक्ष का विषय स्वयं जीव ही है । जब अज्ञानी जीव अपने स्वभाव को विभाव में समझने लगता है तब उसे बन्धन ग्रस्त होना पड़ताहै। निश्चय से जीव रस, रूप, गन्ध रहित, अव्यक्त अर्थात् स्पर्श-रहित, शब्द रहित, अलिंग ग्रहण तथा चेतन्य है ।[3] जीव की यह निश्चय नय की धारणा उपनिषदों के परमात्मा की धारणा से मिलती-जुलती है। परमात्मा भी बन्ध एवं मोक्ष से परे शाश्वत्, शुद्ध एवं सच्चित् सत्ता है। उपनिषदों में संसारी जीव का वर्णन है जो कर्म करता है तथा उसका फल भोगता है। आत्मख्याति में भी व्यवहार नय से जीव के कर्तृत्व-भोक्तृत्व तथा बन्ध-मोक्ष का वर्णन है। उपनिषदों में परमात्मा को एक कहा गया है, लेकिन "समयसार" टीका का शुद्धात्मा अनेक है। यह भेद भी गुण की दृष्टि से नहीं अपितु संख्या की दृष्टि से है ।

इस तरह बन्ध व मोक्ष का विषय जीव या आत्मा है - यह व्यवहार नय से कहा जा सकता है । बन्धनग्रस्त जीव जो अज्ञानी है - वही अपने को बन्धनग्रस्त मानता है, तथा इससे छुटकारा पाने हेतु मोक्ष की कामना करता है । वह जीव जो अपने स्वभाव में रहता है, जो विभावों अर्थात् अपने से भिन्न अजीव तत्त्वों के साथ भिन्नता का ज्ञान रखता है, वह कभी रागादिक भाव का शिकार नहीं होता । इस तरह वह बन्ध एवं मोक्ष का विषय नहीं हो सकता । टीका तथा मूल

1- समयसार टीका आत्मख्याति, 14.

2- वही, 140-41.

3- वही, 49.

कृति में स्पष्टतः यह विवेचित् है कि शुद्ध अर्थ में जीव कभी बन्धनग्रस्त नहीं होता। अशुद्ध अर्थ अर्थात् जीव की विकृति की अवस्था में विभाव में जब स्वभाव का भान होने लगता है, तब उस स्थिति में द्रव्यकर्म की उदयावस्था से जीव में रागादिक भाव जागृत होने लगता है और वह पुद्गल कर्म रूप में परिणमित होने लगता है। इस तरह वह बन्धनग्रस्त हो जाता है।

अब यह प्रश्न उठता है कि जब जीव का शुद्ध अर्थ में बन्ध एवं मोक्ष नहीं होता है, तब बन्ध एवं मोक्ष किसके लिए होता है? जीव का अजीव (पौद्गलिक कर्म) से अनादि सम्बन्ध कहा जाता है। इस तरह बन्ध एवं मोक्ष का विषय जीव ही है। लेकिन शुद्ध अर्थ में बन्ध के कारण रागादिक भाव हैं जो द्रव्य कर्म की उदयावस्था में उत्पन्न होते हैं। इस तरह यह पौद्गलिक पदार्थों का बन्धन ग्रस्त होना कहा जा सकता है, लेकिन ये सारे तत्त्व अजीव हैं, जिनमें चेतना नहीं है। चेतनहीन तत्त्व के बन्ध तथा मोक्ष की कल्पना वैचारिक स्तर से ठीक नहीं जान पड़ती है। इतना अवश्य है कि मोक्षावस्था में जीव तो अपने स्वभाव में स्थित होकर अपने क्षेत्र में रहता है तथा पुद्गल (अजीव) भी अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र रहता है, मोक्षावस्था जीव की वास्तविक ज्ञानावस्था है। अतएव इस स्थिति में उसका रागादि भाव से सम्बन्ध नहीं होता है, तथा जीव एवं पुद्गल द्रव्य - दोनों अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र रहते हैं।

समयसार की टीका "आत्मख्याति" तथा कुछ भारतीय दर्शनों की मोक्ष विषयक अवधारणा का तुलनात्मक विवेचन

इस अध्याय के अब तक के वर्णित तथ्यों में मोक्ष का विस्तार से वर्णन किया गया है। समयसार टीका तथा अमृतचन्द्राचार्य सम्मत मोक्ष विचार के विवेचन करने के पश्चात् भारतीय दर्शनों में वर्णित मोक्ष विचार से इसकी तुलना करना आवश्यक सा लगता है। ऐसा करने से अमृतचन्द्राचार्य सम्मत मोक्ष विचार और स्पष्ट एवं सुग्राह्य सिद्ध होगा। अतएव यहाँ भारतीय दर्शन के विभिन्न निकायों का क्रमिक रूप से मोक्ष के सन्दर्भ में विवेचन करते हुए अमृतचन्द्राचार्य सम्मत मोक्ष विषयक

अवधारणा से तुलनात्मक विवेचन करने का प्रयास किया गया है ।

न्याय-वैशेषिक एवं समयसार टीका आत्मख्याति सम्मत मोक्ष विचारों का तुलनात्मक-विवेचन

न्याय-वैशेषिक एवं समयसार टीका में मोक्ष का विवेचन आध्यात्मिक रूप से किया गया है। दोनों के विचारों में आत्मा एक आध्यात्मिक सत्ता है। यह आत्मा जन्म-मरण के चक्र में फँसकर बन्धनग्रस्त होती है। न्याय-वैशेषिक का आत्मा कर्ता, भोक्ता तथा ज्ञाता तीनों है।[1] आत्मा अपने किये हुए कर्मों का फल भोगता है। समयसार टीका की आत्मा मात्र ज्ञाता है ।[2] इसके कर्ता-भोक्ता का वर्णन व्यवहार नय से किया गया है। इसकी आत्मा द्रव्य कर्म की उदयावस्था से विभाव रूप परिणमन कर बन्धन ग्रस्त हो जाती है । टीका में अमृतचन्द्र ने "प्रज्ञा" से मोक्ष की प्राप्ति होना बताया है। इसी प्रज्ञा को न्याय दर्शन में तत्त्वज्ञान कहा गया है । प्रज्ञा से आत्मा तथा बन्ध के अलग-अलग स्वभाव स्पष्ट होते हैं, जो आपस में बिल्कुल भिन्न हैं। न्याय-वैशेषिक में तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का अन्त होता है - जो राग, द्वेष तथा मोहादि के कारण हैं।

न्याय-वैशेषिक चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक गुण मानते हैं तथा मोक्षावस्था में इसे जड़वत् मानते हैं । न्याय-वैशेषिक की यह मान्यता समयसार टीका से ठीक विपरीत है। समयसार टीका की आत्मा चैतन्य स्वरूप है जो मोक्षावस्था में अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप में ही रहता है । न्याय-वैशेषिक आत्मा के नव गुणों का विवेचन करता है, वे हैं - बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न, सुख-दुःख, द्वेष, भावना या संस्कार, धर्म तथा अधर्म । जब आत्मा को मोक्ष प्राप्त हो जाता है, तो वह पाँच गुणों से ही सम्पन्न रहता है, वे हैं - संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग । समयसार टीका आत्मा का मात्र एक ही गुण मानती है, वह है- चैतन्य-

---

[1] न्याय भाष्य, 1/1/9.

[2] समयसार कलश, 193.

गुण। आत्मा के जिन गुणों का उल्लेख न्याय-वैशेषिक ने किया है, वे समयसार टीका में आत्माके विभाव रूप हैं। समयसार टीका का आत्मा सदैव से मात्र चैतन्य गुण से सम्पन्न रहती है। इसी प्रकार न्याय-वैशेषिक ने मोक्ष की अवस्था को समस्त दुःखों की निवृत्ति की अवस्था माना है । लेकिन आनन्द की अवस्था कभी नहीं स्वीकार किया है । "समयसार" ने इस अवस्था को ऐसी आनन्द की अवस्था स्वीकार किया है जो अद्वितीय तथा निरुपम है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार आनन्द की अनुभूति रागादि के कारण होती है। उसके अनुसार मोक्षावस्था की अनुभूति सुख-दुःख की अनुभूति से भिन्न है । मोक्षावस्था में जिस तरह दुःखों का अभाव रहता है, उसी तरह सुखों का भी अभाव रहता है । इस तरह हम देखते हैं कि मोक्ष सम्बन्धी विचारों के सन्दर्भ में कुछ मौलिक साम्यता के साथ-साथ उक्त दोनों सम्प्रदाय के विचार एक-दूसरे से काफी भिन्न हैं ।

सांख्य-योग तथा समयसार टीका आत्मख्याति सम्मत मोक्ष की अवधारणा का तुलनात्मक विवेचन

सांख्य-योग ने भी अपने दर्शन का विश्लेषण मोक्ष को केन्द्रबिन्दु बनाकर किया है। ईश्वरकृष्ण ने बताया है कि अज्ञान से बन्ध तथा ज्ञान से मोक्ष होता है।[1] यही ज्ञान तत्त्वज्ञान के रूप में जाना जाता है। "समयसार" के अनुसार जिस प्रकार प्रज्ञा द्वारा आत्मा तथा बन्ध के स्वभाव का अलग-अलग ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उसी प्रकार सांख्य दर्शन का भी तत्त्वज्ञान है, जिससे उसके पच्चीस तत्त्वों का अलग-अलग ज्ञान होता है। इन तत्त्वों को भली-भाँति जान लेने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। "समयसार" टीका में आत्मा को प्रज्ञापूर्ण कहा गया है। ईश्वरकृष्ण ने भी सांख्य को पुरुषार्थ ज्ञान कहा है ।[2]

"समयसार" टीका में भी आत्मा जब अपने स्वभाव को जान लेती है, तब उसके रूप के परिणमन करते रहने पर मोक्ष प्राप्त होता है। सांख्य तथा योग

1- सांख्यकारिका, 44.

2- वही, 69.

में भी आत्मा का अपने वास्तविक स्वरूप में आ जाना मोक्ष है। सांख्य का पुरूष स्वतः त्रिगुणातीत, निर्लिप्त तथा उदासीन है। प्रकृति नाना रूपों का आश्रय लेकर उसमें राग उत्पन्न कर देती है। परिणामतः पुरूष में कर्तृत्व भोक्तृत्व का भाव उत्पन्न होता है तब वह बन्धनग्रस्त हो जाता है। समयसार टीका के अनुसार आत्मा मूल रूप से शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। यह पौद्गलिक कर्मों के उदय से रागादि भाव परिणमन प्राप्त करती है। तत्पश्चात् बन्ध को प्राप्त होता है। इस तरह सांख्य के पुरूष एवं समयसार टीका के आत्मा -दोनों के नाटकीय बन्धन की प्रक्रिया में बहुत कुछ समानता है।

अमृतचन्द्राचार्य ने मोक्ष की अवस्था को परमानन्द की अवस्था माना है।[1] इस आनन्द की तुलना किसी प्रकार के सुख से नहीं की जा सकती है। सांख्य का मोक्ष विचार इससे विपरीत है। इसके अनुसार मोक्षावस्था में सभी प्रकार के दुखों [आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक] का नाश मात्र होता है। अतः प्रो० संगम लाल पाण्डेय का वक्तव्य नितान्त समीचीन है , जब वे यह लिखते हैं कि "कैवल्य की अवस्था में यद्यपि सांख्याचार्य कूटस्थ अथवा चेतना की स्थिति स्वीकार करते हैं तथापि आनन्द का अभाव भी मानने के कारण उनके मोक्ष का स्वरूप वेदान्त से भिन्न है। वेदान्त की मुक्ति भावात्मक है और सांख्य की मुक्ति अभावात्मक है ।"[2]

इस तरह सांख्य-योग एवं समयसार टीका में मोक्ष सम्बन्धी अवधारणा की व्याख्या आध्यात्मिक तरीके से किए जाने के कारण इनमें कुछ साम्य अवश्य है, लेकिन मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध में उक्त दोनों दर्शन एक-दूसरे से भिन्न हो जाते हैं ।

1- समयसार टीका, आत्मख्याति, 415.

2- प्रो० संगमलाल पाण्डेय, भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, पृ० 292.

मीमांसा व अद्वैत वेदान्त सम्मत मोक्ष विचारों का टीका सम्मत मोक्ष विचारों से तुलना

मीमांसा तथा वेदान्त दोनों दर्शनों में मोक्ष को परम् साध्य के रूप में स्वीकार किया गया है। मीमांसा के अनुसार जीव का शरीरादि बन्धनों से मुक्ति तभी सम्भव है, जब उसके धर्म तथा अधर्म का आत्यन्तिक नाश हो जाने से वर्तमान शरीर की समाप्ति हो जाय।[1] जीव से धर्म, अधर्म तथा कर्मों के संस्कारों के नष्ट होने पर जीव को मुक्ति मिलती है । मुक्ति की प्रक्रिया में मीमांसक [कुमारिल] आत्मज्ञान की उपयोगिता समझते हैं, लेकिन इनके अनुसार ज्ञान मुक्ति का साक्षात् कारण नहीं है। ज्ञान केवल जीव में मोक्ष की प्रवृत्ति जागृत करता है। समयसार टीका में मोक्ष का साधन "प्रज्ञा" को माना गया है, साथ-साथ आत्मा को प्रज्ञापूर्ण कहा गया है। मीमांसा तथा समयसार टीका दोनों के अनुसार धर्म-अधर्म तथा शुभ-अशुभ सभी कर्म बन्ध के कारण हैं।

मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध में मीमांसा तथा "समयसार" टीका के विचार भिन्न-भिन्न हैं । मीमांसा के अनुसार आत्मा में चैतन्य गुण का विकास तब होता है, जब उसका संयोग शरीर, मन तथा इन्द्रिय से होता है। मोक्षावस्था में आत्मा का शरीरादि से सम्बन्ध विच्छेद रहता है। इस तरह आत्मा मोक्षावस्था में जड़वत् रहती है, जो "समयसार" टीका के मोक्ष विचारों के पूर्णतः विरुद्ध है। "समयसार" टीका के अनुसार मोक्षावस्था में आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप में स्थित होता है ।

कुमारिल यह कहते हैं कि मोक्ष समस्त दुःख से रहित आत्मा की अपने स्वरूप में स्थित रहने की अवस्था है ।[2] यह कथन "समयसार" टीका की मोक्ष मान्यता से साम्य रखता है। आत्मा की अपने स्वरूप में स्थिति को "समयसार"

1- प्रकरणपञ्चिका, तत्त्वालोक, पृ० 156.
"आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो निःशेष धर्माधर्म परिक्षय निबन्धनो मोक्ष इति सिद्धम्। धर्माधर्म वशीकृतो जीवस्तासु तासु योनिषु संसरति ।"

2- परमात्मस्वरूपावस्थानम् .

टीका भी मोक्ष कहती है, जिस अवस्था में समस्त क्लेशों का नाश हो जाता है, लेकिन कुमारिल इस अवस्था को आनन्द की अवस्था नहीं मानते । उनके अनुसार यदि इसका स्वरूप निषेधात्मक न हो तो यह नित्य नहीं हो सकता ।[1] इस तरह मीमांसा मुक्तावस्था को समस्त दुःखों के अत्यन्तिक विनाश की अवस्था मानता है, लेकिन वेदान्त आदि दर्शनों जैसा इस अवस्था को आनन्द की अवस्था स्वीकार नहीं करता। "समयसार" टीका तथा अमृतचन्द्राचार्य सम्मत मोक्ष की अवस्था परमानन्द की अवस्था है । इस तरह मीमांसा तथा समयसार टीका सम्मत मोक्ष विचारों में मात्र कुछ एक रूपता के अलावा शेष विचार एक-दूसरे से भिन्न ही हैं।

वेदान्त के मोक्ष सम्बन्धी विचार मीमांसा से कुछ भिन्न किन्तु "समयसार" टीका सम्मत मोक्ष विचार के बहुत करीब हैं। दोनों के विचार में मोक्ष मानव जीवन का परम् पुरुषार्थ है। मोक्ष प्राप्ति कर लेने के बाद सभी तरह के क्लेशों का अन्त हो जाता है। जन्म-मरण के चक्र से आत्मा को मुक्ति मिल जाती है। शंकर ने बताया है कि दुःख का कारण केवल मिथ्या ज्ञान है ।[2] यहाँ अविद्या या अज्ञान को बन्ध का कारण माना गया है। "समयसार" टीका के अनुसार भी आत्मा जब अपने स्वभाव रूप ज्ञान को छोड़कर विभाव रूप परिणमन करती है तो बन्धन ग्रस्त होती है ।

समयसार टीका तथा अमृतचन्द्र की मान्यता के अनुरूप वेदान्त में भी मोक्षावस्थाको आनन्द की अवस्था माना गया है। चित्सुखाचार्य ने भी आनन्द प्राप्ति को मोक्ष कहा है ।[3] वेदान्त में मोक्ष की अवस्था को ब्रह्ममय कहा गया है। यहाँ मोक्ष को ब्रह्म स्वरूप कहा गया है ।[4] "समयसार" टीका की आत्मा स्वतः जब स्वभाव रूप परिणमन करता है तो मोक्षावस्था में रहता है। जब यह कर्मोदय से रागादि भाव विभाव परिणमन करता है, तब बन्धन ग्रस्त हो जाता है।

1- श्लोकवार्तिक, सम्बन्धाक्षेपपरिहार, पृ0 107.

2- शांकरभाष्य, 2/3/46.

3- अनवच्छिन्नानन्द प्राप्ति : । -सिद्धान्त लेश संग्रह.

4- ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्था.

इसका अपने स्वभाव में रहना ही मुक्तावस्था है। यह किसी अन्य सत्ता पर निर्भर नहीं करता । इस तरह मोक्ष सम्बन्धी विचार विवेचन के सन्दर्भ में अद्वैत वेदान्त एवं "समयसार" टीका एक दूसरे के बहुत करीब रहते हुए भी कुछ मौलिक सिद्धान्तों के कारण आपस में भिन्न-भिन्न विचार प्रस्तुत करते हैं ।

बौद्ध एवं समयसार टीका सम्मत विचारों की तुलना

बौद्ध दर्शन में मोक्ष को "निर्वाण" शब्द से सम्बोधित किया गया है । इस शब्द का अर्थ "बुझ जाने" से लगाया जाता है। कहा भी गया है कि मन का मुक्त हो जाना ठीक वैसा ही है, जैसे कि एक ज्वाला का बुझ जाना ।[1] अन्य दर्शनों की भाँति यहाँ न तो आत्मा को शाश्वत् सत्ता स्वीकारी गई है न तो इसे ईश्वर आदि की कृपा पर आधारित बताया गया है। यहाँ चार आर्य सत्यों के उद्घाटन में "दुःख है" पहला आर्य सत्य है । इसके निदान के लिए कार्य-कारण की द्वादश परम्परा को बताया गया है, जिसमें अन्तिम कारण अविद्या को कहा गया है।

समयसार टीका का आत्मा ज्ञान स्वरूप एवं शाश्वत् सत्ता है जब वह अपने ज्ञान स्वरूप चैतन्य से विरत होकर अज्ञान स्वरूप रागादि भाव में परिणमन करता है, तो बन्धावस्था में आ जाता है। बौद्ध दर्शन में आत्मा एक शाश्वत् सत्ता नहीं है, फिर भी दोनों की यह मान्यता है कि अज्ञान के नाश से निर्वाण या मुक्ति की उपलब्धि होती है । "समयसार" टीका तथा बौद्ध दर्शन दोनों ही इस अर्थ में एक-दूसरे के करीब हैं। दोनों के अनुसार मोक्षावस्था सुख या आनन्द की अवस्था है। कहा गया है कि यह अवस्था विश्वास, शान्ति, प्रशान्ति, परम-आनन्द, सुख, मृदुता, पवित्रता एवं सुस्पष्टता से परिपूर्ण है ।[2] इस तरह दोनों के मोक्ष सम्बन्धी विचारों में अपनी-अपनी विशिष्ट धारणा के कारण विभिन्नता

---

[1]- दीघनिकाय, 2/15.

[2]- मिलिंद, 3/4/6, 2/1/6, 3/5/10.

होने के बाद भी आपस में कुछ साम्यता है ।

चार्वाक एवं समयसार टीका सम्मत मोक्ष विचारों की तुलना

समयसार टीका एवं चार्वाक दोनों दर्शनों के विचारों में काफी विभिन्नता है । "समयसार" टीका मोक्ष की आध्यात्मिक तथा नैतिक व्याख्या प्रस्तुत करती है, जबकि चार्वाक के अनुसार मृत्यु ही मोक्ष है। समयसार टीका में अमृतचन्द्राचार्य बताते हैं कि यदि देहमय द्रव्यलिंग ही मोक्ष का कारण होता तो अरहंतादिदेव का ममत्व छोड़ दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन क्यों करते ?[1]

इस तरह संक्षेप में यह स्पष्ट होता है कि समयसार की टीका "आत्मख्याति" में मोक्ष का अर्थ आत्मा को स्वगुणों से सम्पन्न तथा पर गुणों से विरक्त होना है। मोक्ष आत्मा की मूल अवस्था है। मूल अवस्था का तात्पर्य शुद्ध चैतन्य अवस्था है, जो मात्र आत्मा का ही गुण है। यहाँ चैतन्य गुण आत्मा के अलावा किसी तत्व को प्राप्त नहीं है। इस चैतन्य स्थिति को प्राप्त आत्मा स्व तथा पर का ज्ञान रखता है, पुद्गल कर्माणुओं, रागादि भावों को पर-भाव समझकर उससे दूर रहता है ।

षष्ठ अध्याय

स्याद्वाद का स्वरूप

स्याद्वाद का स्वरूप

भूमिका

अमृतचन्द्र के टीका ग्रन्थ - "आत्मख्याति" में स्याद्वाद अधिकार का प्रयोजन स्वतन्त्र एवं मौलिक रूप से हुआ है। यह अधिकार इस टीका ग्रन्थ का अन्तिम अधिकार है, जिसमें आत्मा को विभिन्न नयों से वर्णित कर उसके प्रधान तथा गौण भाव का ज्ञान कराया गया है। कुन्दकुन्द के समयसार, इसकी टीका "आत्मख्याति" तथा इसके विषय-वस्तु को लेकर जैन आध्यात्मिक इतिहास के सन्दर्भ में भ्रममूलक निष्कर्ष न निकाले जायँ - इस दृष्टि से हमने समयसार की अनुक्रमणिका पर लिखी गयी आत्मख्याति टीका को ही आधार बनाते हुए स्याद्वाद के विवेचन का प्रयोजन अपने शोध-प्रबन्ध के अन्तिम अध्याय के रूप में किया है। इससे समयसार के मूल रूप की सुरक्षा के साथ-साथ टीकाकार अमृतचन्द्र का भी अनुकरण हो जाता है। इस परम्परा के निर्वहन का एक महत्वपूर्ण कारण यह भी है कि कुन्दकुन्द तथा अमृतचन्द्र के सम्बन्ध में कोई समीक्षक विद्वान् पूर्व के आचार्यों को बाद को आचार्यों की पंक्ति में रखने का त्रुटिपूर्ण प्रतिपादन न कर दे, जैसा कि कुछ समीक्षक विद्वानों ने[1] टीकाकारों के आधार पर कुन्दकुन्द के विषय-वस्तु को विकसित युग के जैन दार्शनिक चिन्तन से जोड़कर उनके समय को उमास्वामि के बाद का सिद्ध कर दिया है ।

स्याद्वाद : एक सामान्य परिचय

जैन परम्परा में स्याद्वाद सिद्धान्त सत्य के अन्वेषण का प्रतीक है । "स्याद्वाद", "स्यात्" तथा "वाद" इन दो शब्दों से निष्पन्न यौगिक रूप है। "स्यात्" शब्द तिङन्त पद जैसा प्रतीत होता है, लेकिन यथार्थ में अव्यय है। इसीलिए "स्यात्" शब्द एक अपेक्षा से, अपेक्षा विशेष अथवा कथंचित् अर्थ का द्योतक है।[2]

1- मालवणिया, दलसुख, आगम युग का जैन दर्शन.

2- (क) स्यादिति शब्दो अनेकान्तद्योती प्रतिपत्तव्यो, न पुनर्विधिविचार

(क्रमशः)

कथंचित् का भावार्थ है - अमुक निश्चित अपेक्षा से वस्तु अमुक धर्मवाली है। "वाद" शब्द का अर्थ कथन करना, या प्रतिपादन करना है। अर्थात् अपेक्षा विशेष से पदार्थ में विद्यमान् उसके अनेक गुणों का निषेध नहीं करते हुए, उसके स्वरूप का कथन या प्रतिपादन करने का अभिप्राय "वाद" है । इस प्रकार स्यात् अर्थात् कथंचित् या विवक्षित प्रकार से, अनेकान्त रूप से कहना, वाद करना, प्रतिपादन करना स्याद्वाद वाद कहलाता है ।[1] इस तरह स्याद्वाद सिद्धान्त अपेक्षा को लेकर चलता है, तथा भिन्न-भिन्न विचारों का एकीकरण करता है। इसीलिए इसे सापेक्ष सिद्धान्त भी कहा जाता है। प्रो0 एस0एन0 दासगुप्त लिखते हैं - "किसी भी कथन की सत्यता सापेक्ष होती है। कोई भी कथन परम् सत्य नहीं होता। अतएव किसी कथन के सापेक्ष अर्थात् किसी विशेष दृष्टिकोण के पहले स्यात् जोड़ना आवश्यक है, ताकि वह परम् सत्य न समझा जा सके क्योंकि कोई भी निर्णय पूर्ण सत्य या पूर्ण असत्य नहीं होता। प्रत्येक निर्णय किसी अर्थ में सत्य होता है, तो किसी अर्थ में असत्य।[2]

स्याद्वाद तथा अनेकान्तवाद

अनेकान्तवाद के अनुसार वस्तु को अनेक धर्मों [परस्पर विरोधी धर्म भी] से युक्त होने का चिन्तन प्रस्तुत किया जाता है। जैन दर्शन में प्रत्येक वस्तु को अनेक धर्मात्मक "अनन्त धर्मात्मकं वस्तु" कहा गया है। वस्तु के सम्बन्ध में किसी एक कथन से उसके आंशिक गुण का ही उद्घाटन हो पाता है। इसलिए वस्तु के अनेकान्तात्मक होने की परम्परा को प्रत्येक कथन के साथ अभिव्यक्त होने हेतु "स्यात्" शब्द का प्रयोग किया जाता है। किसी कथन से पूर्व "स्यात्"शब्द का प्रयोग इस तथ्य का द्योतक है, कि वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। इस तरह स्याद्वाद जिस वस्तु

प्रश्नादिद्योतो तथा विवक्षापायात् । -अष्टसहस्री, पृ0 286.

[ख] सर्वथात्व निषेधको नेकान्ततायोतकः कथंचिदर्थे स्याच्छब्दो निपातः ।

-पंचास्तिकाय टीका.

1- स्यात् कथंचित् विवक्षितप्रकारेणानेकांतरूपेण वदनं वादो जल्पः, कथनं प्रतिपादनमिति स्याद्वादः । -समयसार तात्पर्यवृत्ति, स्याद्वाद अधि0, 413/7.

2- प्रो0 दासगुप्त, ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, प्रथम खण्ड, पृ0 179.

का कथन करता है, वह अनेकान्तात्मक है और अनेकान्तात्मक अर्थ का कथन स्याद्वाद है । इन दोनों वादों में शाब्दिक अन्तर होते हुए भी भावनात्मक दृष्टि से कोई अन्तर परिलक्षित नहीं होता। "स्याद्वादमंजरी" में स्याद्वाद को अनेकान्तवाद कहा गया है ।[1] इस तरह दोनों वाद स्थूलतः एक दूसरे के पर्यायवाची शब्द ही माने जाते हैं। फिर भी सूक्ष्मतर विवेचन की कसौटी पर दोनों वादों को लाने से उसमें अन्तर भी स्पष्ट होता है। दोनों में महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि स्याद्वाद का सम्बन्ध भाषा से है तो अनेकान्तवाद का सम्बन्ध चिन्तन से । स्याद्वाद के स्यात् शब्द से भाषा दोष का परिमार्जन होता है। यह भाषा को ऐसा बना देता है कि उसका कोई कथन अपनी प्रामाणिकता प्रस्तुत करने के साथ-साथ पदार्थ के पूर्ण स्वरूप को भी सुरक्षित बनाये रखता है। स्यात् शब्द का प्रयोग इस बात का प्रतीक है कि वस्तु के सम्बन्ध में कोई कथन करने के साथ-साथ उसके गुण अंश तथा धर्म की उपेक्षा या अपलाप न की जाय ।

अनेकान्तवाद चिन्तन को निर्दोष बनाता है। यदि चिन्तन में कोई दोष आता है, तो उसमें एकांगिकता आएगी, जो पदार्थ के स्वरूप के विरुद्ध है । पदार्थ का स्वरूप अनेकधर्मात्मक है। चिन्तन के पश्चात् ही कथन शैली का अस्तित्व होता है। जिस चिन्तन का रूप अनेकान्तात्मक नहीं होगा या वस्तु को अनेक धर्मों से युक्त जानकर चिन्तन प्रक्रिया संचालित नहीं होगी, तब तक वह दोषयुक्त ही होगा । इस तरह अनेकान्तवाद स्याद्वाद की जड़ है ; क्योंकि दोष रहित चिन्तन के बिना निर्दोष भाषा शैली का प्रयोग सम्यक् रीति से नहीं हो सकता है। अस्तु अनेकान्तवाद वाच्य है, तथा स्याद्वाद उसका वाचक ।

नय

"नय", स्याद्वाद सिद्धान्त का आधार स्तम्भ है। एक आचार्य लिखते हैं

---

[1] स्याद्वादमंजरी, श्लोक 5.

कि स्याद्वाद सकलादेश है, तथा नय विकलादेश ।[1] सकलादेश द्वारा वस्तु का कथन उसके सम्पूर्णता में होता है तथा विकलादेश द्वारा वस्तु के एक देश का कथन होता है । नय की परिभाषा में कहा गया है, कि वस्तु के अनेकान्त धर्मात्मक सत्ता के विरोध के बिना हेतु की मुख्यता से साध्य विशेष की यथार्थता को प्राप्त कराने में समर्थ शब्द प्रयोग को नय कहा जाता है ।[2] "स्याद्वादमंजरी" में भी कहा गया है कि जिस नीति के माध्यम से एकदेश विशिष्ट अर्थ तक लाया जाता है, यानी प्रतीति के विषय को प्राप्त कराया जाता है, उसे नय कहते हैं ।[3] इस तरह यह स्पष्ट होता है कि किसी निश्चित अपेक्षा से किसी एक कथन द्वारा वस्तु के एक धर्म को प्रकाशित करने की प्रणाली को नय कहा जाता है । संक्षेपतः नय का तात्पर्य दृष्टिकोण से लिया जा सकता है।

नयों के भेद-प्रभेद के सम्बन्ध में जैनाचार्यों ने विशद व्याख्या प्रस्तुत की है । एक जैनाचार्य के अनुसार वचन के जितने भी प्रकार या मार्ग हो सकते हैं, उतने ही नय के भेद हो सकते हैं।[4] इस तरह यह स्पष्ट है कि वक्ता के अभिप्रायानुसार उसके कथन के जितने प्रकार हो सकते हैं, उतने ही नयों के प्रकार होने की सम्भावना है। इस दिशा में नयों की संख्या अनन्त मानी जा सकती है। जैन दार्शनिकों ने इन अनन्त नयों का समाहार महत्वपूर्ण रूप से सात नयों में किया है । यथा - (1) नैगम, (2) संग्रह, (3) व्यवहार, (4) ऋजुसूत्र, (5) शब्द, (6) समभिरूढ़, (7) एवंभूत ।[5]

नैगम नय

प्रत्येक वस्तु के गुणों का वर्गीकरण दो तरह से किया जाता है - सामान्य

1- लघीयस्त्रय, 3/6/62.

2- सर्वार्थसिद्धि, 1/33.

3- स्याद्वादमंजरी श्लोक 27 की व्याख्या.

4- सन्मतितर्कप्रकरण, 3/47.

5- स्थानांग ; 7/552, भगवती, 469; तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1/33.

गुण तथा विशिष्ट गुण। नैगम नय वस्तु के दोनों गुणों को समान रूप से महत्व प्रदान करता है। यह इन दोनों तरह के गुणों में न तो पूर्णतः अभेद स्वीकार करता है, न भेद ही । भेद का निर्देश केवल सापेक्ष रूप से किया जाता है। वस्तुतः जिस समय हमारी विवक्षा भेद की ओर जाती है, उस समय अभेद गौण हो जाता है तथा जिस समय हमारा प्रयोजन अभेद से होता है, उस समय भेद गौण हो जाता है। आचार्य अकलंक देव ने बताया है कि भेद को ग्रहण करते समय अभेद को गौण समझना तथा अभेद को ग्रहण करते समय भेद को गौड़ समझना तथा अभेद को मुख्य समझना नैगम है ।[1] इस तरह नैगम नय वस्तु के दोनों तरह के गुणों के बीच कथंचित् भेद तथा कथंचित् अभेद मानता है। नैगम नय के तीन भेद हैं - पर्याय नैगम, द्रव्य नैगम, तथा द्रव्य पर्याय नैगम । पर्याय नैगम के तीन भेद हैं - अर्थ पर्याय नैगम, व्यंजन-पर्याय नैगम तथा अर्थव्यंजन पर्याय नैगम । इसके बाद द्रव्य नैगम के दो भेद हैं - शुद्ध द्रव्य नैगम तथा अशुद्ध द्रव्य नैगम । द्रव्यपर्याय नैगम के चार भेद हैं - शुद्ध द्रव्यार्थ-पर्याय, शुद्ध द्रव्य व्यंजन पर्याय, अशुद्ध द्रव्यार्थ पर्याय नैगम तथा अशुद्ध द्रव्य व्यंजन पर्याय । इस तरह नैगम नय के भेद एवं प्रभेद मिलाकर नौ भेद हैं ।

संग्रह नय

यह वस्तु के विशिष्ट गुणों के प्रति उदासीन रहकर उसके सामान्य गुणों को समझने का दृष्टिकोण है । संग्रह नय सामान्य या अभेद को ग्रहण करने वाली दृष्टि है। एक जगह कहा गया है कि समस्त पदार्थों का सम्यक् प्रकार से एकीकरण करके जो अभेद रूप से ग्रहण करता है, वह संग्रह नय है ।[2] "सर्वार्थसिद्धि" में कहा गया है कि भेद सहित सब पर्यायों या विशेषों को अपनी जाति के विरोध के बिना एक मानकर सामान्य से सबको ग्रहण करने वाला नय संग्रह नय है ।[3] संग्रह नय के

1- लघीयस्त्रय, 2/5/39.

2- श्लोकवार्तिक, 1/33.

3- सर्वार्थसिद्धि, 1/33.

दो भेद[1] हैं – परसंग्रह नय तथा अपरसंग्रह नय । सम्पूर्ण विशेषों में उदासीन भाव रखकर शुद्ध सत् रूप से समस्त पदार्थों को जानना पर संग्रह नय है।[2] तथा द्रव्यत्व पर्यायत्वादि अवान्तर सामान्य को मानकर उनके भेदों में माध्यस्थ्यभाव रखकर जानना अपरसंग्रह नय है ।[3]उदाहरण के लिए – द्रव्यत्व की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव एक हैं। संसारित्व की अपेक्षा त्रस, स्थावर, नारक, तिर्यंच, मनुष्य देव एक हैं। संग्रह नय के दोनों भेदों में अन्तर यह है कि परसंग्रह नय विशेषों का निषेध न करते हुए विशेषरहित सामान्य मात्र को ग्रहण करता है तथा अपर संग्रहनय अवान्तर विशेषों से उदासीन होकर अवान्तर सामान्य को ग्रहण करता है ।

व्यवहार नय

इस नय का सम्बन्ध पदार्थों के विशिष्ट गुणों से होता है। संग्रह नय में सामान्य मात्र का ग्रहण किया जाता है, लेकिन इस सामान्य का रूप क्या है, इसके विश्लेषण हेतु व्यवहार नय की आवश्यकता पड़ती है। इस तरह सामान्य को भेदपूर्वक ग्रहण करना व्यवहार नय है ।[4] संग्रह नय गृहीत अर्थ का विधिपूर्वक अवहरण करना व्यवहार नय कहलाता है । [5]व्यवहार नय संग्रहनय गृहीत वस्तु में प्रमाण सिद्ध अविसंवादी रूप से भेद करता है। इस तरह व्यवहार के दो भेद होते हैं – सामान्य भेदक तथा विशेष भेदक । सामान्य भेदक व्यवहार नय सामान्य संग्रह के दो भेद करने वाले होते हैं, जैसे द्रव्य के दो भेद – जीव द्रव्य तथा अजीव द्रव्य। विशेष भेदक व्यवहार नय विशेष संग्रह में अनेक भेद करने वाला होता है – जैसे संसारी जीव के भेद–नारक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देव।[6] जैन परम्परा में व्यवहार नय के

1- प्रमाण-नय तत्त्वालोक, 7/14.

2- वही, 7/15.

3- वही, 7/19.

4- आप्तपरीक्षा, 9.

5- तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1/33/6.

6- आप्तमीमांसा, 5.

दो भेदों का वर्णन मिलता है।[1] सद्भूत व्यवहार तथा असद्भूत व्यवहार। एक वस्तु में गुण-गुणी का भेद करना सद्भूत व्यवहार तथा भिन्न वस्तुओं में परस्पर कर्ता, कर्म व स्वामित्व आदि सम्बन्धों से अभिन्नपने का उपचार करना असद्भूत व्यवहार है।

इस प्रकार उपर वर्णित तीनों नय प्रतिपाद्य वस्तुओं की द्रव्यात्मकता पर विचार करते हैं तथा शेष चार (जिसका आगे वर्णन किया जा रहा है) वस्तुओं के पर्यायों पर विचार करते हैं। अतएव उक्त तीन नय नैगम, संग्रह तथा व्यवहार का अन्तर्भाव द्रव्यार्थिक नय में, तथा शेष चार नय ऋजुसूत्र; शब्द; समभिरूढ़ तथा एवंभूत का अन्तर्भाव पर्यायार्थिक नय में किया जाता है।

ऋजुसूत्र नय

यह नय वस्तु के वर्तमान पर्याय या रूप को ही महत्व देता है। आचार्य अकलंक ने लिखा है कि भेद या पर्याय की विवक्षा से जो कथन होता है वह ऋजुसूत्र नय है।[2] प्रमाण नय "तत्त्वालोक" में कहा गया है कि द्रव्य के सर्वथा निषेध करने को ऋजुसूत्र नयाभास कहते हैं।[3] इस सन्दर्भ में बौद्धों की बात आती है। वे अपने क्षणिकवाद की पुष्टि में क्षण-क्षण में नाश होने वाले पर्यायों को वास्तविक कहते हैं तथा इन पर्यायों के आश्रय, द्रव्य को निषेध ऋजुसूत्र नय, द्रव्य को निषेध नहीं करता वरन् उसे गौण कर पर्यायों को मुख्यता प्रदान करता है। द्रव्य के निषेध से ऋजुसूत्र नयाभास दोष उत्पन्न होता है।इसके दो भेद हैं - सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय तथा स्थूल ऋजुसूत्र नय। सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय एक समय अवस्थाव्यापी पर्याय को विषय करता है तथा स्थूल ऋजुसूत्र नय चक्षु इन्द्रिय के विषयभूत व्यंजन पर्यायों को जानता है।

1- आलाप पद्धति, सूत्र नं0 220-22 तक.

2- लघीयस्त्रय, 3/6/71.

3- प्रमाणनय तत्त्वालोक, 7/30.

शब्द नय

काल, कारक, लिंग, संख्या, पुरुष तथा उपसर्ग आदि के भेद से अर्थ भेद मानना शब्द नय है। उदाहरणार्थ काल भेद से सुमेरु था, है और होगा। लेकिन तीनों कालों की स्थिति में सुमेरु की स्थिति भिन्न-भिन्न होगी। कारक भेद से कुम्भकार घट बनाता है तथा उसके द्वारा घट बनाया जा रहा है। यहाँ कर्तृ-कारक तथा करण कारक के भेद से घट में भेद माना जाता है। इसी तरह लिंग, संख्या आदि की अपेक्षा से शब्दों के अर्थों में शब्द नयभेद माना जाता है।

समभिरूढ़ नय

यह नय शब्दों के व्युत्पत्ति पर विचार कर अर्थ भेद करता है। शब्द नय में काल, कारक, लिंग आदि के भेद से अर्थ भेद होता है लेकिन समभिरूढ़ नय, एक ही शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्दों में भी अर्थभेद मानता है। जैसे इन्द्र, शक्र तथा पुरन्दर। ये तीनों शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची हैं तथा इनके वाच्य अर्थ में कोई भेद नहीं है। तथापि इन तीनों शब्दों की व्युत्पत्ति शब्द भिन्न-भिन्न है। जैसे, "इन्द्रनादीन्द्रः" अर्थात जो शोभित हो वह इन्द्र है ; "शकनाच्छक्रः" अर्थात् जो शक्तिशाली है, वह शक्र है तथा "पूर्दारणात् पुरन्दरः" अर्थात् जो नगर आदि को ध्वंस करता है वह पुरन्दर है। इस तरह इनके व्युत्पत्ति अर्थ भिन्न-भिन्न होने से इनका वाच्य अर्थ भी भिन्न-भिन्न होना चाहिए ऐसी समभिरूढ़ नय की मान्यता है।

एवंभूत नय

यह नय शब्द अर्थ की सूक्ष्मता में समभिरूढ़ नय से भी आगे बढ़ता है। इसके अनुसार शब्दों के व्युत्पत्ति का प्रयोग और सीमित हो जाता है। जैसे इन्द्र शब्द इन्द्र के लिए तभी ठीक है जब वह इन्द्रासन पर शोभित होता है। शक्र शब्द

तभी ठीक है जब वह अपने शक्ति का प्रदर्शन कर रहा हो। इसी तरह पुरन्दर वह तभी कहलाता है जब वह ध्वंस करने की स्थिति में लिप्त हो। इस तरह एवंभूत नय शब्द की व्युत्पत्ति अर्थ के अनुसार उसके व्यवहारीकरण की स्थिति में अलग-अलग होने के अर्थ को मान्यता देता है। इस तरह इन सातों में प्रथम तीन नैगम, संग्रह तथा व्यवहार नय द्रव्यार्थिक नय में समन्वित है तथा शेष चार ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत का अन्तर्भाव पर्यायार्थिक नय में होता है।

स्याद्वाद का स्वरूप {सप्तभंगी}

स्याद्वाद सिद्धान्त का "स्यात्" पद वस्तु के अनन्त धर्मात्मक स्वरूप का ही द्योतक है। वस्तु के अनन्त धर्म स्वरूपात्मक कथन करने हेतु स्यादस्ति आदि सात भंगों का प्रयोग किया जाता है। ये सात भंग इस प्रकार हैं - {1} स्यात् अस्ति द्रव्यम् {2} स्यात् नास्ति द्रव्यम् {3} स्यात् आस्ति च नास्ति च द्रव्यम् {4} स्यात् अवक्तव्यम् द्रव्यम् {5} स्यात् आस्ति च अवक्तव्यम् द्रव्यम् {6} स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम् द्रव्यम् {7} स्यात् आस्ति च नास्ति च अवक्तव्यम् द्रव्यम्।[1]

वस्तुतः इन सप्तभंगों के मौलिक आधार भंग तीन ही हैं - आस्ति, नास्ति तथा अवक्तव्यम् । फिर भी जैन आगमों में सात भंगों का उल्लेख देखने को मिलता है।[2] इन सात भंगों में स्यात् अवक्तव्यम् को कहीं तीसरा[3] तो कहीं चौथा[4] स्थान प्राप्त है। कुन्दकुन्द की कृतियों में भी ऐसा देखने को मिलता है। आचार्य की कृति प्रवचनसार[5] में स्यात् अवक्तव्यम् का स्थान तीसरा तथा चौथे स्थान पर

1- पंचास्तिकाय, 14.

2- भगवती सूत्र, 12/10.

3- विशेषावश्यक भाष्य गाथा, 2/32; भगवती सूत्र, 12/10/469.

4- आप्त मीमांसा, 16.

5- प्रवचनसार गाथा, 23/115.

स्यादस्ति- नास्ति है। लेकिन इनकी कृति पंचास्तिकाय[1] में इसके विपरीत तीसरे अंग के रूप में स्यादस्ति नास्ति तथा चौथे अंग के रूप में स्यादवक्तव्यम् है। इस प्रकार स्याद् शब्द से युक्त ये सात अंग भी स्याद्वाद सिद्धान्त के स्वरूप अंग में सम्मिलित हैं। सप्तभंगी का पहला अंग "स्याद् अस्ति" है इसका हिन्दी रूपान्तर "कथंचित् है" किया जा सकता है। किसी वस्तु का अस्तित्व द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा पर्याय - इन चार नियोगों के सन्दर्भ में होता है। वस्तु के सम्बन्ध में "स्याद् अस्ति" कहने का अभिप्राय यह है कि उक्त कथन किसी एक विशिष्ट नियोग की उपस्थिति में ही वैध माना जाएगा। इस अंग में द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता तथा पर्यायार्थिक नय गौण रहता है। दूसरा अंग "स्याद् नास्ति" है। इसका तात्पर्य यह है कि वस्तु के सम्बन्ध में कहा गया कथन सभी नियोगों की उपस्थिति में वैध नहीं है। कोई एक कथन किसी विशिष्ट नियोग में ही वैध हो सकता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा पर्याय की दृष्टि से वस्तु के सम्बन्ध में की गई सम्भावनाएँ किसी एक कथन में घटित नहीं हो सकती हैं। इस अर्थ में दूसरे अंग "स्याद् नास्ति" का प्रयोजन किया गया है। इसमें द्रव्यार्थिक नय गौण तथा पर्यायार्थिक नय की प्रधानता तीसरा अंग "स्याद् अस्ति नास्ति" है। इस अंग में वस्तु के सम्बन्ध में किसी विशिष्ट नियोग से उसके अस्तित्व को स्वीकार तथा किसी दूसरे नियोग के दृष्टिकोण से उसके अस्तित्व को अस्वीकार किया जाता है। वस्तु के सम्बन्ध में अस्ति कथन उसके निज रूप तथा नास्ति कथन उसके पर रूप का द्योतक है। इस अंग में द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक नय दोनों की प्रधानता रहती है। चौथा अंग "स्याद् अवक्तव्यम् है। इसमें वस्तु के सम्बन्ध में सभी नियोगों तथा दृष्टिकोणों से विचार किया जाता है। इस स्थिति में वस्तु में परस्पर विरोधी धर्म भी परिलक्षित होते हैं। इस तरह वस्तु में ऐसे अनन्त धर्म दीखते हैं जिनका कथन एक साथ करना असम्भव सा प्रतीत होने लगता है। अतएव वस्तु को "अवक्तव्यम् कहने के अलावा दूसरा कोई उपाय ही नहीं रहता है। पाँचवा अंग "स्याद् अस्ति व अवक्तव्यम्" है। इस अंग से वस्तु की सत्ता तथा उसकी अनिर्वचनीयता की सिद्धि होती है। इसमें वस्तु के

---

1. पंचास्तिकाय गाथा 14. तथा इसकी समयव्याख्या टीका

सम्बन्ध में किसी विशेष नियोग की दृष्टि से विचार करने पर अस्ति तथा एक से अधिक नियोगों की दृष्टि से एक साथ विचार करने पर "अवक्तव्यम्" कथन ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है। छठाँ भंग "स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम्" है। इसका तात्पर्य यह है कि वस्तु की सत्ता पर रूप से नहीं है . साथ-साथ इसकी पर्यायों की भिन्नता के कारण इसके सम्बन्ध में कोई कथन, "अवक्तव्यम्" के अलावा युक्तिसंगत प्रतीत होता ही नहीं है । सातवाँ भंग "स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यम्" है – अर्थात् वस्तु किसी विशिष्ट नियोग की दृष्टि से है तथा किसी विशिष्ट नियोग की दृष्टि से नहीं है। साथ-साथ सभी नियोगों की दृष्टिकोण से विचार करने पर वस्तु के अनन्त धर्म [परस्पर विरोधी भी] परिलक्षित होने से वह अव्यक्त अर्थात् अनिर्वचनीय हो जाता है । उक्त सप्तभंगी स्याद्वाद का रूप है, इसके साथ-साथ उक्त सप्तभंगित्व की उपस्थिति नयों में पायी जाती है ।

इस प्रकार स्याद्वाद सिद्धान्त जैन परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण देन स्वरूप है, जो वस्तु के सम्बन्ध में कहे गये प्रत्येक कथन को विभिन्न नयों से प्रामाणिकता प्रदान करता है तथा वस्तु को अनन्त धर्मात्मक मानकर उसके समग्रता के ज्ञान का भान कराता है ।

इस प्रकार स्याद्वाद तथा अनेकान्तवाद एक ही सिद्धान्त है, जिनका सम्बन्ध क्रमशः भाषा तथा चिन्तन से है। नय इस सिद्धान्त के अंग स्वरूप हैं, तथा समग्र रूप से इस सिद्धान्त का स्वरूप सप्तभंगी का है। स्याद्वाद के सम्बन्ध में नय, सप्तभंगीनय आदि जो उप सिद्धान्त हैं वह वस्तु के विभिन्न धर्मों का ही प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विवेचन करते हैं ।

समयसार में स्याद्वाद के बीज

समयसार आचार्य कुन्दकुन्द की कृति है, जिसमें आत्म विषयक चिन्तन का विवेचन भिन्न-भिन्न नयों तथा भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया गया है । यहाँ यद्यपि कुन्दकुन्द के ग्रन्थ समयसार में स्याद्वाद का विवेचन एक स्वतन्त्र अधिकार [अध्याय] में उपलब्ध नहीं होता है तथापि यहाँ अनेकान्त-

त्रयात्मक, मिथ्यात्वरागादिरहित, परमात्मस्वरूप आत्मा के एकत्व को सिद्ध करने हेतु जिस विवेकशक्ति का प्रयोग किया गया है, वह "अनेकान्तसिद्धि" [स्याद्वाद] ही है। जैन परम्परा की यह मान्यता है कि वस्तु अनेकान्त धर्म वाली है, अतः उसके वाचक शब्द के साथ-जब तक "स्यात्" शब्द का प्रयोग नहीं होता तब तक उसकी प्रतीति ही नहीं होती। कुन्दकुन्द तथा इनका समयसार इस भावना से परे नहीं है। इनकी कृति समयसार में भी आत्मा के विवेचन हेतु महत्वपूर्ण रूप से निश्चय नय तथा व्यवहार नय का प्रयोग किया गया है। यहाँ निश्चय नय को शुद्ध नय या परमार्थ नय आदि भी कहा गया है। निश्चय नय को भूतार्थ तथा व्यवहार नय को अभूतार्थ कहा गया है।[1] व्यवहार नय जीव के स्वभावों के रूप में पर भावों का विवेचन कर यह स्पष्ट करता है कि इस कथन का ज्ञान वास्तविक नहीं है। आत्मा पुद्गलद्रव्य को उत्पन्न करता है, कराता है, बाँधता है, परिणमता है और ग्रहण करता है - यह व्यवहार नय का कथन है।[2] निश्चय नय से आत्मा के सम्बन्ध में ये सारी बातें मिथ्यागत हैं। इसके अनुसार आत्मा अपने स्वभाव का ही कर्ता तथा भोक्ता है।[3] समयसार में शुद्ध नय का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि जो नय आत्मा को बन्ध और स्पर्श से रहित, अन्यपने से रहित, चलाचल भाव से रहित, विशेषता से रहित तथा संयुक्तापन से रहित अर्थात् अपने स्वाभाविक गुणों के संयोग के अतिरिक्त पर गुणों से संयुक्त न होने वाला जानता है, वह शुद्ध नय है।[4] इस नय से व्यवहार नय की धारणाओं का प्रतिषेध किया जाता है।[5] निश्चय नय आत्मा के स्वगुणों की ओर ध्यान आकृष्ट करता है, जबकि व्यवहार नय आत्मा के पर गुणों की ओर, अर्थात् आत्मा के पर गुणों को उसके स्वगुण होने का कथन

1- समयसार, गाथा 11.

2- वही, 107.

3- वही, 83.

4- वही, 14.

5- वही, 272.

व्यवहार नय की ओर ध्यान आकृष्ट करता है। आत्मा के स्वगुणों के उद्घाटन से व्यवहार नय के कथन का अस्तित्व समाप्त हो जाता है तथा उसमें वास्तविक गुण का ही प्रकाशन होता है, जो निश्चय नय का कथन है। समयसार में सभी जगह निश्चय तथा व्यवहार नय से कथन कर यह बताया गया है कि आत्मा, तथा इसकी सभी अवस्थाओं का विवेचन उक्त दो नयों से किया जा सकता है। एक दृष्टिकोण के अनुसार आत्मा "शुद्ध चैतन्य ज्ञायक स्वभाव" वाला है, तथा दूसरे दृष्टिकोण से ऐसे समस्त गुणों को आत्मा का गुण माना जाता है, जिसे पहले दृष्टिकोण में नहीं कहा गया है, अर्थात् आत्मा के "शुद्ध चैतन्य ज्ञायक स्वभाव" के बदले इसके पौद्गलिक कर्मों के कर्ता, भोक्ता, इसके बन्ध एवं मोक्ष प्राप्त होने आदि का कथन दूसरे दृष्टिकोण में ही होता है। उक्त पहला दृष्टिकोण निश्चय नय तथा दूसरा व्यवहार नय है ।

यद्यपि "समयसार" में वर्णित निश्चय नय तथा व्यवहार नय का क्षेत्र इतना विशद है कि मात्र इन्हीं दोनों नयों से वस्तु तत्त्व के "स्वरूप" एवं "पररूप" की व्याख्या हो जाती है। तथापि उक्त दोनों नयों का प्रयोग नय के ही रूप में हुआ है। नय मात्र किसी निश्चित अपेक्षा से ही वस्तु स्वरूप का कथन करता है। इस अर्थ में आत्म विवेचन को पूर्णता की ओर उन्मुख करते हुए निश्चय तथा व्यवहार दोनों नयों का समान अनुमोदन किया गया है तथा कहा गया है कि जीव के साथ कर्मों का बन्ध भी है, और अबन्ध भी है। यहाँ इन नय पक्षों को अतिक्रमण की बात कही गई है, तथा नय पक्षों के अतिक्रमण में शुद्ध आत्मा [समयसार] को ही समर्थ कहा गया है ।[1] इसका तात्पर्य उन पुरुषों से है जो शुद्ध आत्म स्वरूप में तल्लीन रहते हुए नय पक्षों का समुचित ज्ञान रखते हैं, लेकिन उनमें से किसी एक पक्ष को पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं करते हैं ।[2]

इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि समयसार का वर्ण्य-विषय आत्मा पूर्णरूपेण स्याद्वाद शैली द्वारा ही वर्णित है। अमृतचन्द्र ने समयसार की गाथा की

1- समयसार की गाथा 142.

2- वही, गाथा 143.

अलग-अलग जो टीका प्रस्तुत की है, उससे भी स्याद्वाद के रूप का दर्शन होता है। अतः यह मानना कि अमृतचन्द्र ने ही कुन्दकुन्द के वर्ण्य-विषय आत्मा को स्याद्वाद शैली में सिद्ध किया है, मूल कृति समयसार में मात्र आत्मा का विवेचन स्याद्वाद शैली से रहित रूप में है + उचित नहीं होगा। वस्तुतः अमृतचन्द्र ने जो स्याद्वाद शैली से आत्मा का वर्णन आत्मख्याति में प्रस्तुत किया है, वह मूल कृति समयसार में पूर्व से ही संक्षिप्त एवम् अस्पष्ट रूप में निहित है। अतः समयसार में आत्मा को स्याद्वाद शैली में जो विवेचन पाया जाता है, उसी का व्यापक एवं विकसित रूप अमृतचन्द्र आत्मख्याति में प्रस्तुत करते हैं।

अमृतचन्द्र का अलग से स्याद्वाद विवेचन, कारण एवं औचित्य

अमृतचन्द्र ने अलग से "समयसार" की टीका "आत्मख्याति" के अंग स्वरूप स्याद्वाद अधिकार को जोड़ कर यह विचारणीय प्रश्न खड़ा कर दिया है कि उनके अलग से इस अध्याय को जोड़ने का प्रयोजन क्या है? इसके पिछले विवेचन में यह स्पष्ट किया गया है कि समयसार में पूर्व से ही आत्मा का वर्णन व्यवहार तथा निश्चय नय के द्वारा उपलब्ध होता है, जो स्याद्वाद सिद्धान्त का उदाहरण है। "समयसार" की प्रत्येक गाथा की टीका में भी अमृतचन्द्र ने मूल गाथा के छिपे हुए स्याद्वाद संबन्धित रहस्यों को उद्घाटित किया है, तब उनके अलग से स्याद्वाद अधिकार जोड़ने का रहस्य क्या हो सकता है? एक बात और ध्यान देने योग्य है कि स्याद्वाद सिद्धान्त का स्वतन्त्र विवेचन न तो "समयसार" में ही उपलब्ध है न उसकी टीका "आत्मख्याति" में ही; वरन् "समयसार" में नय आदि का प्रयोग जिस उद्देश्य से हुआ है, उसी उद्देश्य से "आत्मख्याति" में भी स्याद्वाद अधिकार का प्रयोग हुआ है, अर्थात् आत्म विवेचन के सन्दर्भ में विभिन्न नयों का कथन "समयसार" के साथ-साथ "आत्मख्याति" में भी पाया जाता है। इस प्रकार यह भी स्पष्ट है कि अमृतचन्द्र के सम्मुख स्याद्वाद अधिकार जोड़ने का उद्देश्य "समयसार" में प्रयुक्त स्याद्वाद प्रयोजन से भिन्न भी नहीं है।

अमृतचन्द्र का युग दार्शनिक पराकाष्ठा का युग था। उनकी टीका का विषय कुन्दकुन्द विरचित "समयसार" - एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है। अध्यात्म-

ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय प्रायः सीधे आत्मा से सम्बन्धित होता है। आत्म-विवेचन की पर म्परा में जो निश्चय तथा व्यवहार नय का प्रयोग किया जाता है, उसमें पर पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाले व्यवहार नय के आलम्बन को गौण करके निश्चय नय के आलम्बन को मुख्य कर आत्मा को जाना जाता है। आत्मा को जानने के लिए पुरुष के लिए सर्वप्रथम उक्त दोनों प्रकार के नयों के प्रधान तथा गौण भाव का ज्ञान अपेक्षित है । इस प्रकार अमृतचन्द्र के सम्मुख यह प्रश्न आया होगा कि आत्मा को जानने की इच्छा रखने वालों के सम्मुख "समयसार" में वर्णित इन दोनों नयों के प्रधान तथा गौण भाव का परिचय दिया जाय। इस उद्देश्य से अमृतचन्द्र के इस स्वतन्त्र अधिकार में आत्मा से सम्बन्धित तत्-अतत्, सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि रूप[1] का विवेचन किया है।

अमृतचन्द्र के इस अध्याय के औचित्य पर विचार करने हेतु मूल कृति "समयसार" के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि यद्यपि "समयसार" में निश्चय नय द्वारा व्यवहार नय का प्रतिषिद्ध होना[2] बताया गया है, फिर भी उसमें नयों के प्रधान तथा गौण भाव को स्पष्ट करने हेतु पर्याप्त विवेचन का अभाव ही है। इस अभाव के पूरक के रूप में अमृतचन्द्र का स्याद्वाद अधिकार अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है, जो आत्मविवेचन को दार्शनिक रूप प्रदान करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि अमृतचन्द्र का यह स्वतंत्र स्याद्वाद अधिकार प्रयोजनपूर्ण है । इस अधिकार में आत्मा के सैंतालिस शक्तियों में जीवत्व शक्ति, चितिशक्ति आदि जोड़कर आत्मा के स्वाभाविक गुणों का जो उल्लेख अमृतचन्द्र ने प्रस्तुत किया है, वह ग्रन्थ समयसार के शुद्ध आत्मतत्त्व का संक्षिप्त रूप है। इसे प्रस्तुत करने में अमृतचन्द्र के आध्यात्मिक स्वविवेक का परिचय मिलता है , साथ ही आत्म-विवेचन को दार्शनिक रूप प्रदान होता है ।

अमृतचन्द्र से पूर्व स्याद्वाद की स्थिति एवं विकास

स्याद्वाद सिद्धान्त जैन दर्शन की मौलिक देन है। जैन दर्शन साहित्य में

1- समयसार कलश, 260.

2- वही, गाथा 272.

इस सिद्धान्त का विकास क्रमिक रूप से देखने को मिलता है। जैन धर्म के प्राचीन आगम ग्रन्थों में इस सिद्धान्त से सम्बन्धित विचार यत्र-तत्र देखने को अवश्य मिलते हैं, लेकिन इसका विकसित रूप बाद के ही आचार्यों के ग्रन्थों में सुलभ हो पाया है। स्याद्वाद सिद्धान्त वस्तु के अनेकान्त धर्मात्मक होने का सूचक है। आगमकालीन परम्पराओं में विधि, निषेध, उभय तथा अनुभय के आधार पर किसी विचार से सम्बन्धित चार विकल्पों का वर्णन मिलता है। यथा - {1} सत्य, मृषा, सत्य-मृषा, असत्य-मृषा।[1] {2} एक मार्ग प्रारम्भ में भी ऋजु और अन्त में भी ऋजु, एक मार्ग प्रारम्भ में सरल किन्तु अन्त में वक्र, एक मार्ग प्रारम्भ में वक्र किन्तु अन्त में सरल, एक मार्ग प्रारम्भ में वक्र और अन्त में भी वक्र।[2] इन उद्धरणों से यह ज्ञात होता है कि आगमिक परम्परा में विधि, निषेध, उभय तथा अनुभय {अवक्तव्य} ये चार पक्ष विचार से सम्बन्धित स्पष्ट हो चुके थे। भगवती सूत्र[3] तथा ज्ञातृधर्म-कथा[4] में वस्तु को अनेकान्त धर्मात्मक जैसा कहा गया है। इस तरह यह स्पष्ट होता है कि स्याद्वाद से सम्बन्धित विचारों के बीज आगमकालीन परम्परा में ही बोए जा चुके थे, जिसका विकसित रूप बाद की कृतियों में आया।

इसके पश्चात् जैन दर्शन साहित्य में आचार्य कुन्दकुन्द तथा उनकी कृतियों का नाम आता है। इनकी कृतियों में समयसार, प्रवचनसार, नियमसार तथा पंचास्तिकाय आदि अत्यन्त ही महत्वपूर्ण हैं। जैन साहित्य में स्याद्वाद के सूचक सप्तभंगों का नाम सर्वप्रथम कुन्दकुन्दाचार्य के "पंचास्तिकाय" तथा "प्रवचनसार" में ही देखने को मिलता है। कुन्दकुन्द अपनी कृति "समयसार" में आत्मा का विवेचन विभिन्न नयों से करके उसके शुद्ध रूप की स्थापना करते हैं। यहाँ आत्मा के सम्बन्ध में व्यवहार तथा निश्चय नय से विवेचन प्रस्तुत कर उसके शुद्ध स्वरूप का निरूपण किया गया है। इसके अलावा इनकी कृतियों में, अलग से स्याद्वाद सिद्धान्त विवेचन के रूप में किसी स्पष्ट तथ्य का प्रतिपादन नहीं मिलता।

1- चत्तारि भासाजाया पण्णत्ता तं जहा सच्चमेगं भासज्जायं, बीयं मोसं, तइयं सच्चमोसं, चउत्थं असच्चमोसं। -स्थानांग, 4/238.

2- चत्तारि मग्गा पण्णत्ता तं जहा - उज्जुनामेगेउज्जु, उज्जुनामेगे वंके, वंकेनामेगे उज्जु, वंके नामेगे वंके। -वही, 4/289.

3- भगवतीसूत्र, 12/10.

4- ज्ञातृधर्म कथा, 5/46.

उमास्वामि की कृति तत्वार्थसूत्र में अनेकान्तवाद विशेषकर नय वाद का वर्णन व्यापक रूप से मिलता है। यह कृति संस्कृत भाषा में है। जैन सिद्धान्तों को सर्वप्रथम संस्कृत भाषा में प्रस्तुत करने का श्रेय उमास्वामि को ही है। इनके पूर्व की आगमिक परम्परा की भाषा प्राकृत ही रही है। इनकी कृति तत्वार्थसूत्र में अर्पित -अनर्पित[1], प्रमाण नयों के भेद तथा उपभेदों[2] आदि का वर्णन विस्तृत रूप से पाया जाता है।

इसके पश्चात् समन्तभद्र का युग आता है। समन्तभद्र को जैन दर्शन का आद्य आचार्य कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी, क्योंकि उनके समग्र साहित्य जैन दर्शन के मूलभूत सिद्धान्त अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, नय आदि के विवेचन करने में सफल हैं। इन्होंने अन्य मतों की समीक्षा भी की है। इन्होंने अपना कृति "आप्तमीमांसा" में आप्त विषयक मूल्यांकन में अभावैकान्तवादी, भावैकान्तवादी, एकान्त पर्यायवादी तथा सर्वथा उभयवादी का तर्कपूर्ण विवेचन करते हुए निराकरण किया है। सर्वथा अद्वैतवाद, द्वैतवाद, कर्मद्वैत, फलद्वैत, लोकद्वैत, प्रवृत्ति का निरसन कर अनेकान्तात्मकता सिद्ध की गई है।

सिद्धसेन की कृतियों में भी स्याद्वाद सिद्धान्त का निरूपण स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। आचार्य की कृतियों में "सन्मतितर्क" तथा "न्यायावतार" का स्थान सर्वोत्कृष्ट है। कृति "सन्मतितर्क" में स्याद्वाद के आधार स्तम्भ नय तथा अनेकान्तवाद का विशद वर्णन किया गया है। मूल्यांकन के दृष्टिकोण से ऐसा स्पष्ट होता है कि समन्तभद्र तथा सिद्धसेन का काल दार्शनिक युग के खण्डन-मण्डन का काल था। उस काल के इन आचार्यों ने अपनी दार्शनिक कृतियाँ लिखकर जैन दर्शन को समग्रता प्रदान की है। हम समझते हैं कि इन आचार्यों ने स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, प्रमाण, नय आदि का जैसा विवेचन किया है, उसमें बाद के आचार्यों को और सम्वर्द्धन करने की कम जरूरत पड़ी।

1- तत्वार्थसूत्र, 5/31.
2- वही, 1/6.

इसके पश्चात् पूज्यपाद, मल्लवादी एवं जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदि आचार्यों ने सर्वार्थसिद्धि, नयचक्र, सन्मतितर्क टीका, विशेषावश्यक भाष्य आदि अपनी कृतियों में नयवाद , सप्तभंगी और अनेकान्तवाद का विवेचन सरल एवं दार्शनिक दृष्टि से करके इस युग में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। इसके बाद समन्तभद्र एवं सिद्धसेन के विवेचन कर्त्ता तथा स्वतन्त्र महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखने वाले आचार्य अकलंक देव एवं हरिभद्र सूरि का युग आता है। आचार्य श्री आनन्द ऋषि लिखते हैं कि यह युग दर्शनशास्त्र के इतिहास में विप्लव का युग था। शास्त्रार्थों की धूम मची हुई थी । बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति के उदय से बौद्ध दर्शन उन्नति की पराकाष्ठा पर था। धर्मकीर्ति ने अपने प्रबल तर्क बल से वैदिक दर्शनों पर प्रचण्ड प्रहार किए । जैन दर्शन भी इनके आक्षेपों से नहीं बचा था....।[1] इस स्थिति में अकलंकदेव ने धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक, प्रमाणविनिश्चय आदि ग्रन्थों में प्रतिपादित बौद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों के साथ जैनेतर दार्शनिक सिद्धान्तों की सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय, प्रमाण संग्रह तथा अष्टशती आदि अपने ग्रन्थों में समीक्षा की । हरिभद्रसूरि ने अपनी कृति "शास्त्रवार्तासमुच्चय", "अनेकान्तजयपताका" तथा"अनेकान्तवाद प्रवेश" में बौद्ध दर्शन के एकान्तिक धारणा की आलोचना की ।जैनेतर दर्शनों में प्रतिवादी के मत के मात्र खण्डन करने की प्रवृत्ति पायी जाती है, जबकि जैनाचार्यों ने अपने प्रतिवादी के मत को एकान्तिक बताकर अपनी अनेकान्तात्मक दृष्टि से उनका समाधान भी प्रस्तुत किया है । इसके अनन्तर आचार्य विद्यानन्दि एवं सातवीं शताब्दी के महान् दार्शनिक अकलंक के अर महाभाष्य लिखने वाले माणिक्यनन्दि [नवीं तथा दसवीं शताब्दी] के युग का प्रारम्भ होता है। आचार्य विद्यानन्दि की प्राप्त कृतियों की संख्या नव है। इन्होंने अपनी "कृति"श्लोकवार्तिक" में उमास्वामि के "तत्त्वार्थसूत्र" की व्याख्या, "अष्टसहस्री" में समन्तभद्र की "आप्तमीमांसा" का विस्तृत विवरण एवं "युक्त्यनुशासनालंकार" में समन्तभद्र की कृति "युक्त्यनुशासन" पर टीका की है। उक्त तीन व्याख्या ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने "आप्तपरीक्षा", "प्रमाणपरीक्षा", "पत्रपरीक्षा", "सत्यशासनपरीक्षा", तथा "श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र" की रचना की है। आचार्य ने अपनी कृति "सत्यशासन परीक्षा"

1- आचार्य श्री आनन्द ऋषि, स्याद्वाद सिद्धान्त एक अनुशीलन, पृ० 351.

में जैनेतर मतों के निरस्तीकरण के साथ अनेकान्तवाद का समर्थन किया है। आचार्य अपने उक्त ग्रन्थों में स्याद्वाद का प्रतिपादन तार्किक शैली में किया है। आचार्य माणिक्यनन्दि की कृति "परीक्षामुख" है जिसमें आचार्य अकलंकदेव के गम्भीर एवं दुर्गम विचारों का समावेश है। प्रमाणों से सम्बन्धित विवेचन के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। जैन संघ में यह काल न्याय तथा प्रमाण ग्रन्थों के संग्रह, परिशीलन तथा नये-नये ग्रन्थों के प्रणयन का स्वर्णिम काल रहा। इस काल के तार्किक विद्वानों में सिद्धर्षि, प्रभाचन्द्र तथा अभयदेव का भी नाम आता है ।

आचार्य सिद्धर्षि की सिद्धसेन के "न्यायावतार" पर एक टीका, तथा "उपमितिभवप्रपंचा" नामक विस्तृत कथा ग्रन्थ है। प्रभाचन्द्र की कृतियों में "प्रमेयकमलमार्तण्ड", "न्यायकुमुदचन्द्र", "शब्दाम्भोजभास्कर न्यास" आदि का नाम प्रमुख है। "प्रमेयकमलमार्तण्ड" कृति माणिक्यनन्दि के "परीक्षामुख" की व्याख्या स्वरूप है। "न्यायकुमुदचन्द्र" अकलंक के "लघीयस्त्रय" की व्याख्या है, तथा शब्दाम्भोजभास्कर जैनेन्द्र व्याकरण का भाष्य एवं न्यासग्रन्थ है ।

आचार्य अभयदेवसूरि की सिद्धसेन के "सन्मतितर्क" पर "तत्त्वबोध विधायिनी" टीका (वादमहार्णव) है । यह ग्रन्थ संस्कृत साहित्य की सबसे बड़ी कृति है, जिसमें आत्मा, ईश्वर, सर्वज्ञ, मुक्ति तथा वेदप्रामाण्य आदि विविध विषयों का विवेचन 25,000 श्लोकों में है । इन तीनों विद्वानों की कृतियों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि यहाँ सौत्रान्तिक, वैभाषिक, विज्ञानवाद, शून्यवाद, ब्रह्माद्वैत, शब्दाद्वैत, आदि बौद्ध एवं वैदिक मतों का समन्वय कर स्याद्वाद का नैयायिक पद्धति से विवेचन किया गया है ।

बारहवीं शताब्दी के प्रमुख आचार्यों में आचार्य वादिदेवसूरि व हेमचन्द्र का नाम आता है। आचार्य वादिदेवसूरि अपने समय के सर्वश्रेष्ठ वादी थे। इन्होंने स्याद्वाद का स्पष्ट विवेचन करने हेतु "प्रमाणनयतत्त्वालोक" नामक जैन न्याय-सूत्र की रचना की तथा इस कृति पर स्वतः "स्याद्वाद रत्नाकर" नामक बृहत्काय टीका की । बाद में इनके शिष्य रत्नप्रभः ने उक्त कृति का संक्षिप्त रूप "रत्नाकरावतारिका"

नाम की अपनी कृति में दिया। आचार्य हेमचन्द्र की कृतियों में "अन्ययोगव्यवच्छेदिका" "अयोगव्यवच्छेदिका", तथा "प्रमाणमीमांसा" आदि का नाम प्रमुख है। इनकी कृति "अन्ययोगव्यवच्छेदिका" में चार्वाक, न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्व-मीमांसा, उत्तर-मीमांसा, योगाचार, माध्यमिक आदि दर्शनों का समन्वय 32 श्लोकों में किया है। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि आगम कालीन युग से लेकर अमृतचन्द्र के पूर्व तक के बीच स्याद्वाद सिद्धान्त का विकास पूर्णतः हो चुका था। यद्यपि जैन आगमों में स्याद्वाद सिद्धान्त का स्पष्ट विवेचन उपलब्ध नहीं होता तथापि वहाँ भी वस्तु को अनन्त धर्मों का आश्रय मानकर उसके सम्बन्ध में बहुत प्रकार का कथन किया जाता है। इस तरह यह भी नहीं कहा जा सकता कि स्याद्वाद सिद्धान्त का जो विकसित रूप अमृतचन्द्र के सम्मुख था, उसका बीज आगमों में नहीं पाया जाता है। एतदर्थ यह कहा जा सकता है कि आगमों में स्याद्वाद से सम्बन्धित जो अस्पष्ट बीज बोये गये थे, उसे परवर्ती आचार्य परम्परा ने पल्लवित एवं पुष्पित किया।

अमृतचन्द्र की दृष्टि में स्याद्वाद का विस्तृत स्वरूप

जैन साहित्य की परम्परा में अमृतचन्द्र से पूर्व ही स्याद्वाद साहित्य का विकास हो चुका था। इस स्याद्वाद सिद्धान्त का आधार अनेकान्त दृष्टि है। वस्तु अनन्त धर्मात्मक है, अर्थात् किसी वस्तु में परस्पर विरोधी अनेक धर्म होते हैं। उन परस्पर विरोधी धर्मों का समन्वय कर वस्तु के यथार्थ स्वरूप का अवलोकन करना अनेकान्तवाद का लक्ष्य है। दूसरे शब्दों में वस्तु के अनेक धर्मों के विवेचन करने वाली पद्धति को स्याद्वाद कहा जाता है। "आत्मख्याति" के "स्याद्वाद अधिकार" में अमृतचन्द्र लिखते हैं कि यहाँ "समयसार" ग्रन्थ की समाप्ति के प्रसंग पर स्याद्वाद के शुद्ध अर्थ के प्रकाशन हेतु वस्तुतत्त्व की व्यवस्था तथा उपाय-उपेय भाव अर्थात् उपाय- जो मोक्ष मार्ग है, तथा उपेयभूत- जो मोक्ष है, उसका फिर से थोड़ा विचार करते हैं।[1] इस तरह यहाँ स्याद्वाद शैली में पुनः आत्मा का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

1- समयसार कलश, 246.

स्याद्वाद एवं अनेकान्तवाद

स्याद्वाद के सामान्य परिचय में यह स्पष्ट किया गया है कि वस्तु में अनन्त धर्मों की स्वीकृति अनेकान्त है, तथा उसे किसी कथन द्वारा स्यात् पद लगाकर क्रम से कथन करना स्याद्वाद है। अमृतचन्द्र ने पंचास्तिकाय की टीका "समयव्याख्या" में अनेकान्त तथा स्याद्वाद के सम्बन्ध को द्योत्य-द्योतक का सम्बन्ध कहा है ।[1] अनेकान्त स्वरूप वस्तु द्योत्य है, तथा स्याद्वाद मयी कथन शैली उसका द्योतक है। अमृतचन्द्र की सभी तत्त्वमीमांसीय कृतियाँ स्याद्वाद कथन शैली से सुसज्जित हैं। अस्तु इनके स्याद्वाद कथन शैली का आधार "अनेकान्त" ही है। इनकी कृतियों में समयसार की टीका "आत्मख्याति" हो या प्रवचनसार की टीका "तत्त्वदीपिका" ; पंचास्तिकाय की टीका "समयव्याख्या हो या उनकी मौलिक कृति "तत्त्वार्थसार", पुरुषार्थसिद्ध्युपाय तथा लघुतत्त्वस्फोट ; सभी जगह अनेकान्त की आधारशिला पर स्याद्वाद का व्यवस्थित महल खड़ा किया गया है। अमृतचन्द्र ने इसी अनेकान्त को, जो आत्मा के अनन्त धर्मों के रहस्यों को उद्घाटित करता है ; सदैव जगत् में प्रकाशित होने वालाकहा है ।[2] "प्रवचनसार" की टीका "तत्त्वदीपिका" के प्रारम्भ में कहा गया है कि जो अनेकान्तमय तेज महामोह रूप अन्धकार समूह को लीला मात्र में नष्ट करता हैतथा जगत् के स्वरूप को प्रकाशित करता है ऐसा अनेकान्त सदैव जयन्त रहे ।[3] पंचास्तिकाय की टीका "समयव्याख्या" के मंगलाचरण में उस परमात्मा को नमन अर्पित किया गया है, जो सहजानन्द तथा सहज चैतन्य, प्रकाशमय होने से महान् है तथा जिसकी महिमा अनेकान्त में स्थित है ।[4] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में भी अनेकान्त की वन्दना की गई है तथा इसे उत्कृष्ट जैन सिद्धान्त का प्राण कहा गया है ।[5]

1- पंचास्तिकाय की टीका समयव्याख्या, 14.

2- समयसार कलश, 9.

3- तत्त्वदीपिका, पद्य 2.

4- समयव्याख्या, पद्य 1.

5- पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य 2.

इस प्रकार अमृतचन्द्र की समस्त कृतियों में अनेकान्त के प्रति श्रद्धा का स्पष्ट उदाहरण उपलब्ध होता है। जैन दर्शन की परम्परा में वस्तु का मूल स्वरूप अनेकान्तात्मक होता है, एतदर्थ इसी के अनुरूप "आत्मख्याति" का आत्मा भी अनेकान्तात्मक है। इसी वस्तु स्वरूप या आत्म स्वरूप की प्रतिपादक शैली, स्याद्वाद है। "आत्मख्याति" में कहा गया है कि इसी स्याद्वाद के देदीप्यमान होने पर मनुष्य बन्ध व मोक्ष जैसे अधम भावों से दूर हो जाता है।[1]

नय

नय स्याद्वाद तथा अनेकान्तवाद का आधार स्तम्भ है। इस अधिकार के विवेचन में अमृतचन्द्र का लक्ष्य आत्मा के सम्बन्ध में विविध मतों के द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों की समालोचना तथा उनकी विपरीतता के प्रतिपादन में स्याद्वाद की भूमिका को स्पष्ट करना है। यहाँ स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव की अपेक्षा से अस्तित्व तथा परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल तथा परभाव की अपेक्षा से नास्तित्व का, एवं तत्-अतत्, सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि का विशद् वर्णन करते हुए आत्मा की अनेकान्तात्मकता का प्रतिपादन किया गया है। आत्मा के सम्बन्ध में उक्त विभिन्न प्रकार की अपेक्षाओं एवं दृष्टियों को आत्मख्याति में जिन दो प्रकार के नयों के वर्ग में रखा गया है। वे हैं - [1] निश्चय-नय, [2] व्यवहार नय।

निश्चय नय आत्मा के मात्र स्वाभाविक गुणों का ही विवेचन करता है। व्यवहार नय आत्मा में परद्रव्य के निमित्त से होने वाले परिणमन का कथन करता है। उक्त दोनों प्रकार के नयों को क्रमशः भूतार्थ तथा अभूतार्थ कहा गया है।[2] भूतार्थनय वस्तु में ऐसे गुणों का कथन करता है जो सहजमय हो, अर्थात् वस्तु के स्वाभाविक गुणों का कथन करता है तथा अभूतार्थ नय वस्तु के औपाधिक गुणों अर्थात् वैभाविक गुणों का कथन करता है।

1- समयसार कलश, 268.

2- आत्मख्याति, गाथा 11 की टीका.

स्याद्वाद शैली में आत्मा, मोक्ष मार्ग आदि पर पुनर्विचार

अमृतचन्द्र कृत "समयसार" की टीका के इस अधिकार में आरम्भ में ही कहा गया है कि स्याद्वाद की प्रसिद्धि हेतु वस्तु तत्व की व्यवस्था तथा उपाय-उपेय अर्थात् मोक्षमार्ग तथा मोक्ष पर संक्षिप्त रूप से पुनर्विचार किया जाता है। अतएव इसी क्रम में यहाँ भी इस अधिकार में प्रतिपादित आत्मा तथा मोक्ष आदि के विचारों को प्रस्तुत किया जा रहा है -

अमृतचन्द्र ने इस अधिकार में चौदह भंगों (कलशों) में आत्म विवेचन प्रस्तुत किया है। यहाँ तत्-अतत् से सम्बन्धित दो भंग, एक-अनेक से सम्बन्धित दो भंग, सत्-असत् के द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा से आठ भंग तथा नित्य-अनित्य की अपेक्षा से दो भंग अर्थात् सब मिलाकर चौदह भंगों के माध्यम से अमृतचन्द्र ने यह बताया है कि एकान्तिक दृष्टि से आत्मा का यथार्थ स्वरूप नहीं जाना जा सकता है। अनेकान्त दृष्टि से ही आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जाना जा सकता है । अमृतचन्द्र ज्ञान तथा ज्ञेय के माध्यम से आत्मा को समझने में उत्पन्न भ्रान्ति का निराकरण अपने पहले दो भंग में करते हैं। यहाँ बताया गया है कि ज्ञान स्वभाव से तत् रूप तथा परभाव से अतत् रूप है। ज्ञान तथा ज्ञेय में अन्तर नहीं समझना, ज्ञान को ज्ञेयाकार दीखने के कारण ज्ञेयाकार में ज्ञान का स्थित होना - समझ लेना एकान्तिक दृष्टि है। इसे अमृतचन्द्र ने पाशविक अज्ञान की तरह कहा है। ज्ञान का अनुभव ज्ञेय में करना, इसके अस्तित्व को ज्ञेय के पराधीन समझना एकान्तिक विचारधारा है । यहाँ स्याद्वादी विचारधारा से यह स्पष्ट किया गया है कि जो तत् है वह स्वरूप से तत् है । वह अपने स्वभाव से ज्ञेयाधीन नहीं है ।[1] दूसरे भंग में यह स्पष्ट किया गया है कि एकान्तिक विचारधारा समस्त विश्व को ज्ञान का विषय मानकर अपने को ज्ञानमय होने के कारण अपने को विश्वमय समझने लगती है। यहाँ स्याद्वादी विचार के अनुसार "ज्ञान" तत्व के स्वरूप को जानता है तथा यह स्पष्ट करता है कि समस्त विश्व ज्ञान अर्थात् आत्मा नहीं

1- समयसार कलश 247.

नहीं हो सकता। इस तरह ज्ञान स्वरूप से तत् रूप है तथा पररूप से अतत् रूप है ।[1] इसके अनन्तर अगले दो भंगों में स्याद्वादी विचारधारा से आत्मा के एक-अनेक रूप का कथन प्रस्तुत किया गया है। अमृतचन्द्र कहते हैं कि ज्ञान का स्वभाव पदार्थों को ग्रहण करना है। इस स्थिति में आत्मा में ज्ञेय पदार्थ के भिन्न-भिन्न रूप एवं आकार उल्लसित होते हैं। अतएव एकान्तवादी अज्ञानी आत्मा में भिन्न-भिन्न आकार के ज्ञेयों के उल्लसन से आत्मा को खण्ड-खण्ड रूप में यानी भिन्न-भिन्न प्रकार से समझने लगता है, जो ज्ञान के स्वभाव के विपरीत है। स्याद्वादी विचारधारा आत्मा को ज्ञेयाकारों की अपेक्षा से अनेक तथा द्रव्यरूप अपेक्षा से एक कहती है ।[2] पुनः एकान्तवादी अज्ञानी आत्मा को स्वभाव रूप से एक होने के ज्ञान से उसे सर्वथा एक ही समझने का भ्रम करता है। ज्ञेयाकारों की अपेक्षा से आत्मा के अनेक रूप को कलंक समझकर वह इस पक्ष से सर्वथा विमुख हो जाता है। स्याद्वादी विचारधारा आत्मा को पर्यायों की अपेक्षा से अनेक मानते हुए द्रव्यात्मक रूप से सर्वथा एक मानती है । अतः आत्मा के सम्बन्ध में वह दोनों पक्षों का ज्ञान रखकर इसके स्वाभाविक रूप की स्थापना करती है ।[3]

पुनः अमृतचन्द्र एकान्तवादियों के ज्ञान में ज्ञेय के प्रतिबिम्बित होने से ज्ञेय, परद्रव्य को ज्ञान समझने की भूल का विवेचन करते हैं । स्याद्वादी विचार से युक्त जीव के ज्ञान में ज्ञेय के प्रतिबिम्बित होते ही ऐसा शुद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है कि वह ज्ञेय के अलावा ज्ञानरूप स्वकीय द्रव्य के अस्तित्व का ही अनुभव करने लगताहै। इस प्रकार इस भंग से जीव के स्वद्रव्य की अपेक्षा से अस्तित्व का विवेचन किया गया है।[4] तदुपरान्त अगले भंग में परद्रव्य की अपेक्षा से इसके नास्तित्व का विवेचन किया गया है। यहाँ बताया गया हैकि एकान्तवादी अज्ञानी ज्ञान में ज्ञेय प्रतिबिम्बित पर द्रव्यों को स्वद्रव्य समझकर उसी में तल्लीन हो जाता है।

1- समयसार कलश, 248.

2- वही, 249.

3- वही, 250.

4- वही, 251.

स्याद्वादी पुरुष समस्त वस्तुओं में परद्रव्य के नास्तित्व को स्वीकृत करता हुआ सदैव स्वद्रव्य में ही तल्लीन रहता है।[1] इसके साथ ही अमृतचन्द्र जीव के स्वक्षेत्र की अपेक्षा से अस्तित्व का निरूपण करते हैं। एकान्तवादी अज्ञानी बाह्य पदार्थों के क्षेत्र में जीव का अनुभव करता है तथा उसी बाह्य पदार्थों में जीव के अस्तित्व को समझता है। लेकिन स्याद्वादी जानता है कि जीव का अस्तित्व स्वक्षेत्र में रहने से है। इसके स्वक्षेत्र में होने से पदार्थों के क्षेत्र मिट जाते हैं।[2] पुनः अगले भंग में जीव के परक्षेत्र की अपेक्षा से नास्तित्व का निरूपण किया गया है। यहाँ स्वक्षेत्र में स्थित ज्ञान में परक्षेत्रगत पदार्थों का आकार प्रतिफलित होने के कारण एकान्तवादी अज्ञानी यह सोचता है कि यदि मैं चैतन्य के आकारों को स्वक्षेत्र मानूँगा तथा अपना क्षेत्र छूट जाएगा। इस तरह वह परक्षेत्र से विमुख होने के साथ-साथ स्वक्षेत्र से भी च्युत हो जाता है । स्याद्वादी स्वक्षेत्र की अपेक्षा से जीव का अस्तित्व तथा परक्षेत्र की अपेक्षा से नास्तित्व स्वीकार करता है, अर्थात् परक्षेत्र में जीव के अस्तित्व का निषेध करता है।[3]

इसके अनन्तर अमृतचन्द्र स्वकाल की अपेक्षा से जीव के अस्तित्व एवं परकाल की अपेक्षा से इसके नास्तित्व का विवेचन करते हैं। अज्ञानी जीव पदार्थों के आलम्बन से ज्ञान मानता है। इसका परिणाम यह होता है कि वह पूर्वकाल में आलम्बित पदार्थों का क्षय हो जाने से ज्ञान का भी नाश हो जाना मानने लगता है। उसके अनुसार ज्ञान का अस्तित्व ज्ञेय पदार्थों के आलम्बन काल में ही है । स्याद्वादी ज्ञान तथा ज्ञेय के बीच के अन्तर को समझता है। अतएव वह ज्ञेय पदार्थों के आलम्बन का नाश होने पर उन पूर्वालम्बित ज्ञेयों का नाश समझता है, न कि ज्ञान को। इस तरह स्याद्वादी स्वकाल की अपेक्षा से जीव का अस्तित्व एवं परकाल की अपेक्षा से इसके नास्तित्व को स्वीकार करता है।[4] पुनः अमृतचन्द्र स्वकीय

1- समयसार कलश, 252.

2- वही, 253.

3- वही, 254.

4- वही, 255-256.

भाव की अपेक्षा से अस्तित्व एवं परभाव की अपेक्षा से उसके नास्तित्व का विवेचन करते हैं। अज्ञानी परभाव को ही स्वभाव समझकर उसी में तल्लीन रहता है। स्वभाव ज्ञान से वह पूर्णतः अनभिज्ञ होता है। लेकिन स्याद्वादी, जीव के स्वभाव ज्ञान को जानने के कारण परभावों से उसे सदैव भिन्न समझता है। इस प्रकार स्याद्वादी विचार के अनुसार आत्मा का अस्तित्व स्वभाव की अपेक्षा से है तथा इसका नास्तित्व परभाव की अपेक्षा से है।[1]

अन्त में अमृतचन्द्र अपने अन्तिम दो भंगों में आत्मा के नित्य-अनित्य होने का निरूपण करते हैं। एकान्तवादी अज्ञानी ज्ञान के अस्तित्व में ज्ञेय को आरोपित करते हुए ज्ञेय के आकार, उत्पाद तथा व्यय होने के कारण ज्ञान को भी उक्त गुणों से युक्त मानते हैं। फलतः ज्ञान की सृष्टि एवं उसके विनाश की बात उनके हृदय में रहती है। स्याद्वादी ज्ञान को ज्ञेय से पृथक जानकर ज्ञेय के सदृश ज्ञान को क्षणभंगुर नहीं मानते।[2] पुनः अज्ञानी, एकान्तवादी होने के कारण ज्ञान को द्रव्यरूप मानकर उसे नित्य ही स्वीकार करने लगता है, लेकिन स्याद्वादी द्रव्य एवं पर्यायों - दोनों पक्षों पर ध्यान देते हैं तथा यह मानते हैं कि आत्मा द्रव्य रूप से नित्य तथा ज्ञेयाकार रूप पर्यायों की अपेक्षा से अनित्य है।[3]

इस प्रकार अमृतचन्द्र अपने उक्त चौदह भंगों में आत्मा के सम्बन्ध में एकान्तवादी विचारधारा की आलोचना स्पष्ट करते हैं और यह स्पष्ट करते हैं कि एकान्तवादी विचारधारा शुद्धात्मा अर्थात "समयसार" को जानने में आंशिक रूप से सफल होती है। परिणामतः उसे जन्म-मरण के चक्र में फँसकर इस भवाटवी में भ्रमण करना ही पड़ता है। "समयसार" को जानने के लिए स्याद्वादी दृष्टि की आवश्यकता है। अमृतचन्द्र स्याद्वाद को जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित नीति बताते हुए इसके द्वारा ही वस्तु तत्व के वास्तविक स्वरूप के स्थापित होने का विवेचन करते हैं। ज्ञानी पुरुष इस नीति का कभी उल्लंघन नहीं करते अतएव वे कर्म-

---

1- समयसार कलश, 257-258.

2- वही, 259.

3- वही, 260.

बन्धन को काटकर मुक्त हो जाते हैं ।[1] स्याद्वाद सिद्धान्त के आधारभूत वस्तु के अनेकान्त स्वरूप को समझने वाले ही आत्मा तथा उसके विभिन्न स्व तथा पर रूपों को जान सकते हैं। अमृतचन्द्र के टीका-ग्रन्थ आत्मख्याति का स्याद्वाद विवेचन इस सिद्धान्त की पवित्रतातथा आत्मा की स्वरूपता को सिद्ध करने हेतु ही किया गया है। इसी क्रम में आत्मा के जीवत्व, अजड़त्व, अनाकार उपयोग रूप अर्थात् पदार्थों को निर्विकल्पक रूप से देखना आदि सैंतालीस शक्तियों का विवेचन किया गया है ।

अमृतचन्द्र के स्याद्वाद विवेचन की विशिष्टता

जैन परम्परा में स्याद्वाद के विकास एवं स्थिति के इतिहास को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि स्याद्वाद के बीज आगमिक परम्परा की देन हैं। इसके पश्चात् कुन्दकुन्द तथा उमास्वामि की कृतियों में इस विचारधारा के सप्तभंगीत्व तथा नयों के वर्णन का विकास देखने को मिलताहै। स्याद्वाद साहित्य का चरम् विकास समंतभद्र के साहित्य में उपलब्ध होता है। इसके बाद के जैन परम्परा के सभी मुख्य आचार्यों ने इस सिद्धान्त का समुचित विवेचन कर स्याद्वाद सिद्धान्त को चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया। जैन परम्परा में विकसित युग के आचार्यों के सम्मुख स्याद्वाद साहित्य के प्रयोग का मुख्य लक्ष्य वादी-प्रतिवादी के कथन का यथोचित् अर्थ स्पष्ट कर प्रत्येक कथन को प्रामाणिकता प्रदान करना था। साथ-साथ विरोधी के आक्षेपों से अपने सिद्धान्त को सुरक्षित रखना था। इस सन्दर्भ में अकलंक की कृति "सिद्धिविनिश्चय", "न्यायविनिश्चय", "प्रमाणसंग्रह" तथा हरिभद्रसूरि की कृति "शास्त्रवार्तासमुच्चय", "अनेकान्तजयपताका" तथा "अनेकान्तवादप्रवेश" आदि अग्रणी हैं ।

अमृतचन्द्र उक्त विचारधारा के अनुकूल स्याद्वाद का प्रयोग न तो शास्त्रार्थों में विजय प्राप्त करने हेतु करते हैं न किसी जैनेतर दार्शनिक सिद्धान्तों की समीक्षा

1- समयसार कलश, 265.

के लिए। अमृतचन्द्र परम आध्यात्मिक आचार्य हैं। एतदर्थ अमृतचन्द्र की सभी टीका ग्रन्थ तथा सभी मौलिक ग्रन्थों का लगभग मुख्य प्रतिपाद्य विषय शुद्धात्मा की प्राप्ति ही है। अध्यात्म की परम्परा में आत्मा का कथन "निश्चय" तथा "व्यवहार" दो नयों से किया जाता है। यहाँ निश्चय नय के कथन को प्रधान तथा व्यवहार नय के कथन को गौण करके आत्मा को समझा जाता है। इस प्रधान तथा गौण भाव को ग्रहण करने में उत्पन्न भ्रान्ति के निराकरण हेतु अमृतचन्द्र स्यादाद अधिकार का प्रयोजन करते हैं। इनकी स्यादाद विवेचन की विशिष्टता यह है कि इन्होंने वस्तु तत्व को समझने में एकान्तिक दृष्टिकोण को अनुपयुक्त बताया है। यहाँ आत्मा के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी रूपों के वर्णन को स्वभाव तथा परभाव से सिद्ध कर आत्मा को अनेकान्त रूप में विवेचन किया गया है। इस अनेकान्त स्वरूप सम्पन्न आत्मा को एकान्तिक दृष्टि से नहीं जाना जा सकता है। इस प्रकार यहाँ स्यादाद का विवेचन आत्मा के सन्दर्भ में हुआ है।

सप्तम् अध्याय

मूल्यांकन एवं उपसंहार

समयसार की टीका - आत्मख्याति, जैन अध्यात्म ग्रन्थों में महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। आत्मख्याति अमृतचन्द्रसूरि द्वारा लिखित कुन्दकुन्द की कृति समयसार पर सम्भवतः प्रथम टीका है। पं0 कैलाशचन्द्र शास्त्री लिखते हैं - "यह एक आश्चर्य की ही बात है कि प्रायः एक हजार वर्ष तक किसी भी पुराणकार या साहित्यकार ने, आचार्य कुन्दकुन्द का स्मरण नहीं किया ; यद्यपि उनके ग्रन्थों में पाई जाने वाली गाथाएँ यतिवृषभ की "तिलोयपण्णत्ति" जैसे प्राचीन ग्रन्थों में, पूज्यपाद की "सर्वार्थसिद्धि" में, अकलंक देव के "तत्त्वार्थवार्तिक" और विद्यानन्दि की "अष्टसहस्री" में उपलब्ध है ।....आचार्य अमृतचन्द्र तो इन सबके पश्चात् हुए हैं पर उन्होंने ही सर्वप्रथम कुन्दकुन्द के समयसार, प्रवचनसार तथा पंचास्तिकाय पर अपनी टीकाएँ लिखी और एक तरह से उपेक्षित कुन्दकुन्द, जिनशासन के सिरमौर बन गये ।"[1] इस प्रकार जैन आचार्य परम्परा में आचार्य अमृतचन्द्र को कुन्दकुन्द के प्रथम टीकाकार होने के साथ-साथ अपनी सहस्रवर्षीय पूर्वाचार्य परम्परा के उन्नायक एवं सम्प्रसारक तथा उत्तरवर्ती शिष्य परम्परा के प्रणेता एवं अध्यात्मधारा के प्रवाहक होने का श्रेय दिया जा सकता है। निःसन्देह अमृतचन्द्र एक कुशल टीकाकार, मौलिक चिन्तक एवं दार्शनिक के रूप में जैन परम्परा में प्रतिष्ठित हैं ।

अमृतचन्द्र कृत समयसार की टीका आत्मख्याति मूल रूप से आत्मचिन्तन प्रधान ग्रन्थ है। इन्होंने समयसार को समस्त पदार्थों में श्रेष्ठ अर्थात् आत्मा शब्द से सम्बोधित कर इस सत्ता के प्रति अपना नमस्कार अर्पित किया है ।[2] इस आत्मख्याति में क्रमिक रूप से पूर्वरंग, जीवाजीवाधिकार, कर्तृकर्माधिकार, पुण्य-पापाधिकार, आस्रवाधिकार, संवराधिकार, निर्जराधिकार, बन्धाधिकार, मोक्षाधिकार, सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार तथा स्याद्वाद एवं साध्य-साधक अधिकार नामक अध्यायों में

1- पं0 कैलाशचन्द्र शास्त्री, अध्यात्म-अमृत-कलश के प्राक्कथन, पृ0 7.

2- आत्मख्याति, कलश संख्या 1.

कुन्दकुन्द के समयसार के अभिप्राय को व्यापक टीका के साथ प्रस्तुत किया गया है। "पूर्वरंग" समयसार के प्रारम्भ से 38 गाथा की टीका पर्यन्त चलता है, जिसमें बारह गाथा पीठिकारूप तथा इसके आगे की शेष गाथाओं में आत्मा के शुद्ध स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। इसमें अमृतचन्द्र 32 श्लोकों का प्रणयन मौलिक रूप से करके समयसार की गाथाओं के हार्द को स्पष्ट करते हैं। "जीवाजीवाधिकार" में जीव-अजीव तथा इनके परस्पर विरोधी स्वरूप का प्रतिपादन कर जीव या आत्मा को पर-पदार्थों (अजीव तथा अजीवाश्रित भावों) से भिन्न रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। यह अधिकार समयसार की 39वीं गाथा से लेकर 68वीं गाथा तक की टीका तक चलता है, जिसमें अमृतचन्द्र द्वारा प्रणीत 13 कलशों का भी समायोजन है। "कर्तृकर्माधिकार" में जीव तथा अजीव के सन्दर्भ में कर्ताकर्म होने का विचार किया गया है। साथ ही "कर्म का कर्ता कौन है?" इस प्रश्न का दार्शनिक उत्तर देने हेतु जीव, अजीव, तथा इनके रागादिक भाव का व्यापक विवेचन किया गया है। अन्त में जीव या आत्मा को कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व के विकल्प से रहित शुद्ध सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया गया है। यह अधिकार समयसार की 69वीं गाथा से 144वीं गाथा तक की टीका में वर्णित है। इसके साथ-साथ इस अधिकार में अमृतचन्द्र के 54 मौलिक श्लोकों का भी समायोजन है। "पुण्य-पापाधिकार" में पुण्य को शुभ तथा पाप को अशुभ रूप में विवेचन करते हुए बन्ध की अपेक्षा से दोनों को एक ही कोटि में रखा गया है। पुण्य कर्म से पुण्य बन्ध तथा पाप कर्म से पाप बन्ध प्राप्त होता है। यह अधिकार समयसार की 145वीं गाथा से 163वीं गाथा तक की टीका पर्यन्त चलता है, जिसमें 13 श्लोक भी हैं। "आस्रवाधिकार" में आत्मा के अन्दर मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय तथा योग के कारण कर्माणुओं के प्रवेश को आस्रव कहा गया है। यही आस्रव बन्ध का कारण है। इसका विवेचन समयसार की 164वीं गाथा से 180वीं गाथा तक की टीका तथा 12 श्लोकों में हुआ है। "संवराधिकार" में संवर को आस्रव विरोधी तत्त्व कहा गया है तथा इसके कारण के रूप में "भेदज्ञान" का विवेचन किया गया है। भेदज्ञान का तात्पर्य जीव का अपने तथा अपने से भिन्न समस्त पदार्थों के भावों का ज्ञान रखना है। यद्यपि जैन परम्परा के अन्य ग्रन्थकार गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय तथा चरित्र आदि का संवर के कारण के रूप में

वर्णन करते हैं, लेकिन आत्मख्याति में भेदज्ञान पर बल देकर उसे ही संवर का कारण बताया गया है । यह अधिकार समयसार की 181वीं गाथा से 192वीं गाथा तक की टीका तथा 8 मौलिक श्लोकों में वर्णित है । "निर्जराधिकार" में भेदज्ञान से सम्पन्न जीव के कर्मों का निर्जरण होना बताया गया है । यह अधिकार समयसार की 193वीं गाथा से 236वीं गाथा तक की टीका तथा 30 मौलिक श्लोकों में वर्णित है।

"बन्धाधिकार" में आत्मा तथा पौद्गलिक कर्मों के संसर्ग को बन्ध कहा गया है और यह स्पष्ट किया गया है कि इस बन्ध का कारण रागादिभाव है, जो जीव की अज्ञानावस्था में द्रव्य कर्मों की उदयावस्था का निमित्त पाकर उत्पन्न होता है। यह अधिकार 237वीं गाथा से 287वीं गाथा तक की टीका तथा 17 श्लोकों में वर्णित है। "मोक्षाधिकार" में आत्मा को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र स्वरूप कहा गया है। आत्मा की स्वभाविक स्थिति ही मोक्ष की अवस्था है। मोक्ष के कारण के रूप में प्रज्ञा का विवेचन किया गया है। यह अधिकार समयसार की 288वीं गाथा से 307वीं गाथा तक की टीका एवं 12 श्लोकों में वर्णित है ।

"सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार" में आत्मा के अनन्त गुणों में से प्रमुख गुण - ज्ञान का विवेचन किया गया है। साथ ही साथ इसमें पूरे ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय आत्मा को ज्ञान के सन्दर्भ में एक बार पुनः विवेचित करने का प्रयास किया गया है। यह अधिकार समयसार की 308वीं गाथा से 415वीं गाथा तक की टीका तथा 54 श्लोकों में वर्णित है। इस प्रकार अमृतचन्द्र ने अपने टीकाग्रन्थ आत्मख्याति में समयसार की सब मिलाकर 415 गाथाओं की टीका प्रस्तुत की है । जिसके अभिप्राय को सुस्पष्ट करने हेतु उन्होंने मौलिक रूप से 277 श्लोकों [कलशों] का भी प्रणयन किया है ।

स्याद्वाद एवं साध्य-साधक अधिकार को अमृतचन्द्र ने मूल कृति समयसार की अनुक्रमणिका में अपनी ओर से जोड़ा है, जिसका वर्णन 32 श्लोकों में हुआ है। यहाँ स्याद्वाद पद्धति से आत्मा के विभिन्न स्वभाविक एवं अस्वभाविक स्थितियों का विवेचन कर उसके अनेकान्तात्मकता का प्रतिपादन किया गया है ।साध्य एवं साधक के रूप में आत्मा का ही विवेचन किया गया है ।

आत्मख्याति के उपर्युक्त सभी अधिकारों का व्यापक विवेचन इस शोध-प्रबन्ध के प्रस्तावना के प्रथम भाग में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, जिससे यह प्रतीत होता है कि आत्मख्याति के सभी अधिकारों का परम् उद्देश्य शुद्धात्म तत्त्व [स्वसमय] का प्रतिपादन करना ही है। शुद्धात्म तत्त्व चैतन्य स्वरूप ज्ञायक मात्र है। इससे भिन्न परिलक्षित जीव को "परसमय" कहा गया है। इसी वैभाविक परिणमन से परिणमित जीव के लिए आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष की अवस्थाएँ हैं। शुद्ध जीव सर्वथा मुक्त रहता है। इसका स्पष्ट विवेचन सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार में हुआ है। यही शुद्ध जीव जैन परम्परा में अध्यात्म जगत् की सर्वोच्च सत्ता है ।

भारतीय दर्शन वाङ्.मय में आत्मचिन्तन की परम्परा का प्रारम्भ वेद एवं उपनिषदों से होता है, जो विविध दर्शनों के केन्द्रीय सिद्धान्त के रूप में अपना स्थान बना लेता है। यहाँ आत्मा को मन, शरीर तथा इन्द्रियादि से भिन्न सूक्ष्म तथा अवर्णनीय सत्ता के रूप में प्रतिपादित किया गया है। यहाँ जीव, आत्मा तथा ब्रह्म में कोई मौलिक भेद नहीं किया गया है, इनमें मात्र अवस्था का भेद है। आत्मा के सम्बन्ध में उक्त उपनिषदीय धारणा के साथ यह भी स्पष्ट है कि सभी उपनिषदों में न तो आत्मा का वर्णन समग्ररूपेण एक जैसा हो पाया है, न इसका वर्णन क्रमिक रूप से ही उपलब्ध होता है। सूक्ष्म अध्ययन से जैन दर्शन तथा समयसार की टीका - आत्मख्याति, का आत्मविचार उपनिषदीय आत्मा सम्बन्धी विचार से बहुत सन्निकट प्रतीत होता है। आत्मख्याति का भी आत्मा मन, शरीर तथा इन्द्रियादि से भिन्न आध्यात्मिक सत्ता है। उपनिषद् तथा आत्मख्याति के आत्मविचारों में महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि जहाँ उपनिषद् में जीव, आत्मा तथा ब्रह्म तीन अवस्थाओं की कल्पना है, वहाँ आत्मख्याति के आत्मा में किसी तरह की अवस्थाओं की कल्पना न होकर उसे ही विभु, परमेश्वर[1] आदि कहकर सर्वोच्च सत्ता के रूप में वर्णित किया गया है। इसके अलावा दोनों के वर्ण्य विषय की शैली एक दूसरे से बहुत भिन्न है। भारतीय दर्शन के परम्परावादी दार्शनिक सम्प्रदायों ने भी आत्म-

---

1- समयसार, कलश 1 तथा गाथा 37 की आत्मख्याति टीका.

चिन्तन को ही अपने चिन्तन-विषय का महत्त्वपूर्ण अंग बनाया है। इसका आत्म-चिन्तन आत्मख्याति के आत्म विवेचन से वर्ण्य शैली की विभिन्नता के बावजूद भी एक दूसरे से काफी निकट है। अस्तु इनके यहाँ इन सम्बन्धों के प्रत्येक पक्ष को यथासम्भव संक्षिप्त रूप से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम नास्तिक दर्शनों के आत्मा सम्बन्धी विचारों को "आत्मख्याति" के आत्मविचारों से तुलना की गयी है, तदनन्तर आस्तिक दर्शनों के सन्दर्भ में आत्मख्याति के आत्मा सम्बन्धी विचारों का विवेचन किया गया है ।

चार्वाक दर्शन को नास्तिक शिरोमणि के अभिधान से अभिहित किया गया है। यहाँ आत्मा की कोई नित्य, शाश्वत् तथा आध्यात्मिक विवेचना उपलब्ध नहीं है। यहाँ आत्मा के सम्बन्धमें देहात्मवाद[1], इन्द्रियात्मवाद, मनात्मवाद[2] तथा प्राणात्मवाद[3] आदि सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया गया है। किन्तु "आत्मख्याति" काआत्मा शाश्वत्, शरीरादि सभी प्रकार के पौद्गलिक द्रव्यों से भिन्न तथा चैतन्य स्वरूप है। इसके विपरीत चार्वाक इस "चेतन" की व्याख्या चतुर्भूतों[4] (पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु) के आधार पर करते हैं, किन्तु "सूत्रकृतांग" (जैन परम्परा के द्वादशांग साहित्य का दूसरा अंग) में इन चतुर्भूतों के स्थान पर पंचभूतों का उल्लेख है और यह कहा गया है कि इन पाँच महाभूतों में से किसी एक के विनाश से चेतन तत्त्व का विनाश हो जाता है ।[5] इस तरह आत्मा के सम्बन्ध में चार्वाक दर्शन का दृष्टिकोण "आत्मख्याति" सम्मत आत्मविचारों से बिल्कुल विपरीत है ।

बौद्ध दर्शन "आत्मख्याति" के समान निर्वाण आदि प्रत्यय पर बल देते हुए भी आत्मा की कोई नित्य सत्ता स्वीकार नहीं करता । बौद्ध दर्शन में रूप, वेदना,

---

1- सायणमाधवः, सर्वदर्शनसंग्रह, 1/63-64.

2- अन्यो ऽन्तर आत्मा मनोमयः । -तै0उ0, 2/3/1.

3- अन्यो ऽन्तर आत्मा प्राणमयः । -वही, 2/2/1.

4- बर्हस्पत्यसूत्रम 2, चार्वाक षष्टी, 54.

5- सूत्रकृताङ्ग, 1/1/1/7-8.

संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान – इन क्षणिक पंचस्कन्धों के अतिरिक्त शाश्वत् आत्मा की सत्ता नहीं मानी गयी है, किन्तु "आत्मख्याति" चैतन्य स्वरूप आत्मा की सत्ता स्थापित करती है, जो समस्त वर्णादि तथा रागादिक [पुद्गल] से भिन्न तथा अभेद्य है ।[1]

न्याय-वैशेषिक तथा "आत्मख्याति" के आत्मा सम्बन्धी विचार में आत्मा शरीरादि भौतिक द्रव्यों से भिन्न आध्यात्मिक सत्ता है। न्याय-वैशेषिक आत्मा को अपरिणामी मानते हैं ।[2] आत्मख्याति का शुद्ध आत्मा [समयसार] भी सभी तरह के पर-परिणमनों से रहित है। दोनों में महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि जहाँ "आत्मख्याति" आत्मा को चैतन्य स्वरूप मानती है, वहाँ न्याय-वैशेषिक चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक गुण मानते हैं। इनके अनुसार सुषुप्ति तथा मोक्ष की अवस्था में आत्मा जड़वत रहता है। इसके विपरीत "आत्मख्याति" के आत्मा का स्वभाविक गुण ही चेतन है। यहाँ "स्वसमय" तथा"परसमय" की कोटि में विभक्त[3] दोनों ही तरह का आत्मा चैतन्य स्वरूप है। साथ ही जहाँ न्याय-वैशेषिक सम्मत आत्मा ज्ञाता, कर्ता तथा भोक्ता है[4], वहाँ आत्मख्याति के निश्चय नय से विवेचित आत्मा ज्ञाता के अलावा कर्ता तथा भोक्ता नहीं है। इसे कर्ता तथा भोक्ता समझने का कारण अज्ञान है ।[5] इस तरह यह स्पष्ट होता है कि दोनों के आत्मा सम्बन्धी विचारों में मौलिक भिन्नता है ।

सांख्य दर्शन "आत्मख्याति" में विवेचित जीव या आत्मा को पुरुष कहता है। यहाँ भी "आत्मख्याति" के जीव-अजीव की विवेचना के समान पुरुष-प्रकृति की सत्ता स्थापित की गई है । दोनों ही संख्यात्मक दृष्टि से बहुजीववादी तथा चैतन्य स्वरूप हैं। साथ ही यहाँ सांख्य पुरुष को नित्य तथा कूटस्थ कहता है ।

1- समयसार कलश , 37.

2- डा० लालचन्द जैन, जैन दर्शन में आत्म विचार, पृ० 25.

3- आत्मख्याति, समयसार की गाथा संख्या 2 की टीका.

4- न्यायभाष्य, 1/1/9.

5- समयसार कलश, 193.

"आत्मख्याति" का आत्मा भी नैश्चयिक अर्थ में नित्य होने के साथ-साथ कूटस्थ भी है, क्योंकि यहाँ भी आत्मा का कोई पर-परिणमन नहीं होता है । सांख्य का पुरुष राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि भावों से पूर्णतः रहित है, उसी की भाँति आत्मख्याति का आत्मा भी वर्णादिक तथा राग-मोहादि भाव से रहित शुद्ध सत्ता है।[1] सांख्य का पुरुष कार्य-कारण की शृंखला से परे है, उसी तरह "आत्मख्याति" का आत्मा भी कार्य-कारण से परे की सत्ता है ।[2]

सांख्य दर्शन का पुरुष जहाँ ज्ञानस्वरूप नहीं है, अपितु ज्ञान बुद्धि का गुण है, जो उसके अनुसार प्रकृति का परिणाम है, वहाँ आत्मख्याति का आत्मा ज्ञानस्वरूप है जो परभावों को जानकर अपने स्वभाव गुण में स्थित रहने का यत्न करता है ।[3] इसके साथ ही सांख्य दर्शन का पुरुष निर्लिप्त है। परन्तु आत्मख्याति के आत्मा को निर्लिप्त नहीं कहा जा सकता । यहाँ कहा गया है कि बन्ध का कारण मात्र रागादिकों के साथ उपयोग [आत्मा] का एक होना है।[4] आत्मा का रागादिकों से मिलकर बन्ध के रूप में हो जाना इसके निर्लिप्त नहीं होने का प्रमाण है, लेकिन इसके अतिरिक्त निश्चय नय से आत्मा का मूल रूप कर्ता, भोक्ता, बन्ध एवं मोक्ष आदि की धारणाओं या विकल्पों से रहित है ।[5] इस अर्थ में आत्मख्याति का आत्मा निर्लिप्त भी हो सकता है ।

इस प्रकार सांख्य तथा आत्मख्याति दोनों के आत्मा को अकर्ता तथा अभोक्ता माना गया है, लेकिन इस सम्बन्ध में अमृतचन्द्राचार्य का कहना है कि आत्मा सांख्य के पुरुष के समान अकर्ता नहीं है। सांख्य का दृष्टिकोण एकान्तिक है। आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार भेदज्ञान के बाद ही आत्मा अकर्ता, अचल तथा परम्

1- समयसार कलश, 37.

2- आत्मख्याति, समयसार की गाथा संख्या 310 की टीका.

3- वही, गाथा 34 की टीका.

4- समयसार कलश, 164.

5- आत्मख्याति, समयसार की गाथा सं0 414-15 की टीका.

ज्ञाता होता है ।[1] सांख्य आत्मा की मोक्षावस्था को चैतन्यस्वरूप के साथ-साथ समस्त प्रकार के दुःखों से रहित मानते हैं, किन्तु आत्मख्याति में कहा गया है कि "समयसार" को जानकर इसके यथार्थरूप प्राप्त करने वाले पुरुष परमानन्दमय स्वात्मोत्थ, स्वाधीन, बाधारहित, उत्तम सुख प्राप्त करते हैं।[2] इस तरह आत्मख्याति में आत्मा की मोक्षावस्था को आनन्द एवं उत्तम सुख प्राप्त होने की अवस्था कहा गया है । इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि सांख्य तथा आत्मख्याति का आत्मा निर्लिप्त, अपरिणामी, नित्य, अकर्ता, उपभोक्ता है फिर भी दोनों के बीच उक्त धारणाओं के निर्धारण के स्वरूप में अत्यधिक भिन्नता है। अतएव दोनों के विचारों में कोई निश्चित तरीके से समानता की बात नहीं की जा सकती ।

मीमांसा तथा आत्मख्याति दोनों के मत में आत्मा अमर, स्वयंप्रकाश, आत्मज्योतिरूप तथा उत्पत्ति विनाश से रहित सत्ता है। मीमांसा का आत्मा न्याय-वैशेषिकों की तरह चैतन्यवान् तो है, किन्तु चैतन्यस्वरूप नहीं। यहाँ चेतना को आत्मा का औपाधिक गुण माना जाता है। यहाँ मीमांसा दर्शन के आचार्य प्रभाकर एवं कुमारिल भट्ट आत्मा के सम्बन्ध में अपना भिन्न-भिन्न विचार प्रस्तुत करते हैं। प्रभाकर के अनुसार आत्मा जड़वत् है। कुमारिल भट्ट आत्मा को न तो न्याय-वैशेषिक एवं प्रभाकर के समान जड़वत मानते हैं और न आत्मख्याति की तरह चैतन्यस्वरूप ही । इन्होंने आत्मा को बोधाबोधात्मक स्वरूप कहा है। कुमारिल आत्मा को नित्य के साथ-साथ परिणामी भी कहते हैं। आत्मख्याति आत्मा को मात्र व्यवहारनय से ही परिणामी कहती है ।

अद्वैत वेदान्त तथा आत्मख्याति सम्मत विचारों में आत्मा को सभी अवस्थाओं में चैतन्य भाव से सम्पन्न माना गया है। आत्मख्याति के साथ-साथ अद्वैत मत में भी आत्मा की मोक्षावस्था आनन्द की अवस्था है। दोनों मतों में मोक्ष की प्राप्ति होती है तथा आत्मख्याति में "भेदज्ञान" अर्थात आत्मा का अनात्मा से

1- समयसार कलश, 204.

2- आत्मख्याति, समयसार की गाथा संख्या 415 की टीका.

भिन्न होने के ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होना बताया गया है। अद्वैत तथा आत्मख्याति के मतों में महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि आत्मख्याति में जीव या आत्मा को एक ही सत्ता का नाम कहा गया है, जबकि अद्वैत मत में जीव, आत्मा तथा ब्रह्म में अन्तर निर्दिष्ट किया गया है। अद्वैत मत में ब्रह्म के अतिरिक्त और किसी की वास्तविक सत्ता का निषेध किया गया है, जबकि "आत्मख्याति" में स्पष्ट रूप से जीव के अलावा अजीव की भी सत्ता स्वीकार की गयी है। अद्वैत मत के जीव, आत्मा तथा ब्रह्म के समान "आत्मख्याति" में कोई ऐसी श्रेणी का निर्धारण नहीं है। अद्वैत मत का आत्मा मोक्षावस्था में ब्रह्म में विलीन हो जाता है, जबकि "आत्मख्याति" का आत्मा अपने शुद्ध अवस्था अर्थात् मोक्षावस्था में स्वयं विभु, परमेश्वर या सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक सत्ता हो जाता है ।[1] वेदान्त का आत्मा एक है, अनेक दृश्य शरीर स्वप्नवत् शरीरों के समान निर्जीव है, लेकिन आत्मख्याति का आत्मा गुणात्मक दृष्टि से एक होते हुए प्रति शरीर भिन्न-भिन्न है ।

विशिष्टाद्वैत मत में "आत्मख्याति" के जीव या आत्मा को जीवात्मा कहा गया है। इसके तीन भेद किए गए हैं - बद्ध, मुक्त, तथा नित्य। आत्मख्याति में व्यवहार से "परसमय" अर्थात् बद्ध आत्मा का विवेचन किया गया है, लेकिन मूल स्वभाव के अर्थ में आत्मा सदैव मुक्त ही रहता है। विशिष्टाद्वैत मत के समान "आत्मख्याति" में आत्मा के तीन भेद नहीं किए गये हैं। जहाँ रामानुज का जीवात्मा कर्ता तथा भोक्ता है, वहीं "आत्मख्याति" का आत्मा नैश्चयिक अर्थ अर्थात् स्वाभाविक गुण में स्थित होने पर न तो कर्ता है न भोक्ता ही । साथ-साथ बन्ध तथा मोक्षादि के भावों से रहित होकर शुद्ध चैतन्य ज्ञायक मात्र बना रहता है ।

इस प्रकार आत्मख्याति का जीव सभी तरह के अजीव पदार्थों से भिन्न स्वरूप वाला है। जीव चैतन्य स्वरूप है, जबकि अजीव इससे भिन्न चेतनहीन है। इसका जीव अपने स्वभाव गुण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का कर्ता तथा भोक्ता है। इससे भिन्न अजीव तत्त्व का वह न तो कर्ता है न भोक्ता ही। रागादिक परिणाम द्रव्य कर्म की

1- समयसार कलश , 1.

उदयावस्था के परिणाम हैं, न कि जीव के । अतएव जीव पौद्गलिक पदार्थों का न तो कर्ता है न भोक्ता ही । आत्मा का कर्म रूप परिणमन रागादि भाव के कारण दीख पड़ता है – इस तथ्य का कथन "आत्मख्याति" में व्यवहार नय से किया गया है। यहाँ पुण्य तथा पाप कर्म – दोनों को रागादिक भाव रूप परिणमन कहा गया है ।

उक्त दोनों ही तरह के कर्मों के मूल में राग होता है। अतएव पाप कर्म के साथ-साथ पुण्य कर्म भी बन्ध की दृष्टि से समान ही है। बन्ध के मूल कारण में रागादि भाव ही हैं। बन्ध की प्रारम्भिक अवस्था का प्रारम्भ आस्रव से होता है। आत्मख्याति में स्पष्ट कहा गया है कि राग, द्वेष, मोह ही आस्रव हैं ।[1] आस्रव का विलोम संवर एवं निर्जरा है जो बन्ध का उच्छेद करता है। संवर तथा निर्जरा का कारण भेदज्ञान कहा गया है। भेदज्ञान से युक्त आत्मा सदैव अपने स्वभाविक स्थिति में ही अपने को रखता है। इस प्रकार अपने स्वभाव में स्थित रहना- आत्मा की मोक्षावस्था है। संक्षेपतः आत्मा तथा कर्म के सन्धि का टूटना मोक्ष है । आत्मा गुणात्मक दृष्टि से अद्वैत है। बन्धनग्रस्त आत्मा इस स्वभाव से रहित होकर अपने को परद्रव्यों में अज्ञान के कारण विस्थापित करता है। आत्मा जब तक अपने स्वरूप को दृष्टि में रखकर लक्ष्य प्राप्ति की ओर प्रयत्नशील नहीं होता तब तक मुक्ति को प्राप्त नहीं होता तथा भेदज्ञान के अभाव के कारण बन्धनग्रस्त ही रहता है । अज्ञान ही कर्म प्रकृति के स्वभाव रूप का परिणमन करता है। ज्ञानी आत्मा अपने सर्वविशुद्ध ज्ञान का ही कर्ता होता है ।

समयसार की टीका आत्मख्याति में टीका के अंग स्वरूप स्याद्वाद तथा साध्य-साधक अधिकार का प्रणयन अमृतचन्द्र द्वारा हुआ है। समयसार अध्यात्म विषयक ग्रन्थ है, जिसका वर्ण्य-विषय स्पष्ट रूप से आत्मा से सम्बन्धित है। आत्मा का विवेचन यहाँ निश्चय नय तथा व्यवहार नय द्वारा प्रतिपादित किया गया है। निश्चय नय से आत्मा के स्वरूप अर्थात् उसके शुद्ध चैतन्य ज्ञायक स्वरूप का प्रतिपादन होता है तथा

1- समयसार कलश, 113.

व्यवहार नय पर-पदार्थों से सम्बन्धित आत्मा अर्थात् बन्धनग्रस्त आत्मा का विवेचन करता है। इस प्रकार आत्मा के सम्बन्ध में दो प्रकार के विवेचन प्रकाश में आते हैं। अध्येताओं के समक्ष एक-दूसरे से परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले निश्चय नय तथा व्यवहार नय द्वारा प्रतिपादित आत्म विवेचन भ्रम ही प्रस्तुत करते हैं। अमृतचन्द्र स्वामी अपने इस स्कांत अधिकार में आत्मा के सम्बन्ध में स्वद्रव्य, क्षेत्र काल तथा भाव की अपेक्षा अस्तित्व और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल तथा परभाव की अपेक्षा नास्तित्व, इसके तत्-अतत्, सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि का व्यापक विवेचन प्रस्तुत कर आत्मा की अनेकान्तात्मकता के प्रतिपादन के साथ-साथ उपर्युक्त प्रकार के अध्येताओं के भ्रम का भी निराकरण कर देते हैं। अमृतचन्द्र के उक्त विवेचन से अध्येताओं का भ्रम - निश्चय नय तथा व्यवहार नय द्वारा प्रतिपादित आत्म-विवेचन के मुख्य तथा गौण भाव का स्पष्टीकरण हो जाता है। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि निश्चय नय से प्रतिपादित आत्म विवेचन प्रधान है तथा व्यवहार नय से प्रतिपादित आत्म विवेचन गौण। पूरे आत्मख्याति के आत्म-विवेचन तथा अन्तिम अधिकार स्याद्वाद अधिकार के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा नाना प्रकार की शक्तियों एवं पर्यायों से युक्त होते हुए स्वभाव रूप चैतन्य भाव से सम्पन्न है।

इस प्रकार आत्म विवेचन विषयक ग्रन्थराज समयसार तथा इसकी टीका आत्मख्याति का मात्र जैन दर्शन वाङ्.मय में ही नहीं अपितु पूरे भारतीय दर्शन वाङ्.मय में महत्वपूर्ण स्थान है। जैन परम्परा में समयसार प्रथम ग्रन्थ है जो आत्मा के विवेचन में महत्वपूर्ण रूप से निश्चय नय तथा व्यवहार नय का प्रयोग कर आत्मा के मूल रूप का विवेचन प्रस्तुत करता है। ये दोनों प्रकार के नय बाह्य रूप से परस्पर विरोधी विचार स्थापित करने वाले लगते हैं, लेकिन समयसार तथा इसकी टीका की एक और अपनी विशेषता यह रही है कि यहाँ परस्पर विरोधी दृष्टिगत होने वाले नय यथार्थतः विरोधी नहीं अपितु व्यवहार नय निश्चय नय तक पहुँचने का मात्र सोपान ही है। व्यवहार नय से जीव को कर्मों आदि के रूप में विवेचन प्रस्तुत कर निश्चय नय से जीव के अपने स्वभाव का कर्ता बताया गया है। व्यवहार नय से जीव के सम्बन्ध में उसके वैभाविक परिणमन का उल्लेख कर जीव के स्वाभाविक रूप को

व्यक्त किया गया है। इस तरह समयसार तथा इसकी टीका आत्मख्याति आत्मा के शुद्ध रूप का विवेचन प्रस्तुत कर जैन दर्शन के साथ-साथ पूरे भारतीय दर्शन वाड्.मय में नया योगदान प्रस्तुत करती है। इस प्रकार जैन आध्यात्मिक परम्परा में समयसार तथा इसकी प्रथम टीका - आत्मख्याति, सुनिश्चित रूप से अपने योगदान के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं महनीय ग्रन्थ हैं, जो न केवल जैनियों को ही अपितु विभिन्न मतवादों से सम्बद्ध, अध्यात्म पथ पर चलने वाले पथिकों को आज भी अनुप्राणित एवं आलोकित कर रहे हैं, अतएव इस रूप में ये अनुठे ग्रन्थ, रत्न हैं।

परिशिष्ट

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

अकलंक ग्रन्थत्रयम : भट्टाकलंकदेव ; सम्पा० पं० महेन्द्र कुमार ; प्रकाशक - सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद; प्रथमावृत्ति ; वि० सं० 1996.

अथर्ववेद : सम्पादक - पं० श्री राम शर्मा आचार्य ; संस्कृति संस्थान, बरेली, 1962.

अन्तकृद्दशा : [मूल- अनुवाद- विवेचन-टिप्पण-परिशिष्ट युक्त]. प्रका० - श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, राजस्थान ई०, सन् 1981.

अन्ययोगव्यवच्छेदिका : [हिन्दी अनुवाद], जगदीश चन्द्र कृत रायचन्द्र जै०शा०, बम्बई, 1935.

अनागार धर्मामृत : पं० आशाधर ; जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, सन् 1919 ई०.

अनुत्तरौपपातिकदशा : श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, राजस्थान.

अनेकान्तवाद प्रवेश : हरिभद्रसूरि ; हेमचन्द्र, पाटन, सन् 1919 ई०.

अभिधर्मकोश : वसुबन्धु ; अनुवादक - आचार्य नरेन्द्र देव, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, 1958.

अभिधान राजेन्द्र कोश : [सात खण्ड] : श्री विजय राजेन्द्र सूरि ; प्रकाशन स्थल - रतलाम, वीर सं० 2450.

अमितगति श्रावकाचार : [हिन्दी अनुवाद सहित] : सम्पादक - पं० वंशीधर ; शोलापुर ; प्रथम संस्करण ; वि० सं० 1979.

अष्टपाहुड : [हिन्दी वचनिका सहित] : कुन्दकुन्द ; प्रका० - अनन्तकीर्ति माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई.

अष्टपाहुड : कुन्दकुन्द ; श्री वीतराग सत्-साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर, गुजरात.

अष्टशती : अकलंक ; [अष्टसहस्री के अन्तर्गत].

अष्टसहस्री : विद्यानन्द स्वामी ; सम्पादक - वंशीधर ; प्रका0, गाँधीनाथारंग जी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, सन् 1915.

आगम युग का जैन दर्शन : पं0 दलसुख मालवणिया ; सम्पादक - विजयमुनि शास्त्री, प्रकाशक - सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा; प्रथम प्रवेश ; जनवरी, 1966.

आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार : डॉ0 शुद्धात्म प्रभा, प्रकाशक पं0 टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-4, बापू नगर, जयपुर-302015, सन् 1987 ई0.

आचार्य अमृतचन्द्र व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व : डॉ0 उत्तम चन्द्र जैन ; प्रका0 - पं0 टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-4, बापूनगर, जयपुर, 1988.

आचारांगसूत्र : प्रथमश्रुतस्कन्ध [हिन्दी अनुवाद सहित] अनुवादक पं0 - मुनि श्री सौभाग्यमल जी महाराज ; सम्पा0 - पं0 बसन्ती लाल नलवाया, न्याय तीर्थ ; प्रका0 - जैन साहित्य समिति, नयापुरा, उज्जैन ; प्रथमावृत्ति ; वि0सं0, 2007.

आत्मतत्त्वविचार : श्री मद्विजयलक्ष्मणसूरिश्वर जी महाराज ; सम्पादक - श्री कीर्तिविजय गणिवर, प्रका0- बी0बी0 मेहता.

आत्मानुशासन : [हिन्दी भाषा सहित] : गुणभद्राचार्य ; प्रका0 - इन्द्रलाल शास्त्री विद्यालंकार, जयपुर, वी0नि0 सं0. 2482.

आत्मानुशासन : सम्पादक - प्रो० ए०एन० उपाध्ये, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, वि०सं० 2018.

आध्यात्म-अमृत-कलश : टीकाकार व प्रवचनकार पं० जगन्मोहन लाल सिद्धान्त शास्त्री, सम्पा० - पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ; प्रका०, श्री चन्द्रप्रभ दि० जैन मन्दिर कटनी [मध्यप्रदेश], वि०नि० 2508.

आप्तपरीक्षा : विद्यानन्द स्वामी , अनुवादक - पं० दरबारी लाल कोठिया, प्रकाशक - वीर सेवा मन्दिर, सरसावा [सहारनपुर], सन् 1949.

आप्तमीमांसा : समन्तभद्र ; सम्पादक - पं० जुगलकिशोर मुख्तार, प्रकाशक -वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट ; वाराणसी, सन् 1967.

आलाप पद्धति : प्रका० - देवसेन ; प्रका० - मा०दि०जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, 1920.

इष्टोपदेश : [संस्कृत - हिन्दी टीका सहित], समाधिशतक के पीछे, पूज्यपादाचार्य, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, प्रथम संस्करण, वि०सं०2021.

ईशावास्योपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर.

उत्तराध्ययनसूत्र : [अनुवाद सहित], सम्पादक - साध्वी चन्दना; वीरायतन प्रकाशन, जैन भवन, लोहामण्डी, आगरा, सन् 1972.

उपमितिभवप्रपंचकथा : [हिन्दी अनुवाद], सिद्धर्षि, अनु०,नाथूराम प्रेमी, श्री जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई, सन् 1911.

उपासकदशा : श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, राजस्थान, सन् 1980.

ऋग्वेद : सम्पादक पं० श्रीराम शर्मा आचार्य : संस्कृति संस्थान, बरेली. द्वितीय संस्करण, सन् 1962.

एथिकल डाक्ट्रिन्स इन जैनिज्म : डा० के०सी० सोगानी, प्रका० – लालचन्द्र-हिराचन्द दोशी, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, सन् 1966.

ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी : [पाँच भाग] : एस०एन०दासगुप्त, प्रकाशक-मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली.

ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर: म्यूरिक विण्टरनित्ज जर्मन से अंग्रेजी अनुवादक एस०केतकर तथा एच० कोहन, कलकत्ता विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1933 ई०.

कठोपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर.

कसायपाहुड : [जयधवला टीका सहित] गुणधर ; जैन संघ, मथुरा, 1944.

कसायपाहुड : [सुत्त तथा चूर्णि सहित], यतिवृषभ ; वीर शासन संघ, कलकत्ता, 1955.

कार्तिकेयानुप्रेक्षा : [संस्कृत हिन्दी टीका सहित] : स्वामी कार्तिकेय, सम्पा० ए०एन० उपाध्ये ; प्रका०-परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् रायचन्द्र आश्रम, अगास ; प्रथमावृत्ति, वि०सं०2486.

क्रिटिकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलासफी : सी०डी० शर्मा ; मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1964.

कूर्म पुराण : काशीराज [पुराणन्यास] प्रकाशन फोर्ट रामनगर वाराणसी.

केनोपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर.

कौषीतकी उपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर.

खुद्दक निकाय : नालन्दा देवनागरी पालिग्रन्थमाला.

गीताभाष्य : शंकराचार्य, गीताप्रेस, गोरखपुर, चौदहवाँ संस्करण, सं0 2041.

गोम्मटसार कर्मकाण्ड : [हिन्दी अनुवाद सहित] प्रका0 - शा0 रेवाशंकर जगजीवन चौधरी, आनरेरी व्यवस्थापक, श्री परमश्रुत प्रभावक जैन मण्डल, बम्बई, द्वितीयावृत्ति, वीरनिर्वाण सं0 2454.

गोम्मटसार जीवकाण्ड : [हिन्दी अनुवाद सहित] : नेमिचन्द्राचार्य सिद्धान्त चक्रवर्ती ; द्वितीयावृत्ति ; प्रका0 रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई ; वी0नि0सं0, 2453.

चार्वाक दर्शन समीक्षा : डॉ0 सर्वानन्द पाठक ; चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी ; प्रथम संस्करण ; सन् 1965.

छान्दोग्योपनिषद् : सम्पादक - आचार्य वि0रा0 लिमये तथा प्रा0रा0दा0 वाडेकर, प्रका0, वैदिक संशोधन मण्डल पुण्यपत्तनम्, शाके - 1880.

जैन आचार : मोहनलाल मेहता ; प्रका0 - पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी ; सन्1966.

जैन ग्रन्थ प्रशस्तिसंग्रह : [भाग 2] पं0 परमानन्द जैन शास्त्री, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, 1963, प्रथमावृत्ति.

जैन दर्शन : डॉ0 महेन्द्र कुमार जैन, प्रका0 श्री गणेश वर्णी जैन ग्रन्थमाला, नरिया, वाराणसी, तृतीय-संस्करण, सन् 1974.

जैन दर्शन : डॉ0 मोहन लाल मेहता: प्रका0 - सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, सन् 1959.

जैन दर्शन की रूप-रेखा : एस0 गोपालन ; हिन्दी अनुवाद - गुणाकर मुले, प्रका0 - वाइली ईस्टर्न लिमिटेड, नयी दिल्ली, सन् 1973.

जैन धर्म : श्री कैलाश चन्द्र शास्त्री; प्रका० – मंत्री, साहित्य विभाग, भा०दि० जैन संघ, मथुरा; चतुर्थ संस्करण, सन् 1966.

जैन धर्म : नाथूराम डोंगरीय जैन ; प्रका० – जैन धर्म प्रकाशन, कार्यालय जैन शिक्षा मन्दिर, बिजनौर, प्रथम संस्करण, दिसम्बर 1940.

जैन धर्म और वर्ण व्यवस्था : पं० फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री, भारतवर्षीय दि० जैन परिषद्, दिल्ली.

जैन धर्म का प्राचीन इतिहास : [भाग 2] ; पं० परमानन्द, प्रकाशक – रमेशचन्द्र जैन, मोटरवाले, दिल्ली, सन् 1975 ई० प्रथमावृत्ति.

जैन धर्म प्रकाश : एक जैन नागरिक, ब० धर्मचन्द्र धम्मायत माट की गली, बनारस, वीर सं० 2472.

जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन : डॉ० सागरमल जैन ; प्रका० – राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर [राजस्थान], सन् 1982.

जैन साहित्य का इतिहास : [पूर्व-पीठिका] : पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ; प्रका०- श्री गणेश प्रसाद वर्णी, जैन ग्रन्थमाला, भदैनी, वाराणसी, प्रथम संस्करण; वीरनि०सं० 2489.

जैन साहित्य का इतिहास : [भाग 1-2] ; पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री, प्रका० श्री गणेश वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, वी०नि०सं०, 2502.

जैन साहित्य का बृहद इतिहास : [भाग 1-4], डॉ० मोहन लाल व प्रो० हीरालाल कापड़िया, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान जैनाश्रम हिन्दू विश्व विद्यालय, वाराणसी 1960.

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश : [चार भाग] ; जिनेन्द्र वर्णी ; प्रका०- भारतीय ज्ञानपीठ ; प्रथम संस्करण सन् 1970-1973.

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र सभाष्य : [हिन्दी भाषानुवाद सहित] ; प्रका०- श्री परमश्रुत प्रभावक जैन मण्डल, बम्बई 2, सन् 1932.

तत्त्वार्थवार्तिक : [दो भाग में हिन्दी सार सहित] : भट्ट अकलंक देव : सम्पा० - प्रो० महेन्द्र कुमार जैन; प्रकाशक - भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, प्रथमावृत्ति, वी०नि०सं० 2499.

तत्त्वार्थवृत्ति : [हिन्दी सार सहित] श्रुत सागर ; सम्पा०- महेन्द्र कुमार जैन, प्रका० - भारतीय ज्ञानपीठ, काशी.

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम् : विद्यानन्दि ; सम्पा०- पं० मनोहर लाल ; प्रका० - गाँधी नाथा रंग जैन ग्रन्थमाला, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, वी०नि०सं०2444.

तत्त्वार्थसार : अमृतचन्द्रसूरि ; सम्पा० - पं० पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रका० - श्री गणेश प्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, डुमरबाग, अस्सी,वाराणसी, सन् 1970.

तत्त्वार्थसूत्र : उमास्वामि ; सम्पा० - पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री ; प्रका० - भारतीय दि जैन संघ ; प्रथमावृत्ति, वी०नि०सं० 2477.

तत्त्वानुशासन : [हिन्दी अनु० सहित] ; नागसेन सूरि ; वीरसेवा मन्दिर, दिल्ली, प्रथम, 1963.

तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा : डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य ; अ०भा०दि० जैन विद्वत्परिषद् ; प्रथम संस्करण, 1974.

तैत्तिरीयोपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर.

दशवैकालिक सूत्र : [हिन्दी अनु० सहित] ; श्री जैन आगम प्रकाशन समिति , जैन स्थानक ब्यावर [राज०], सन् 1985 ई०.

दीघनिकाय : [हिन्दी] ; अनुवा० राहुल सांकृत्यायन, प्रका० - महाबोधिसभा, सारनाथ, सन् 1936.

द्रव्यसंग्रह : नेमिचन्द्र, प्रका० - श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, वी०नि०सं०, 2433.

धम्मपद : अनुवादक - राहुल सांकृत्यायन; प्रका०-महाबोधि सभा, सारनाथ, 1935.

धर्मशर्माभ्युदय : हरिश्चन्द्र ; सम्पादक - पं० पन्नालाल साहित्याचार्य ; भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण अमरावती ; 1939-59.

न्यायकुमुदचन्द्र : [दो भाग में] ; प्रभाचन्द्र ; सम्पादक- महेन्द्र कुमार न्यायशास्त्री ; प्रकाशक - मंत्री, श्री नाथूराम प्रेमी, माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, हीरा बाग, गिरगाँव, बम्बई, वी०नि०सं० 2464.

न्याय दर्शन : [वात्स्यायन भाष्य सहित], सम्पा० - श्रीनारायण मिश्र, प्रका० - चौखम्भा सं० सीरीज, वाराणसी, द्वितीय सं० 1970.

न्याय विनिश्चय : अकलंक ; सम्पा0 -पं0 महेन्द्र कुमार जैन, प्रका0 - भारतीय ज्ञानपीठ काशी ; प्रथम संस्करण 1954.

न्याय सूत्र : गौतम ऋषि ; सम्पा0 -पं0 श्री राम शर्मा आचार्य; संस्कृति संस्थान बरेली ; प्रथम संस्करण ; 1964.

न्यायावतार वार्तिक वृत्ति : शान्तसूरि, सम्पा0 -पं0 दल सुख मालवणिया ; प्रका0 -सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ भारतीय विद्या भवन, बम्बई ; प्रथमावृत्ति, सन् 1949.

न्यायावतार : सिद्धसेन ; अनुवादक पं0 विजयमूर्ति, श्री परम श्रुत प्रभावक मण्डल, जौहरी बाजार, बम्बई 1950.

नयचक्र : माइल्ल धवल ; सम्पा0 और हिन्दी टीका-व्याख्याकार - पं0 कैलाशचन्द्र शास्त्री; प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, सन् 1971.

नियमसार : कुन्दकुन्द ; प्रका0 -जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीरा बाग, बम्बई 1916.

पंचदशी : §हिन्दी अनुवाद सहित§ ; विद्यारण्य मुनि प्रकाशक - रतनएण्डकं0 बुक सेलर्स, दरीबा कलाँ, दिल्ली.

पंचाध्यायी : §पूर्वार्ध-उत्तरार्ध§ ; पं0 राजमल्ल ; सम्पा0- पं0 फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री ; वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी.

पंचास्तिकाय : §तत्वदीपिका तात्पर्यवृत्ति बालावबोध भाषासहित§; कुन्दकुन्द ; प्रका0- राय जी भाई-

छगनभाई देसाई, आनरेरी व्यवस्थापक, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद्राजचन्द्र जैन शास्त्र माला, श्रीमद्राज चन्द्र आश्रम, अगास, तृतीय वृत्ति, वि०सं०, 2025.

पंचास्तिकाय संग्रह : कुन्दकुन्द [समयव्याख्या टीका सहित]. टीकाकार – अमृतचन्द्र ; श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ –364 250, सौराष्ट्र.

पंतजली योग दर्शन भाष्य : महर्षि व्यासदेव ; प्रका० – श्री लक्ष्मीनिवास चंडक, अजमेर ; द्वितीय संस्करण, 1961.

पद्मनन्दि पंचविंशतिका : पद्मनन्दि ; प्रका० – जीवराज ग्रन्थमाला ; प्रथम संस्करण, सन् 1932.

परमात्मप्रकाश : [संस्कृतवृत्ति एवं हिन्दी भाषा टीका सहित]; योगीन्द्र देव ; सम्पा० – ए०एन० उपाध्ये ; प्रका० – परमश्रुत प्रभावक मण्डल, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, जौहरी बाजार, बम्बई – 2, द्वितीय संस्करण, वि०सं० 2017.

परीक्षामुख : माणिक्यनन्दि ; सम्पा० – मोहन लाल शास्त्री, जबलपुर.

पार्श्वपुराण : कविवर भूधर दास जी ; वीर पुस्तक भण्डार, मनिहारों का रास्ता, जयपुर, राजस्थान.

पुरातन जैन वाक्य सूची [की प्रस्तावना] : लेखक – पं० जुगल किशोर मुख्तार "युगवीर" वीर सेवा मन्दिर सरसावा [सहारनपुर]. 1950 प्रथमावृत्ति.

पूर्णार्घ्य : [जैन ज्ञान कोष] : ब्र० पंडिता सुमति बाई शहा, भगवान महावीर निर्वाणोत्सव समिति, सोलापुर, 1978 ई०, प्रथमावृत्ति.

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय : [हिन्दी अनुवाद सहित] अमृतचन्द्र सूरि ; प्रका० - भा०जै०सि०प्र०सं०, कलकत्ता ; वी० सं० 2452.

प्रकरणपंचाशिका : प्रभाकर , वाराणसी, सन् 1904 ई०.

प्रकरणपंचिका : शालिकनाथ, प्रका०-चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी.

प्रमाणनय तत्त्वालोक : वादिदेव सूरि ; अनु० - पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल ; प्रका० -आत्म जागृति कार्यालय, श्री जैन गुरुकुल शिक्षण संघ, ब्यावर 1942 [प्र०सं०].

प्रमाणमीमांसा : हेमचन्द्र ; प्रका० - स्थानक वासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी [अहमदनगर].

प्रमाणवार्तिक : बौद्ध भारती, वाराणसी 1968.

प्रमेय कमल मार्तण्ड : प्रभाचन्द्र ; सम्पा० - पं० महेन्द्र कुमार शास्त्री, प्रकाशक - निर्णय सागर प्रेस, द्वितीय संस्करण, सन् 1941.

प्रवचनसार : कुन्दकुन्द ; अमृतचन्द्रकृत "तत्त्वदीपिका" टीका सहित, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ, सन् 1964, द्वितीयावृत्ति.

प्रवचनसार : कुन्दकुन्द ; प्रस्तावना - ए०एन० उपाध्ये.

प्रश्नव्याकरण : हेमचन्द्र ; सन्मति ज्ञानपीठ, लोहमंडी, आगरा, 1973.

प्रश्नोपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर.

बारस-अणुवेक्खा : [द्वादशानुप्रेक्षा]; कुन्दकुन्द ; कान्ता बेन छोटेलाल बोरा, मोटा आंकड़िया, सौराष्ट्र.

ब्रह्मसूत्र : [तीन खण्ड], वाराणसी 1993 वि०.

ब्रह्मसूत्र, अणुभाष्य : वल्लभाचार्य : गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल प्रेस, बम्बई, प्रथम संस्करण, 1921.

ब्रह्मसूत्र, श्रीभाष्य : रामानुज : हिन्दी अनुवादक - ललित कृष्ण गोस्वामी, निम्बार्क पीठ-12, महाजनी टोला, प्रयाग, प्रथम संस्करण 2030 वि०.

ब्रह्मसूत्र, श्री शांकर भाष्य : श्री शंकराचार्य, प्रका- चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम सं० 1964 ई०.

बृहद् जिनवाणी संग्रह : सम्पा० एवं प्रकाशक - पं० पन्नालाल बाकलीवाल, प्रका० - नेमिचन्द्र बाकलीवाल, किशनगढ़, सन् 1978 ई०.

बृहदारण्यकोपनिषद : गीता प्रेस, गोरखपुर.

भगवती सूत्र : हिन्दी विषयानुवाद ; मदन कुमार मेहता, कलकत्ता, वि०वि०सं० 2011.

भगवान ऋषभदेव : पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारत वर्षीय दिगम्बर जैन संघ, दिल्ली.

भारतीय दर्शन : उमेश मिश्र, प्रका० - हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ : द्वितीय संस्करण, 1964 ई०.

भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण : संगमलाल पाण्डेय, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, सन् 1981.

भारतीय दर्शन की रूप-रेखा : एम० हिरियन्ना ; अनु० डॉ० गोवर्धन भट्ट, श्री मति मंजु गुप्त, श्री सुखवीर चौधरी ; प्रका०- राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, 8 नेता जी सुभाष मार्ग, दिल्ली, द्वितीयावृत्ति; सन् 1973 ई०.

भारतीय दर्शन की रूप-रेखा : प्रो० हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा ; प्रका० - श्री सुन्दरलाल मोतीलाल बनारसीदास, अशोक राजपथ, पटना-4, तृतीय संस्करण, सन् 1974.

भारतीय दर्शन : डॉ० नन्दकिशोर देवराज, प्रका०- हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, सन् 1941 ई०.

भारतीय दर्शन : [भाग 1 - 2] डॉ० राधाकृष्णन्, अनु० - स्व० नन्दकिशोर गोभिल, विद्यालंकार ; प्रका०- राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली ; तृतीय संस्करण, सन् 1973.

भारतीयदर्शन : वाचस्पति गैरोला ; प्रका० - लोक भारती प्रकाशन ; द्वितीय संस्करण, सन् 1966 ई० .

भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान : डॉ० हीरालाल जैन, प्रका० - म०प्र०शासन साहित्य परिषद्, भोपाल, प्रथमावृत्ति 1962.

भाव पाहुड़ : कुन्दकुन्द ; प्रका० - माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्रथम संस्करण, वि०सं० 1970.

मज्झिम निकाय : नालन्दा देवनागरी ग्रन्थमाला.

मनुस्मृति : कुल्लूक भट्ट, सम्पा० - गोपाल शास्त्री नेने ; प्रका० - चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, सन् 1970 ई०.

महापुराण : सम्पादक - भिक्खु जगदीश काश्यपो ; बिहार राजकीयेन पालिपकासन मण्डलेन पकासिता, सन् 1957 ई०.

महाभारत : सम्पा० रामचन्द्र शास्त्री, चित्रशाला प्रेस, पूना.

माण्डूक्योपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर.

माध्यमिकशास्त्र : नागार्जुन, डॉ० पी०एल० वैद्य द्वारा सम्पादित, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, सन् 1960 ई०.

मिलिन्दपन्हो : नागसेन ; मोतीलाल बनारसी दास.

मीमांसा दर्शन : (शाबर भाष्य) ; शाबर स्वामी, ह0कु0 चौक, काशी.

मुण्डकोपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर.

मूलाचार : (हिन्दी अनुवाद सहित) वट्टकेर ; अनुवाद-मनोहरलाल, प्रकाशक - अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, बम्बई, प्रथम संस्करण, सन् 1919 ई0.

मैत्राण्युपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर.

मोक्षमार्गप्रकाश : पं0 टोडरमल ; सम्पा0 -पं0 लाल बहादुर-शास्त्री; प्रका0 - मन्त्री साहित्य विभाग, भा0दि0जैन संघ, चौरासी, मथुरा, सन् 1948ई0.

यजुर्वेदसंहिता : सम्पा0 - श्रीराम शर्मा आचार्य : संस्कृत संस्थान, बरेली, 1962.

युक्त्यनुशासन : समन्तभद्र : अनु0 - जुगलकिशोर मुख्तार, वीर-सेवा मन्दिर सरसावा, सहारनपुर, सन्1951ई0.

योग दर्शन : महर्षि पतंजलि, सम्पा0 - श्रीराम शर्मा आचार्य, प्रकाशक - संस्कृति संस्थान, बरेली ; तृतीय संस्करण, सन् 1969 ई0.

योगसार : (हिन्दी अनुवाद सहित) : अमितगति ;,प्रका0 भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता ; प्रथम संस्करण ; वी0नि0सं02444.

रत्नकरण्ड श्रावकाचार : (प्रभाचन्द्राचार्य रचित संस्कृत टीका तथा हिन्दी टीका सहित) समन्तभद्र : प्रकाशक-वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, प्रथम संस्करण,सन् 1972.

रत्नाकरावतारिका : वादिदेव सूरि, प्रका0 - यशोविजय जैन ग्रन्थ-माला, वाराणसी, वीर सं0 2427 .

लघुतत्त्वस्फोट	: अमृतचन्द्र ; प्रका० - श्रीगणेश वर्णी दिगम्बर जैन शोध संस्थान, नरिया, वाराणसी, सन् 1981 ई०.
वसुनन्दि श्रावकाचार	: वसुनन्दि, सम्पा० - हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री, प्रका० - भारतीय ज्ञानपीठ, काशी प्रथम संस्करण,
वाल्मीकीयरामायण	: गीताप्रेस, गोरखपुर.
विश्व धर्म दर्शन	: श्री सावलिया बिहारी लाल वर्मा ; प्रका०- बिहार राष्ट्र परिषद्, पटना ; द्वितीय संस्करण, सन् 1975 ई०.
वराङ्गचरित्र	: जटासिंहनन्दि, डॉ० उपाध्ये द्वारा सम्पादित भा०दि०जै०ग्र०, बम्बई, 1978.
विशुद्धिमग्ग	: बुद्ध घोष ; सम्पादक भदन्त रेवतधर्म ; प्रका० - भारतीय विद्या प्रकाशन, काशी.
विशुद्धि मार्ग	: धर्मरक्षित ; प्रका० - महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी.
विशेषावश्यक भाष्य	: जिनभद्रगणि क्षमण ; सम्पा० - राजेन्द्र विजय जी महाराज ; प्रका० - दिव्य दर्शन कार्यालय, अहमदाबाद, सन् 1962 ई०.
वेदान्तसार	: सदानन्द ; प्रका० - साहित्य भण्डार, सुभाष-बाजार, मेरठ -2, चतुर्थ संस्करण, 1979-80.
वैदिक धर्म दर्शन	: ए०बी० कीथ ; मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, प्रथमावृत्ति, सन् 1965 ई०.
श्लोकवार्तिक	: भट्ट कुमारिल , चि०सं०सि० 1924.
शतकत्रयम	: भर्तृहरि, प्रका० - पं० त्रिभुवननाथ भार्गव, भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, वाराणसी-1 .
शास्त्रवार्तासमुच्चय	: हरिभद्रसूरि, प्रका० - लालभाई दलपत भाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद, प्रथमावृत्ति, सन् 1969 ई०.

शिवपुराण : खेमराज श्रीकृष्ण दास अध्यक्ष "श्री वेंकटेश्वर" मुद्रणालय, बम्बई.

श्रीपुरपार्श्वनाथ स्तोत्र : माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला.

श्रीमद्भागवत् गीता : गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत् 2018.

श्रीमद्भागवत महापुराण : गीताप्रेस, गोरखपुर.

श्री हरिवंश पुराण : गीताप्रेस, गोरखपुर.

षट्खण्डागम् : [धवला टीका एवं हिन्दी अनुवाद सहित] : भूतबलि पुष्पदन्त ; प्रका० - जैन साहित्योद्धारक फण्ड कार्यालय, अमरावती, प्रथमावृत्ति, सन् 1939-59.

षट्प्राभृत कुन्दकुन्द : [श्रुतसागरीय टीका सहित] ; माणिकचन्द्र दि०जैन ग्रन्थमाला समिति, हीराबाग, बम्बई-4.

षड्दर्शन समुच्चय : [गुणरत्न सूरि कृत तर्क रहस्य दीपिका, सोमदेवसूरि कृत लघुवृत्ति तथा अवचूर्णि सहित] आचार्य हरिभद्र सूरि ; सम्पादक और अनुवादक -डॉ० महेन्द्र कुमार जैन न्यायाचार्य ; प्रका०- भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी ; प्रथमावृत्ति, सन् 1970 ई०.

स्याद्वाद मंजरी : मल्लिषेण सूरि ; हिन्दी अनुवादक तथा सम्पादक- डॉ० जगदीश चन्द्र जैन ; प्रका० राव जी भाई छगन भाई देसाई, परमश्रुत प्रभावक मण्डल [श्रीमद्राजचन्द्र जैन ग्रन्थमाला] ; तृतीय संस्करण, सन् 1970.

स्याद्वाद सिद्धान्त : एक अनुशीलन: आचार्य श्री आनन्द ऋषि, श्री रत्न जैन पुस्तकालय , अहमदनगर [महा०] मई 1978.

स्थानाङ्ग सूत्र : प्रका0 - आगमोदय समिति, सूरत.

सत्यशासन परीक्षा : सम्पा0 - श्री गोकुल चन्द जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी.

सन्मति तर्क प्रकरणम् टीका : अभयदेवसूरि ; सम्पा0 पं0 सुखलाल संघवी एवं बेचर दास दोशी ; प्रका0- विट्ठलदास मगनलाल कोठारी गुजरात विद्यापीठ कार्यालय, अहमदाबाद, प्रथमावृत्ति, वि0सं0 1980.

समयसार : [अंग्रेजी अनुवाद और प्रस्तावना सहित] : प्रो0 ए0 चक्रवर्ती ; प्रका0 - भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथमावृत्ति, सन् 1950 ई0.

समयसार : कुन्दकुन्द [अमृतचन्द्राचार्य विरचित कलश सहित] प्रका0 - श्री गणेश वर्णी दि0 जैन शोध संस्थान, वाराणसी, द्वितीय संस्करण वि0सं0 2031, वी0नि0सं0 2501.

समयसार : कुन्दकुन्द सं0 टीका - जयसेनाचार्य, हिन्दी टीका श्री ज्ञान सागर जी दिगम्बर जैन समाज, अजमेर, सन् 1969.

समयसार : [तात्पर्यवृत्ति - आत्मख्याति भाषा वचनिका टीका सहित] कुन्दकुन्दाचार्य ; सम्पा0 - पं0 पन्नालाल जैन ; प्रका0 - राव जी भाई छगनभाई देसाई, परमश्रुत प्रभावक मण्डल [श्रीमद्राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला] बोरिया [गुजरात], द्वितीयावृत्ति, सन् 1974 ई0.

समयसार नाटक : बनारसीदास, टीकाकार- बुद्धिलाल श्रावक, श्री दि0जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ [सौराष्ट्र].

समयसार सप्तदशांगी टीका : सहजानन्द मनोहर जी वर्णी, प्रका०- सुमेरचन्द्र जैन, प्रधान मंत्री भा० वर्णी जैन साहित्यमन्दिर 15, प्रेमपुरी मुजफ्फरनगर सन् 1977 ई०.

समाधि शतक : पूज्यपादाचार्य ; प्रका० - वीर सेवा मन्दिर दिल्ली, प्रथम संस्करण, वि० 2021.

सर्वदर्शन संग्रह : (हिन्दी टीका सहित) ; माधवाचार्य; प्रका० -चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी.

सर्वसारोपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर.

सर्वार्थसिद्धि : पूज्यपादाचार्य ; सम्पादक एवं अनुवादक - पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री ; भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथमावृत्ति, सन् 1955 ई०.

सांख्यकारिका : ईश्वरकृष्ण ; (माठरवृत्ति एवं जयमंगला सहित) चौखम्भा सीरीज, वाराणसी, 1970.

सांख्यकारिका : (गौडपाद भाष्य) ; ईश्वर कृष्ण, ह०कृ०पी०, काशी, वि०सं० 1979.

सांख्य तत्त्व कौमुदी : वाचस्पति मिश्र, प्रका० प्रेम प्रकाशन , अहमदाबाद, चतुर्थ संस्करण, सन् 1969 ई०.

सिद्धिविनिश्चय टीका : प्रका०- भारतीय ज्ञानपीठ, काशी ; प्रथम संस्करण, सन् 1951 ई०.

सुत्तनिपात : सम्पा- पी०व्ही०बापट, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन, 1924 ई०. भिक्षु धर्मरत्न, सारनाथ, सन् 1961.

सूत्रकृताङ्ग सूत्र : (शीलांक टीका एवं हिन्दी अनुवाद सहित) प्रका० - जवाहिरलाल महाराज, राजकोट, प्रथम संस्करण, वि०सं० 1993.

संयुक्त निकाय : प्रका० - महाबोधि सभा, सारनाथ, प्रथमावृत्ति, सन् 1955.

सांख्यसूत्रम् : कपिलमुनि ; सम्पा० - श्रीराम शंकरभट्टाचार्य, भारतीय विद्याप्रकाशन, वाराणसी, वि०सं० 2022.

ज्ञानार्णव : (हिन्दी अनुवाद सहित) : शुभचन्द्र : प्रका० - श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, जवेरी बाजार, बम्बई, वी०नि०सं० 2433.

ज्ञाताधर्मकथा : हिन्दी अनुवादक, आमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी०सं० 2446.

पत्र-पत्रिकाएँ

-**अनेकान्त** (त्रैमासिक) : प्रकाशक वीर सेवा मन्दिर, 21 दरियागंज, नई दिल्ली-2.

-**जैन सिद्धान्त भास्कर** : प्रकाशक - श्री देव कुमार जैन, ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, आरा (बिहार).

-**दार्शनिक त्रैमासिका** : प्रकाशन - अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, जयपुर.

-**श्रमण** (मासिक) : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-5.

-**प्रज्ञा** : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी.

-**सन्मति संदेश** (मासिक) : प्रकाशन - 535, गांधी नगर, दिल्ली.

--000--